||ॐ नमः श्रीरामचन्द्राय||

श्रीरामगीता

श्रीमहर्षिवशिष्ठकृततत्त्वसारायणान्तर्गता

(मूल, भाषानुवाद एवं वैज्ञानिक टिप्पणियों सहित)



प्रकाशक-

श्रीभारतधर्ममहामण्डल

शास्त्रप्रकाशविभाग

लहुराबीर, वाराणसी



सन् 1993 ईस्वी

मूल्य 30/-

ॐ नमः श्रीरामचन्द्राय ।

श्रीरामगीता ।

श्रीमहर्षिवशिष्ठकृततत्त्वसारायणान्तर्गता ।

(मूल, भाषानुवाद एवं वैज्ञानिक टिप्पणियों सहित)

प्रकाशक —

श्रीभारतधर्ममहामण्डल

शास्त्रप्रकाशविभाग

लहुराबीर

काशी

सन् १९९२ ईस्वी

हनुमान मुद्रण यन्त्र,
पियरी कलाँ बाराणसी

रां रामायनमः

शुभाशंसनम्

भारतधर्म सुधाकर, हिजहाईनेस महारावल साहब श्रीमान् सर विजयबहादुर के०सी०आई०ई० डूँगरपुर नरेश, तत्कालीन राजपूताना के राजन्य वर्ग के वरिष्ठ विभूषण, मूधर्न्य महापुरुष तथा राजनीति-वेत्ता होते हुए भी सरस्वती के कृपापात्र प्रज्ञा पुरुष थे। महर्षि वशिष्ठ विरचित 'तत्त्व सारायण' नामक भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के प्रतिपादक, वेदवेदान्त सिद्धान्त समर्थक, ज्ञान, कर्म और उपासना की रहस्यवादिता के उद्घाटक महाग्रन्थ के अन्तर्गत 'रामगीता' नामक इस ग्रन्थ का प्रणयन महर्षि वशिष्ठ ने किया था। श्री राम के रामत्व को भी अभिरामता प्रदान करने वाली यह रचना सचमुच अत्यन्त अद्भुत सारस्वत रचना है। स्वयं श्री गुरुमूर्ति ने इसे 'अत्यद्भुता' रचना स्वीकार किया है–

देवीं श्रीरामगीतां तां ब्रह्मन् 'अत्यद्भुताम्' अहम् ।

अत्युत्सुकोस्मि ते वक्तुं साधानमनाः शृणु ।।१।१

यही नहीं। इस 'रामगीता' नामक महाशास्त्र को समस्त वेदान्त दर्शन के गूढ और गुह्यतम रहस्यों के विशदीकरण में भी सक्षम माना गया है :–

सर्ववेदान्तगूढार्थ विशदीकरणक्षमे ।

अस्मिन् गीतामहाशास्त्रे चिन्तनं तूत्तमोत्तमम् ।।

श्रीरामगीतामृत से तृप्त वायुनन्दन श्रीराम के अनन्य सेवक महवीर हनुमान् ने श्रीरामगीता के विषय में अपने हृदय के उद्गार को इस तरह व्यक्त किया था–

गीताः श्रुता वाह्य इतः पुरस्तात्,
श्रीराम ! तत्त्वप्रतिपादयित्र्यः ।
अस्यास्तु सर्वा अपि कोटिकोटि-
भागेन तुल्या इह नेति मन्ये ।।१८।२०

अर्थात् मेरे आराध्य श्रीवर! मैने इससे पहले तत्त्व प्रतिपादन करने वाली बहुत सारी गीताओं का स्वाध्याय किया है। परन्तु भगवन् ! इस रामगीता के स्वाध्याय के उपरान्त यह अनुभूति मुझे हुई है कि, इस गीता के समक्ष वे सभी

महत्त्वहीन हैं। इसके करोड़वें अंश के भी तुल्य नहीं हैं। ऐसी महत्त्वपूर्ण, दिव्यातिदिव्यतम, वेदान्त सिद्धान्तों की प्रतिपादक अमृत-निर्मिति रूपा श्रीरामगीता की व्याख्या में प्रवृत्ति ही यह सिद्ध करती है कि, इस ग्रन्थ के व्याख्याकार भाषानुवाद और वैज्ञानिक टिप्पणियों के साथ रहस्य का साक्षात्कार करा देने में समर्थ कोई अप्रतिम मेधा महनीय प्रज्ञापुरुष ही हो सकता है। यही प्राज्ञ पुरुष थे– भारत धर्मसुधाकर, हिज हाईनेस, महारावल साहब श्रीमान् के०सी०आई०ई० सर विजय सिंह जी बहादुर डूँगरपुर नरेश !

आँग्ल भाषा के प्रखर प्रवक्ता, संस्कृत भाषा के मर्मज्ञ विद्वान् और राष्ट्रभाषा के प्रबल समर्थक, दिव्यतिदिव्य प्रतिभा की आभा से भासमान, प्रजापालक राजन्य शिरोमणि महाराज को श्री भारतधर्ममहामण्डल ने 'राजर्षि' की ऋषित्व-भूषित पदवी से विभूषित कर भारतीय इतिहास को पावन स्तर पर पहुँचाने का ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया था।

ग्रन्थ की भूमिका में प्रतिपादित विषयों से भारतीय संस्कृति की पुरातन पुनीत मान्यताओं के सम्बन्ध एक राजपुरुष कितना अन्तःप्रविष्ट विज्ञानवेत्ता है, यह सिद्ध हो जाता है।

आज प्रजातन्त्र का युग है। राजतन्त्र नहीं है। आज का युग प्रजातन्त्र की उच्छृङ्खलताओं से ऊब रहा है। राजतन्त्र की अनुशासन प्रियता और प्रजा के प्रति वात्सल्यपूर्ण राजशासन की स्मृति से आह्लादित हो रहा है। ऐसे ही प्रजावात्सल्यवत्सल महापुरुष की तीसरी वंशपरम्परा (पीढ़ी) अभी डूँगरपुर (राजस्थान) में विद्यमान है और श्री जगतधात्री माता ट्रस्ट का संचालन कर रही है। उनमें श्री श्रीसमर सिंह जी से सम्पर्क होने पर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई ये अपने वंश के विभूषण, क्षेत्रीय प्रजा के प्राण, प्रतिनिधि पुरुष है। मैं उनके पूरे परिवार के उत्तरोत्तर उत्कर्ष का अभिलाषी हूँ। भगवान् श्रीराम ही इनके वंश के अधिष्ठाता अवतार हैं। उनकी कृपा से भारत की आभा का ये निरन्तर प्रसार करें, इसी शुभकामना के साथ –

मकर संक्रान्ति
२०६२

आचार्य परमहंस मिश्र
चीफ सेक्रेटरी
श्री भारतधर्म महामंडल
वाराणसी।

श्रीरामचन्द्राय नमः ।

श्रीरामगीता विषयक

विज्ञापन

स्वर्गीय भारतधर्मसुधाकर हिज हाईनेस महारावल साहब श्रीमान् सर विजयसिंह बहादुर के० सी० आई० ई० डूँगरपुर नरेश महोदय की कीर्ति को कौन नहीं जानता ? उनके स्वधर्माभिमान, स्वदेशानुराग, सदाचारप्रेम, विविधभाषानैपुण्य, निरभिमानजीवनक्रम, राज्यकार्यपटुत्व, सद्विद्याऽभ्यासङ्ग, सत्साहित्याभिरुचि, गुरुभक्ति, निरलसता, सच्चरित्रता, उदारता, गुणग्राहकता, दानप्रियता आदि सद्गुण असाधारण थे। ऐसे आदर्श नृपति इस कराल कलिकाल में विरले ही देख पड़ते हैं। यह देश का दुर्दैवमात्र है कि श्रीमान् महारावल बहादुर अल्पायु हुए ; परन्तु उन्होंने अपने लघु जीवन में ही जो अनेक महत्त्वपूर्ण चिरस्मरणीय कार्य किये हैं उनको देख कर महर्षियों की इस उक्ति का स्मरण होता है:—

मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयः न च धूमायितं शतम् ।

अग्नि का क्षणमात्र जलना अच्छा, सैकड़ों वर्षों तक धुँधवाना अच्छा नहीं।

स्वर्गीय श्रीमान् महारावल बहादुर की कीर्ति को उज्ज्वल करनेवाले उनके अनेक स्थायी कार्यों में साहित्यिक दृष्टि से अन्तिम दो कार्य विशेष उल्लेख योग्य हैं। एक यह रामगीता और दूसरा कहावतरत्नाकर। यह रामगीता नामक ग्रन्थ श्रीरामभक्तों के करकमलों में पहुँच रहा है और कहावतरत्नाकर शीघ्र ही पहुँचेगा । दुःख की बात है कि दोनों प्रकाशित ग्रन्थों को देखने के लिये श्रीमान् महारावल बहादुर अब इस लोक में नहीं हैं।

संस्कृत भाषा में 'तत्त्वसारायण' नामक एक महर्षिवशिष्ठप्रणीत विराट् ग्रन्थ है। यह रामगीता उसी के अन्तर्गत है । स्वर्गीय महारावल बहादुर को यह रामगीता बड़ी ही रुचिकर प्रतीत हुई । श्रीगुरुदेव की आज्ञा और

कृपा से उन्होंने बड़े परिश्रम और विचार से इसका हिन्दी में सम्पूर्ण भाषान्तर किया तथा उसको सुधारने के लिये श्रीगुरुदेव की सेवा में भेज दिया। भक्तवत्सल श्रीगुरुदेव ने चिन्तापूर्वक भाषान्तर सुधारा और स्थान स्थान पर मौलिक वैज्ञानिक टिप्पणियाँ लिख दीं। स्वर्गीय श्रीमान् महारावल बहादुर ने देशी चित्रकार से ७ सुन्दर चित्र प्रसङ्गानुकूल बनवाये, वे भी इस ग्रन्थ में प्रकाशित हुए हैं।

एक महर्षिकृत ग्रन्थ, एक राजर्षि द्वारा आदृत और अनूदित होकर पुनः एक महर्षि द्वारा संशोधित और परिवर्धित हुआ है; फिर इसके सर्वाङ्गसुन्दर होने में सन्देह ही क्या है? इसके प्रत्येक अध्याय में चमत्कार है और सम्पूर्ण गीता में प्रायः सभी विचारणीय विषयों का समावेश हुआ है। इसके पाठ से पाठकों को कर्म, उपासना और ज्ञान का यथार्थ परिचय होता है और साधक तन्मय हो जाता है।

स्वर्गीय श्रीमान् महारावल बहादुर ने जिस प्रकार ग्रन्थ का सम्पादन किया, उसी प्रकार उन्हीं की सदिच्छा और व्यय से श्रीभारतधर्ममहामण्डल शास्त्रप्रकाशविभाग द्वारा यह प्रकाशित हुआ है। आशा है, ज्ञानपिपासुगण इसका समुचित आदर करेंगे और स्वर्गीय श्रीमान् महारावल बहादुर का यह एक उत्तम साहित्यिक स्मारक हुआ समझेंगे।

विनीत निवेदक
गोविन्द शास्त्री दुगवेकर
तत्कालीन अध्यक्ष
श्रीभारतधर्ममहामण्डल शास्त्रप्रकाशविभाग

श्रीमहामण्डल
प्रधान कार्यालय
काशी।

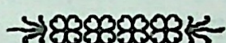


हिज हाइनेस भारतधर्मसुधाकर श्रीमहारावलजी साहब
श्री सर विजयसिंहजी बहादुर के०सी०आई०ई०
डूँगरपुर राज्याधिपति।

॥ श्रीः ॥

संक्षिप्त जीवन वृत्तान्त।

(हिज़ हाइनेस भारतधर्म्मसुधाकर श्री महारावलजी साहब श्री सर विजयसिंहजी बहादुर के. सी. आई. ई. डूँगरपुर राज्याधिपति)



डूँगरपुर का राज्य उदयपुर के नैऋत्य कोण में १४४७ वर्ग-मील तक फैला हुआ है। इसका अधिकांश विभाग अरावली की शाखाओं से आच्छादित है और सघन वन से सुशोभित हो रहा है। कई एक स्थान ऐसे रमणीय और सुरम्य हैं कि जिनको देखकर प्राचीन काल के ऋषि-आश्रमों का स्मरण हो जाता है। राज्य का चौरासी प्रान्त समथल है और यही विशेष उपजाऊ है। यों तो अनेक नदी नाले हैं; परन्तु सदाप्रवाही कोई नदी नहीं है। बड़ी नदियां मही और सोम हैं। मही कुछ दूर तक बाँसवाड़े और डूँगरपुर की सीमा बनकर बह रही है और सोम डूँगरपुर और मेवाड़ को विभाजित करती है। राज्य में अभी तक रेल नहीं गई है। नज़दीक से नज़दीक रेलवे स्टेशन राजधानी से ६० मील से भी अधिक दूरी पर है। यहाँ की अधिक आबादी यहाँ के आदिम निवासी असभ्य भीलों की है, जो कुछ-कुछ सभ्य होते चले हैं। राज्य की वार्षिक आय ५-६ लाख तक होती है।

यहाँ का राजवंश इतिहासविख्यात पवित्र-सिसोदियों की ज्येष्ठ शाखा है। नवीन छानबीन से ऐसा प्रतीत हुआ है कि संवत १२२८ (ई. स. ११७१) के लगभग सामंतसिंहजी ने

बड़ोदा नगर में इस राज्य की स्थापना की थी। उनके बाद दूदा रावल ने गलियाकोट विजय किया और वीरसिंहजी ने वर्तमान डूँगरपुर राजधानी की नींव डाली। उनके वंशजों ने आसपास के प्रान्तों को विजय कर अपने राज्य के अन्तर्गत किया। उदयसिंहजी प्रथम खणवा के प्रसिद्ध युद्ध में बाबर से लड़ते हुए काम आये और उसी समय इस राज्य के दो भाग हुए। ज्येष्ठ पुत्र पृथ्वीराज डूँगरपुर के अधिपति हुए और कनिष्ठ जगमलजी बाँसवाड़ा के अधिकारी बने। महारावल आसकरणजी रामसिंहजी और शिवसिंहजी बड़े प्रतापी हुए। मुगल साम्राज्य के पतन पर भारत में विशेषकर राजपूताना के राज्यों को मराठाओं के द्वारा बहुत हानि पहुँची। अतएव डूँगरपुर को भी इस अवसर पर अनेक प्रकार के कष्ट सहने पड़े। सन् १८१८ में अन्य राजपूत रियासतों के साथ-साथ डूँगरपुर भी बृटिश साम्राज्य की छत्रछाया में ले लिया गया। सन् १८५७ के विप्लव में महारावल उदयसिंहजी ने बृटिश सरकार की अच्छी सहायता की, जिसके उपलक्ष में गवर्नमेन्ट से २ तोपें प्राप्त हुईं। महारावल उदयसिंहजी के एकमात्र पुत्र महाराजकुमार खुमाणसिंहजी थे, जिनका प्रथम विवाह रतलाम और दूसरा सूर में हुआ था। यही महाराजकुमार खुमाणसिंहजी हमारे चरित्रनायक के पिता थे। महाराजकुमार का स्वर्गवास अपने पिता महारावल उदयसिंहजी के जीवनकाल संवत् १९५० में हुआ।

महारावल श्री सर विजयसिंहजी बहादुर का शुभ जन्म मिति आषाढ़ कृष्ण १२ संवत् १९४४ विक्रमी ता० १७ जौलाई सन् १८८७ ईस्वी को डूँगरपुर में कुँवरानीजी साहबा हिम्मत कुँवर-

जी के उदर से हुआ। जब आपकी अवस्था केवल ६ वर्ष की थी कि उनके पिता महाराजकुमार श्रीखुमाणसिंहजी का स्वर्ग-वास हुआ। इस कारण आपके लालन-पालन का भार आपके पितामह महारावल उदयसिंहजी के शिर रहा। शिशुपन से ही आपमें अलौकिक शक्ति-चिह्न अंकुरित थे। कहा भी है कि "होनहार बिरवान के होत चीकने पात"। ७ वर्ष की अवस्था में आपका विद्यारम्भसंस्कार किया गया। पितामह को आपके शिक्षण का बड़ा ही ध्यान था और इसके लिये आपने पूरा प्रबन्ध किया था। उर्दू व फ़ारसी शिक्षण के लिये मौलवी अब्दुलहक़ और अंग्रेज़ी के लिये बाबू मोहनलाल ताराचन्द शाह नियत किये गये। अध्यापक आपकी तीव्र बुद्धि और स्मरण-शक्ति को देखकर विस्मित होते थे। एक दफ़े जनाब ए. जी. जी. साहब बहादुर राजधानी में तशरीफ़ लाये। हमारे चरित्र-नायक भँवरजी की अलौकिक प्रभा को देखकर वे महारावल साहब से कहने लगे कि यह बालक "जमशेद सानी" होगा। पाठकों को विदित होगा कि जमशेद प्राचीन पेरिस में बड़ा ही प्रभावशाली सम्राट् होगया है। इसी से अनुमान हो सकता है कि उस कोमल अवस्था में भी आपकी बुद्धि कैसी विलक्षण थी।

संसार में जो महान् आत्मा हुई हैं उनको सदैव अनेक प्रकार के कष्ट सहन करने पड़े हैं। वास्तव में ये कष्ट ही आत्मा को उच्च-पद प्राप्त करने में सहायक होते हैं। हमारे स्वर्गीय नरेश ६ वर्ष की अवस्था में पितृहीन तो हो ही चुके थे; परन्तु कराल काल ने उनको संवत् १९५५ में मातृहीन भी कर दिया। कई बार जब श्रीमान् माता पिता के प्रेम का ज़िकर करते थे तो उनके नेत्र

सजल हो जाते थे। जितना कि उन्होंने मातृ तथा पैतृक प्रेम का उस छोटी अवस्था में अनुभव किया था, उसी से उनके हृदय-मन्दिर में उन स्वर्गीय आत्माओं के प्रति अगाध प्रेम उमड़ आता था; पर कुटिल काल ने इतने पर भी संतोष न किया। संवत १९५४ में केवल १० वर्ष की अवस्था में आपके पितामह महारावल उदयसिंहजी भी इस कोमल पौधे को निराधार छोड़ स्वर्गारोही हुए। ता० १३-२-१८९८ मिति माघ कृष्ण ६ संवत १९५४ को आप डूँगरपुर के सिंहासन पर विराजे। यों तो राजा महाराजाओं को भाई बन्धुओं की तथा शुभचिन्तकों की कमी नहीं रहती, पर सच्चे आत्मीय और सच्चे शुभचिन्तक गिने चुने ही होते हैं। इतने बड़े राज्य के अधीश्वर होने पर भी उस दिन आपका सच्चा आत्मीय न था। केवल एकमात्र आपकी विमाता राजश्री माजी साहबा राठौरजी ही सब कुछ थीं। आपकी बाल्यावस्था होने के कारण गवर्नमेन्ट की ओर से राजप्रबन्ध किया गया और शिक्षा-उपार्जन के लिये आपने मेयो कॉलेज में प्रवेश किया। यद्यपि यहाँ पर आपके पितामह ने आपकी शिक्षा के लिये अच्छा प्रबन्ध किया था तथापि वह ऐसे प्रभाव-शाली बालक के लिये उपयुक्त न था। मेयो कॉलेज में जाकर आपके मानसिक विकाश को स्वच्छन्द क्षेत्र मिला। मिस्टर हरवर्ट शेरिंग आपके गार्डियन शिक्षक नियत हुए और उनके सम्पर्क से आपने आँग्ल भाषा में ऐसी योग्यता प्राप्त की कि आपके लेख को पढ़कर या भाषण को सुनकर यह कठिनता से कहा जा सकता था कि यह किसी भारतीय का भारती-प्रवाह है। सरस्वती देवी ने आपकी जिह्वा को अपना मंदिर बना लिया

था। सन् १६०५ में आपने "डिप्लोमा" परीक्षा उत्तीर्ण की और डेहराडून "केडेटकोर" में आपको भेजने का प्रबन्ध किया गया। वहाँ के रंग ढंग को देखकर आपको बड़ी ग्लानि हुई और आपने वापस आने का विचार किया। अधिकारियों ने वहाँ रखने के लिये बहुत कुछ आग्रह किया। जिनके विषय में यह आशा थी कि युवा नरेश उनकी सम्मति को अवश्य ही ग्रहण करेंगे। उनके द्वारा भी समझाने का प्रयत्न किया गया; परन्तु सब निष्फल हुआ। इस अवसर पर आपने राजपूती हठ दिखला अपने भावी "कैरेक्टर" की एक छटा दिखलाई और अन्त में उच्च अधिकारियों को विवश हो अपना मनसूबा बदलना पड़ा और फिर मेयो कॉलेज में उच्च शिक्षा ग्रहण करने के लिये वापस भेजे गये। सन् १६०७ में आप मेयो कॉलेज की अति उच्च-परीक्षा "पोष्ट डिप्लोमा" पास कर विदा हुए।

इसी वर्ष यानी सन् १६०७ में शिक्षा समाप्त होने के कुछ मास पूर्व मि. माघ शु. ६ संवत् १६६३ ता. १६-१-१६०७ को श्रीमान् का पाणिग्रहणसंस्कार राजा साहब सर जसवन्तसिंहजी बहादुर के. सी. आई. ई. (K. C. I. E.) सैलाना नरेश की ज्येष्ठ राजकुमारी सौभाग्यवती श्री देवेन्द्रकुमारी के साथ बड़े समारोह के साथ हुआ। जैसे स्वर्गीय नरेश थे, ईश्वरकृपा से वैसी ही आपको सुशीला धर्मतत्परा और पतिपरायणा श्रीमती अर्धाङ्गिनी प्राप्त हुई।

मेयो कॉलेज से राजधानी में पधारने पर कैप्टन आर. सी. ट्रेंच पोलिटिकल एजेन्ट के निरीक्षणता में राज्य के भिन्नभिन्नभागों की कार्य्यप्रणाली से लगभग डेढ़साल तक व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त

किया। ता० ७ मार्च सन् १६०८ को महाराजकुमार युवराज श्री-लक्ष्मणसिंहजी बहादुर (वर्त्तमान महारावल) का शुभ जन्म हुआ। पोलिटिकल एजेन्ट साहब ने आपके अनुभव से सन्तुष्ट होकर अधिकार प्रदान की सिफ़ारिश की ; अतएव ता० २७-२-१६०६ को श्रीमान् ए. जी. जी. साहब बहादुर कर्नल पिन्हे ने राजधानी में पधार कर श्रीमान् को पूर्ण अधिकार प्राप्ति की घोषणा की। श्रीमान् ने उस अवसर पर जो भाषण किया था अथवा यों कहें कि उस समय भाषण में आपने अपने जिन सिद्धान्तों का दिग्दर्शन किया था, अपने शासनकाल में उनको पूर्णतया चरितार्थ करके दिखला दिया। उसी अवसर पर ता० २८-२-१६०६ को द्वितीय महाराजकुमार श्री वीरभद्रसिंह जी का जन्म हुआ।

शासनाधिकार मिलने पर रियासतों में बहुधा अनेक परिवर्तन हुआ करते हैं। उच्च कर्मचारी ही नहीं, किन्तु छोटे बड़े दोनों ही ऐसे अवसर पर कोई तो स्वेच्छा से, कोई अनिच्छा से अपने पद परित्याग कर चल देते हैं ; पर आपने ऐसा अवसर न आने दिया। वरन् सभी को यथाशक्ति, किसी को वेतनवृद्धि देकर, किसी को इनाम इकाम से, किसी को कोमल शब्दों से मुग्ध कर सब प्रकार से उनके हृदयमन्दिर में आपने अपना स्थान बना दिया।

सन् १६१० में भारतसम्राट् सप्तम एडवर्ड का स्वर्गवास हुआ और उनके स्मरणार्थ प्रान्त २ में स्मारक स्थापित करने की चर्चा हुई और प्रबन्ध होने लगे। राजपूताना प्रान्त की अजमेर में भी कमेटी बैठी। उसमें श्रीमान् को भी निमंत्रण

दिया गया। कमेटी में अनेक प्रस्ताव उपस्थित हुए; परन्तु श्रीमान् का प्रस्ताव था कि "सम्राट् के स्मरणार्थ यात्रियों के सुभीते के लिये एक धर्म्मशाला सर्वोत्तम स्मारक होगा" और वह सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ जिस में श्रीमान् ने १५०५६।) रुपये प्रदान किये। डूँगरपुर राजधानी में भी सम्राट् के स्मरणार्थ "एडवर्ड सागर" बनाना निश्चित हुआ, जिससे राजधानी में जल का सुभीता और कृषि की उन्नति हो।

सन् १९११ में कम वृष्टि होने से एक छोटा सा अकाल पड़ गया और देहली दरबार की योजना भी हुई। अकाल का ऐसा अच्छा प्रबन्ध किया गया कि जिससे प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट सहना न पड़ा। देहली दरबार में श्रीमान् सदल बल पधार कर सम्मिलित हुए।

सन् १९१२ में सम्राट् के वार्षिक जन्म-गाँठ उत्सव पर गवर्नमेन्ट ने श्रीमान् को के. सी. आई. ई. पदवी से भूषित किया। शासनाधिकार के तीन चार वर्षों के अन्तर्गत लगभग सभी राज्य-विभागों का संशोधन किया। अब तक शिक्षा-विभाग में राजधानी के ए. बी. स्कूल में छात्रों से शुल्क (Fees) लिया जाता था। सन् १९१० में श्रीमान् ने अपने वार्षिक जन्म-गाँठ उत्सव पर शिक्षा निःशुल्क कर दी। इतना ही नहीं किन्तु राज्य में दीन विद्यार्थियों के लिये राज्य से पठनपाठन की सामग्री विना मूल्य देने का प्रबन्ध कर दिया। कन्याओं के पठन पाठनार्थ श्रीमती महारानीजी साहबा के शुभ नाम से "श्री देवेन्द्र कन्या पाठशाला" स्थापित हुई। श्रीमान् के शुभ नाम पर "श्रीविजय-बाल पुस्तकालय" और श्री संस्कृत विजय पाठशाला स्थापित हुई।

शासन कस्टम पोलिस आदि सभी विभागों में कुछ न कुछ सुधार किया गया जिससे प्रजा को सुभीता हुआ। और राज्य की आय भी वृद्धि को प्राप्त हुई। पहिले म्युनिसिपालटी बोर्ड का प्रेसीडेन्ट रियासत का दीवान नियुक्त किया जाता था; परन्तु एतद्देशीय लोगों को इस संस्था का भार सौंपकर अपना कर्त्तव्य सिखलाने के हेतु इस संस्था के लिये अपने स्वदेशीय भाइयों को प्रेसीडेन्ट के चुनाव करने का अधिकार दिया। श्रीमान् का सदैव इस बात पर विशेष ध्यान रहता था कि राज्य में स्वदेशियों को पद प्रदान किये जावें; परन्तु स्वदेशियों में उच्च शिक्षा का अभाव होने से बड़े प्रतिष्ठित पदों पर विदेशी रखने पड़ते थे। इस त्रुटि की पूर्त्ति के लिये आपने स्थानिक युवकों को उच्च शिक्षण प्राप्त्यर्थ बाहर भेजना आरम्भ किया था। पोलिस विभाग के लिये एक राजपूत सरदार को शिक्षा दिलाई। पब्लिक वर्क्स डिपार्टमेन्ट के लिये आपने एक स्वदेशी युवक को इंजिनियरिंग कॉलेज रुड़की में प्रवेश कराया। इसमें आपको विशेष परिश्रम करना पड़ा। उस समय तक कोई छात्र विना कॉलेज की प्रवेशिका परीक्षा पास किये रुड़की कॉलेज में प्रवेश नहीं हो सकता था। उस समय वार्षिक परीक्षा होचुकी थी और यहाँ से विद्यार्थी भेजने में विलम्ब था, तथापि आपने गवर्नमेन्ट से लिखापढ़ी कर विशेष नियम करवा दिया कि देशी राज्य का कोई छात्र बिना कॉलेज की प्रवेशिका परीक्षा के पास किये रुड़की कॉलेज में दाख़िल कर लिया जावे। चिकित्सालय (मेडिकल) विभाग में बहुधा गवर्नमेन्ट के डाक्टर रहा करते थे। नवीन प्रणाली के अनुकूल श्रीमान् ने दो स्वदेशी छात्रों को मेडिकल कॉलेज में शिक्षा दिलाकर यहाँ के

चिकित्सालयों में नियुक्त किया। साथ ही आयुर्वैदिक शास्त्र की उन्नति के लिये आपने एक "विजय आयुर्वैदिक औषधालय" एक स्वदेशी वैद्य द्वारा स्थापित कराया। आपका प्रेम एकदेशीय न था किन्तु सार्वभौमिक था। यह तो अवश्य ही है कि "Charity begins at home" परन्तु साथ में यह भी है कि "That it ends not there" आप स्वदेशी राज्य के लिये और स्वदेशी प्रजा के लिये बहुत कुछ करते थे; पर साथ ही अवसर आने पर विदेशी छात्रों की भी सहायता करते थे। अतएव कई विदेशी छात्रों को जिनसे कोई सम्बन्ध या परिचय न था, छात्र-वृत्ति और अनेक संस्थाओं को चन्दा दिया करते थे। अवध प्रान्त अन्तर्गत खैरी में आपके सुनाम से "विजय डिस्पेन्सरी" युनानी चिकित्सालय स्थापित हुआ जिसमें आप रु० २००) वार्षिक चन्दा दिया करते थे। कभी कोई ऐसा समय न गया, कि किसी संस्था या व्यक्ति ने आपसे याचना की हो और उसे विमुख जाना पड़ा हो। इस थोड़े से आपके ८-१० साल के स्वतन्त्र शासन काल में आपने लगभग रु० ४२७७०) धार्मिक कार्य्यों में व दीनों की सहायता में प्रदान किये और अन्य संस्थाओं को रु० ५५७२८) प्रदान किये।

राजाओं के लिये यह आवश्यक है, कि "किसी धर्म्म से द्वेष न रक्खें" राज्य में अनेक मतावलम्बी जन निवास करते हैं। अतएव उनके धर्म्म से सहानुभूति रखना राज्यधर्म्म के मुख्य अंगों मेंसे एक अंग है। आप मोहम्मदी धर्म्म का भी आदर करते थे। जैनियों के उत्सवों में भी सम्मिलित होते थे और श्रीमान् के जेब खर्च से सहायता पानेवालों में सभी धर्म्मों के व्यक्ति सम्मिलित थे।

श्रीमान् इस थोड़े से समय में ही अपने उच्च गुणों से अपनी प्रजा के ही प्रेमपात्र नहीं, किन्तु आसपास की प्रजा के भी आदर और प्रेम के भाजन होगये थे। इससे प्रकट है, कि जब सन् १९१२ में आप मोड़ासा के रास्ते से अजमेर पधारे, तो मोड़ासा की प्रजा ने एक स्वर से श्रीमान् का स्वागत किया और सर्व्व साधारण की ओर से एक अभिनन्दनपत्र दिया, जिसमें वहाँ के बृटिश कर्म्मचारी गण भी उपस्थित थे।

श्रीमान् को अपने क्षत्रियों की दशा सुधारने की हृदय से लगन लगी थी। इस उद्देश की पूर्ति के लिये आप क्षत्रिय-बालकों को विद्याध्ययन के लिये उत्साहित करते थे और इसी अभिप्राय से आपने राजधानी में "राजपूत बोर्डिङ्ग हाऊस" स्थापित किया। जिसमें छात्रों को विशेष रूप से आर्थिक सहायता दी जाती है। अन्य क्षत्रियों की अपेक्षा यहाँ के राजपूतों की दशा कुछ अधिक शोचनीय है। न तो विद्या का अनुराग है, न प्राचीन गौरव का विचार है और न उनमें अब पूर्वकासा पराक्रम रहा है। अतएव उनके उत्साहवर्धन के उद्देश से श्रीमान् ने "विजय पल्टन" स्थापित की जिसमें कुलीन राजपूतों को भरती करने का नियम रक्खा गया और ऐसे राजपूतों के आकर्षण के अर्थ उसमें अधिक सुविधा दीं। शिकारादि के अवसरों पर यहाँ के भीलों को बेगार में पकड़ने से आपको बड़ा कष्ट होता था। इसके निवारणार्थ "हाका पल्टन" रक्खी गई। परन्तु खेद है, कि इससे विशेष सुभीता न हुआ। सन् १९१५ में आबकारी का दूसरा प्रबन्ध किया गया। इसी वर्ष दूसरा सेटलमेन्ट किया गया और इस योग्यता के साथ किया गया, कि

जिससे किसी प्रजा को करवृद्धि का या किसी प्रकार की शिकायत का मौक़ा न मिला।

दो महाराजकुमार और तदनन्तर एक राजकुमारी के शुभजन्म के अनन्तर ता० १९-३-१९१४ को चतुर्थ सन्तान महाराजकुमार श्री नागेन्द्रसिंहजी का शुभ जन्म हुआ।

श्रीमान् अपने छोटे से बड़े तक कर्म्मचारियों के सुख दुःख का पूरा ध्यान रखते थे। श्रीमान् को अधिकार प्राप्त होने के साल दो साल बाद श्रीमान् के प्राइवेट सेक्रेटरी बाबू मणीलालजी का स्वर्गवास होनेपर श्रीमान् ने उनके बच्चों के और स्त्री के निर्वा-हार्थ ऐसी अच्छी पैंशन करदी, कि जिस उदाहरण को देख राज्य का प्रत्येक कर्म्मचारी मुग्ध हो गया। इसके अतिरिक्त हर वर्ष जन्मगाँठ पर भी श्रीमान् उन कर्म्मचारीगणों और भृत्यों को जिनके कार्य्य से राज तथा प्रजा के हित की वृद्धि होती थी, जो अपने परिश्रम, नेकनियती, कर्तव्यपालन आदि से श्रीमान् को सन्तुष्ट करते थे, श्रीमान् से सैकड़ों रुपये पारितोषिक पाते थे। इस प्राचीन पद्धति का पुनरुद्धार कर श्रीमान् अपने सेवकों के प्रेम और आदर के पात्र बन गये। प्राचीन बातों से श्रीमान् को बड़ा अनुराग था। बिना देशी वेष भूषा के कोई भी भारतीय व्यक्ति श्रीमान् से नहीं मिल सकता था।

यद्यपि बाल्यावस्था में ही श्रीमान् माता पिताहीन हो चुके थे और उनके शिक्षण आदि का भार ऐसे हाथों में पहुँचा था, कि जो अहिन्दु थे तथा श्रीमान् के पास भी जो व्यक्ति रहते थे, उसमें अधिकांश विजातीय थे और जो हिन्दु थे वे भी ऐसे न थे जो अपने धर्म्म के गूढ़ विषयों से अथवा सनातन धर्म्म के

सिद्धान्तों से पूर्णतया परिचित हों। यह सब होते हुए भी श्रीमान् ने पैतृक सम्पत्ति के रूप में धार्मिक प्रेम की अभिरुचि प्राप्त की थी। कॉलेज तक आपने संस्कृत से विशेष परिचय प्राप्त नहीं किया था; परन्तु गत चार पाँच वर्ष में आपने इस आर्य्य भाषा में भी अच्छी प्रगति प्राप्त करली थी। हिन्दी भाषा में भी आपकी इतनी योग्यता हो गई थी, कि "पृथ्वीराज रासो" को आप अच्छी तरह समझ सकते थे और अनेक कवित्त सवैया श्लोक आदि आपको कंठस्थ थे और स्वयं भी काव्यरचना करते थे। आपके प्रथमाध्यापक मौलवी अब्दुलहक़्क़ ने श्रीमान् की श्रद्धा और प्रेम से उत्साहित होकर "विजय हज़ारा" नाम का ग्रंथ, जिसमें चुने हुए कवित्त, दोहे, सवैया आदि एकत्रित किये गये हैं श्रीमान् के शुभ नाम पर छपवाया। और और भी एक दो ग्रन्थों का संग्रह किया है; परन्तु प्रकाशित नहीं होसके। इस संकलन में मौलवी साहब से अधिक परिश्रम स्वयं श्रीमान् ने किया है। श्रीमान् की संस्कृत की योग्यता "रामगीता" की टीका से सिद्ध होगी और मातृभाषा-प्रेम तथा साहित्य-प्रेम का निदर्शन "कहावतरत्नाकर" नामक ग्रन्थ से प्रकट होगा-जिनके साथ श्रीमान् का यह जीवनचरित्र मुद्रित है। इसी समय से श्रीमान् की श्रद्धा धर्म्म की ओर दिन प्रतिदिन बढ़ती गई, जिससे कि आपने अनेक धार्मिक ग्रन्थों का पठन पाठन किया। यहाँ तक कि त्रिकाल संध्या तक करने लगे और जैसे धार्मिक गूढ़ विषय श्रीमान् योग्यता और सरलतापूर्वक समझा सकते थे, अनेक संस्कृतज्ञ पंडित भी वैसा करने में असमर्थ होते थे। आप शिवजी के अनन्य भक्त थे। रात्रि के समय रोज़ किसी न किसी पुराण का श्रवण करते

थे। संगीत से भी आपको अच्छा अनुराग था। पर सदैव धार्मिक उपदेशपूर्ण भजन ही पसन्द करते थे। प्राचीन मन्दिरों के पुनरुद्धार के लिये आपने अच्छा उत्साह दिखलाया और अनेक मन्दिरों का जीर्णोद्धार हुआ। आपने एक ऐसी भी आज्ञा प्रकाशित की थी, कि जिससे प्राचीन मन्दिरों के जीर्णोद्धार में उत्साह नवीन मन्दिरों की स्थापना से अधिक हो। इसी समय आपका परिचय श्रीमान् स्वामीजी महाराज ज्ञानानन्दजी संस्थापक "श्रीभारतधर्म्म महामंडल" से हुआ। श्रीमान् ने स्वामीजी महाराज को अपना दीक्षागुरु किया और अन्तकाल तक आपमें उनकी अटल भक्ति रही। स्वामीजी महाराज के उपदेश से आप अनेक यज्ञ श्रीभारतधर्म्म महामण्डल के सुप्रसिद्ध यज्ञमण्डप में अपने शरीर त्याग करने के समय तक कराते रहे। श्रीमान् का दैवी राज्य पर ऐसा विश्वास था कि वे स्वयं फ़र्माते थे कि जिस समय काशी में यज्ञ होता है मैं डूँगरपुर में बैठकर स्वयं उसका अनुभव करता हूँ।

सन् १९१४ में एक व्यक्ति गोविन्दगिर जो वास्तव में जाति में बंजारा था और संवत् १९५६ के दुर्भिक्ष में "नारि मुई गृह सम्पति नासी, मूँड मुडाय भये संन्यासी" को चरितार्थ करता हुआ पुनः बागड़ में आया। इसमें सन्देह नहीं कि, पुनः जब इस प्रान्त में वह प्रकट हुआ, तो भीलों को उपदेश देना आरम्भ किया। ऐसा प्रतीत होता है, कि उसने अपनी आत्मिक शक्ति की उन्नति करली थी और उसके उपदेशों में ऐसा मोहनमंत्र रहता था, कि उज्जड़ असभ्य भील मुग्ध होकर सैकड़ों की संख्या में उसके शिष्य बनने लगे और चोरी, छिनाली, मदिरापान इत्यादि

घृणित कार्य्यों को त्यागने की सदिच्छा प्रकट करते हुए सुमार्ग पर दौड़ लगाने लगे। इतना ही नहीं, परन्तु कहा जाता है, कि जो उसके शिष्य हो जाते थे वे बिना स्नान किये और कुछ देर रामनाम का स्मरण किये भोजन न करते थे। उसकी बढ़ती हुई शक्ति को देखकर उसके विषय में अनेक प्रकार की बातें उड़ने लगीं। एक बार श्रीमान् ने भी उसको बुलवाया और उसके भजन सुनकर सन्तुष्ट हुए। दुर्भाग्यवश कुछ समय बाद वह डूँगरपुर से बाँसवाड़ा की ओर गया और उधर भी ऐसा ही उपदेश देना आरम्भ किया। इस समय उसका आदर मान भीलों में अवतारी पुरुषों के समान होने लगा था। उसके शिष्यों की संख्या सहस्रों तक पहुँची हुई थी। "अस को जन्म्यो है जग-माहीं। प्रभुता पाय जाहि मद नाहीं"। कहा जाता है कि गोविन्दगिर की उच्च अभिलाषा आध्यात्मिक और धार्मिक उन्नति पर सन्तुष्ट न रहकर राजनीति के आकाश पर उड़ान लगाने को चंचल हो उठी। परिणाम यह हुआ, कि मानगढ़ की पहाड़ी पर वह अपने शिष्यों को ले अपना अड्डा जमाकर भील राज्य की स्थापना का स्वप्न देखने लगा। अतएव उसके दमनार्थ सैनिक शक्ति का प्रयोग किया गया और खैरवाड़े की मेवाड़ भील कोर इस काम पर गवर्नमेन्ट की तरफ़ से नियुक्त की गई। गोविन्द-गिर और उसके अनुयायियों में सेना का सामना करने की शक्ति कहाँ थी। नाममात्र के युद्ध के बाद भील भाग गये और गोविन्दगिर कुछ अपने प्रधान शिष्यों के साथ पकड़ा गया। उसपर अभियोग चलाया गया और कालापानी भेजा गया। गोविन्दगिर के दमनार्थ जो खैरवाड़े से सेना भेजनी पड़ी थी

उसका खर्चा निकटवर्ती रियासतों से लेने की तजवीज़ की गई। श्रीमान् ने इस अवसर पर भी बड़ी दृढ़ता दिखलाई और डूँगरपुर इस अनुचित भार से मुक्त किया गया।

जैसे ऊपर अंकित कर आये हैं श्रीमान् मातापिताहीन तो शैशवावस्था में ही हो चुके थे। केवल आपकी विमाता राजश्री बड़ी माजी साहबा श्री राठौरजी थीं। वे सन् १६१४ में स्वर्गधाम सिधारीं। आपके प्रति श्रीमान् का अटल प्रेम और भक्ति थी।

बहुधा देखने में आता है कि वर्तमान काल में रईसों में और जागीरदारों में खटपट रहती है। एक समय था, कि जब जागीरदार राज्य के स्तंभ समझे जाते थे और इसी कारण दरबार को उनकी मान मर्य्यादा का पूरा विचार रहता था। सरदार भी अपने दरबारको अपना स्वामी समझ मातृभूमिके सच्चे भक्त और देशके सच्चे सेवक बन रहे थे। परिवर्तनशील कालने अब दोनोंकी स्थितियों में बड़ा भारी परिवर्तनकर दिया। बड़े साम्राज्य की छत्रछाया में आ जाने से रईसोंको किसी प्रकारके शत्रु की सम्भावना न रही; अतएव जागीरदार जो एक समय राज्य के स्तंभ थे, अब उसका एक अनावश्यक अङ्ग समझे जाने लगे, जिनकी उपयोगिता केवल इतनी ही रह गई है, जितनी सुन्दर शरीर के लिये आभूषणों की होती है। कई का तो ऐसा विचार है, कि क्यों न जागीरें खालसे में मिला ली जायँ। उधर सरदारमंडली भी कुछ तो दरबार के ऐसे विचारों से असन्तुष्ट होकर और कुछ इस कारण से, कि अब बृटिश सरकार के न्याय के आतंक के सामने किसी रईस की इतनी शक्ति नहीं, कि वह अपने किसी जागीरदार को विना किसी उचित कारण के कोई हानि पहुँचा सके; अतएव

उनमें अपने दरबारों के प्रति न वह पूर्व कीसी भक्ति ही और न हितचिन्तना ही दरशाती है। इस प्रकार परस्पर वैमनस्य बहुत बढ़ा हुआ दृष्टिगोचर होने लगा है। स्वर्गीय नरेश के विचार इस विषय में बड़े उदार और राजनीतिपूर्ण थे। वे सदैव अपने सरदारों को राज की दृढ़ ढाल और अपने अंग की दक्षिण भुजा समझते थे और इस बात का बड़ा ही ध्यान रखते थे, कि किसी अंश में भी इनकी मान मर्य्यादा भंग न की जाकर उनके गौरव की वृद्धि की जाय।

बृटिश गवर्नमेन्ट के साथ श्रीमान् का व्यवहार भक्ति और मित्रतापूर्ण रहा और गवर्नमेन्ट आपको सदैव बड़ी आदर की दृष्टि से ही नहीं देखती थी, बल्कि आपकी इस छोटीसी अवस्था मेंभी हरएक राजनैतिक विषय में आपसे परामर्श लेतीथी और आप की सम्मति आदर की दृष्टि से देखी जाती थी। लॉर्ड मिन्टो, लॉर्ड हार्डिञ्ज, लॉर्ड चेम्सफोर्ड प्रभृति से आपका बराबर पत्रव्यवहार रहता था। पोलिटिकल अफ़सर आपकी शासनप्रणाली से पूर्ण सन्तुष्ट रहते थे। इसका मुख्य कारण यह था, कि जहाँ अन्य राज्यों की प्रजा को कभी-कभी न्याय के लिये बृटिश पोलिटिकल अफ़सरों के द्वार को खटखटाना पड़ता है, वहाँ डूँगरपुर राज्य की प्रजा ने श्रीमान् के इस रामराज्य में एक बार भी ऐसा अवसर न पाया कि, पोलिटिकल अफ़सरों को उसने दरबार के विरुद्ध कभी भी प्रार्थना की हो।

इस थोड़ीसी अवस्था में श्रीमान् का मेलजोल करीब-करीब भारत के सभी मकुटधारी रईसों के साथ खूब बढ़ चढ़ गया था। दक्षिण में मैसोर और उत्तर में नैपाल तक रईसों से पत्रव्यवहार और

मित्रता स्थापित होगई थी। जैसी गवर्मेन्ट में आप की धाक थी ऐसा ही बराबरी के रईसों में श्रीमान् की बातों का आदर होता था और अनेक विषयों में आप से सम्मति भी ली जाती थी। श्रीमान् बीकानेर, अलवर, जामनगर, टोंक, कोटा, ग्वालियर आदि नरेशों से आपकी विशेष मित्रता थी।

सन् १९१४ में अकस्मात् विश्व-व्यापी युद्ध का आरम्भ हुआ इसमें आपने आरम्भ से गवर्नमेन्ट के प्रति सच्ची भक्ति दिखाते हुए, अपनी शक्ति से बाहर सम्राट् और साम्राज्य की सहायता की। तीन वार श्रीमान् ने स्वयं रणक्षेत्र में जाने के लिये साग्रह इच्छा प्रकट की। श्रीमान् की अध्यक्षता में राजधानी में सभा एकत्रित हुई जिसमें (Indian Relief Fund) इंडियन रिलीफ फंड के सहायतार्थ इस छोटे से राज्य से रु० ८७३७) होगया। रु० १०००) मासिक श्रीमान् प्रदान किया करते थे। श्रीमान् का अनुकरण कर श्रीमान् के राज-कर्म्मचारि-गण भी अपने वेतन का $\frac{1}{30}$ हिस्सा माहवार इसी फंड खाते देते थे। एक वायुयान, एक मोटर, कुछ घोड़े तथा गेरिशन ड्यूटी के लिये १०० आदमी प्रदान किये। कुल मिलाकर दरबार की ओर से रु० १७५६४०) की सहायता इस युद्ध में प्रदान की गई। इसके अतिरिक्त रु० ५६९२०) वारलोन में दिया गया।

सन् १९१५ ईस्वी में श्रीमान् ने अनेक धर्म्मकार्य्यों से अपने जीवन को धन्य करके बहुत कुछ यश प्राप्त किया। हिन्दू जाति की स्वजातीय महासभा श्रीभारत धर्म्म-महामण्डल के सुप्रसिद्ध काशी के महाधिवेशन में आपने सभापति का आसन ग्रहण करके अभिभाषण आदि द्वारा जो असाधारण योग्यता दिखाई थी उस

को हिन्दू जाति विस्मृत नहीं कर सकेगी। उत्तराखण्ड-सम्बन्धीय जोषीमठ महातीर्थ के जीर्णोद्धार के लिये श्रीमान् ने स्वयं पच्चीस सहस्र रुपया दान करने की इच्छा प्रकट की परन्तु उस तीर्थ के उद्धारकर्त्ता श्रीमान् के गुरु महाराज ने इस कार्य्य के लिये इतना दान देना उचित न समझ कर निषेध किया। तदनन्तर श्रीमान् ने डिप्टी कमिश्नर साहब गढ़वाल के पास तीन सहस्र रुपया भेज दिया और उत्तराखण्ड जीर्णोद्धार कमेटी के वाइस-प्रेसिडेन्ट होना स्वयं स्वीकार किया। श्रीमान् ने श्रीभारतधर्म महामण्डल का संरक्षक पद तो पहले ही स्वीकार किया था और इस वर्णाश्रमधर्मोद्धारकारी भारतवर्ष-व्यापी महासभा की सहायता के लिये पहले ही स्वेच्छा से स्थायी दान के लिये एक दान-पत्र दे चुके थे परन्तु इस साल से उस सभा के कार्य्यों की उन्नति में नियमितरूप से बहुत कुछ भाग लेना प्रारम्भ किया। श्रीमान् की उदारता धर्मकार्य्यों में इतनी अधिक थी कि श्रीमान् को समय समय पर विशेष प्रार्थना करके अत्यधिक दान-कार्य्य से रोकना पड़ता था। प्राचीन क्षत्रिय नरपतियों की उदारता का आदर्श श्रीमान् में पाया जाता था। साक्षात् धर्म-कार्य्यों में ही नहीं विद्या-सम्बन्धीय प्रत्येक कार्य्य में श्रीमान् उत्साह देने में कुण्ठित नहीं होते थे। कलकत्ते के इण्डियन आर्ट स्कूल आदि विद्या-प्रचार की संस्थाओं को भी श्रीमान् ने उत्साह प्रदान किया था।

सन् १९१६ ईस्वी में श्रीमान् की असाधारण धर्म्मप्रवृत्ति देख कर हिन्दू जाति की विराट् धर्मसभा श्रीभारतधर्म महामण्डल ने साधु और महात्माओं के आशीर्वादरूप से श्रीमान् को भारत-धर्म्मसुधाकर की धर्म्मोपाधि प्रदान की और सब से वृद्ध शङ्करा-

चार्य्य श्रीगोवर्द्धन मठाधीश के हस्ताक्षरित मानपत्र श्रीमहामण्डल ने अपने खास डेपुटेशन द्वारा उनके पास भेजा।

एप्रिल सन् १९१६ में श्रीमान् का स्वास्थ्य घोर परिश्रम करने के कारण कुछ बिगड़ने लगा और कुछ दिन में ही रोग ने भयंकररूप धारण कर लिया। डाक्टरों की सम्मति यह हुई, कि कुछ समय तक पूर्ण विश्राम की आवश्यकता है और साथ ही स्थान परिवर्तन से भी विशेष लाभ की सम्भावना है; अतएव पाँच छः मास तक श्रीमान् वायुपरिवर्तन तथा स्वास्थ्य-रक्षार्थ कई स्थानों में घूमे। वहाँ से वापिस आये, कि अकस्मात् टायफॉइड ज्वर का आक्रमण हुआ। परमात्मा की असीम कृपा और प्रजा के सौभाग्य से श्रीमान् उससे भी मुक्त हुए; परन्तु जो रोगरूपी घुण शरीर में पहली बीमारी में लग चुका था उसका समूल नाश न हुआ। समय २ पर रोग के जागृत हो उठने की सम्भावना बनी रहती थी जिसके कारण श्रीमान् के शुभचिन्तक सदैव चिन्तित रहते थे।

सन् १९१७ में महाराज कुमार वीरभद्रसिंहजी और नागेन्द्रसिंहजी को महाराज पदवी के साथ जागीरें प्रदान कीं। इसके कुछ समय पश्चात् श्रीमान् ने एक दूसरा विवाह ता० १३-६-१९१७ को ठाकुरसाहब सिंधावदर की पुत्री सज्जनकुँवरि के साथ किया और इनके उदर से चतुर्थ महाराज कुमार साहब श्रीप्रद्युम्नसिंहजी का जन्म हुआ।

इसके पश्चात् सन् १९१८ में श्रीमान् ने राज्यशासन की प्रणाली में कुछ सुधार किया और इस उद्देश्य से कि यहाँ की प्रजा को शासन में कुछ अधिकार दिये जायँ दो सभाएँ राज-प्रबन्ध-कारिणी सभा और शासनसभा स्थापित कीं।

यही श्रीमान् का अन्तिम महत् कार्य्य राज्यशासन-सम्बन्धी

हुआ । अक्टूबर में भारत-व्यापी इन्फ्लुञ्ज़ा (Influenza) का प्रकोप आरम्भ हुआ, जिससे अनेक घर अँधेरे हो गये । डूँगरपुर में भी इसके कोप ने असाधारणरूप धारण कर लिया । २५ के लगभग आदमी यहाँ पर रोज़ मरने लगे । श्रीमान् ने इस अवसर पर जहाँ तक हो सका चिकित्सा आदि का प्रबन्ध किया । जब श्रीमान् की प्यारी प्रजा पर यह घोर आपत्ति पड़ी, तो इसकी चिन्ता से श्रीमान् व्याकुल हो गये । ता० ३१-१०-१८ को श्रीमान् को भी ज्वर होगया जिसने शीघ्रही इनफ्लुञ्ज़ा (Influenza) का रूप धारण कर लिया । अनेक प्रकार की चिकित्साएँ की गईं ; परन्तु कराल काल के सामने किसी की न चली । इन्हीं दिनों में श्रीमान् के कई कर्मचारी इसी रोग के बलि होगये जिनका दुःख श्रीमान् को और भी घातक हुआ और आखिर ता० १५-११-१९१८ के शाम के ४ चार बजकर २० मिनट पर यह राजपूताने का उज्ज्वल नक्षत्र अपनी प्यारी प्रजा और परिवार को विलपता हुआ छोड़ कर सदैव के लिये अस्त होगया !!!

श्रीमान् परमधार्मिक नृपवर ने अपनी थोड़ीसी आयु में भारतीय गवर्नमेण्ट, स्वाधीन नृपतिवृन्द और सर्व साधारण पब्लिक के हृदय में अपना प्रेमाधिकार ऐसा जमाया था कि जिसकी तुलना इन दिनों में देखने में नहीं आती । आज-कल पब्लिक ओपिनियन का जमाना है । इस समय उनके आदर्श चरित्र के विषय में पब्लिक ओपिनियन कैसी थी उसके अनुमान करने के लिये श्रीमती महाराणी खैरीगढ़द्वारा सम्पादित हिन्दी साहित्य के सर्व्वोत्तम पत्र आर्य्यमहिला से उद्धृत श्री विजयसिंह की विजययात्रा नामक लेख नीचे दिया जाता है ।

"श्रीविजयसिंह की विजय यात्रा।

"जो पदार्थ सहज-लभ्य न हो, उसको अपने अर्थबल, जन-बल, विद्याबल, धर्म्मपुरुषार्थ और बुद्धि-चातुर्य द्वारा, अथवा इन में से किसी के द्वारा प्राप्त कर लेने को विजय कहते हैं। एक राजा के लिये समस्त पृथिवी के देशों में अपनी विजय-पताका फहराना सहज-साध्य नहीं है; परन्तु महावीर सिकन्दर ने अपने सेनाबल और समर-नैपुण्य द्वारा पृथिवी-विजय का यश प्राप्त किया था। सब दिशाओं का जय करना एक आचार्य के लिये सहज-साध्य नहीं है और न एक ही धर्म्माचार्य के अधीन में संसार की सारी प्रजा हो सकती है; परन्तु श्रीभगवान् शङ्करा-चार्य्यजी ने अपने असाधारण विद्याबल, तपस्या और आध्या-त्मिक ज्ञान के द्वारा उस समय के सब धर्म्म-सम्प्रदायों पर अपना आधिपत्य स्थापित करके दिग्विजय करने का यश प्राप्त किया था। केवल धन-द्वारा किसी जाति की स्वाधीनता और किसी धर्म्म का गौरव सुरक्षित नहीं हो सकता; परन्तु मुसलमान साम्राज्य में मेवाड़ के राज-मन्त्री भामाशाह ने धनबल के द्वारा हिन्दू-जाति की स्वाधीनता के बीज की रक्षा और बौद्धविप्लव के समय उज्जयिनी की राजकुमारी ने सनातन-धर्म्म के गौरव की रक्षा करने का यश प्राप्त किया था; जिस के द्वारा भारत का इतिहास सदा समुज्ज्वल रहेगा। धर्म्मबल के जाज्वल्यमान उदाहरण के लिये श्रीभगवान् राम का चरित्र और धर्म्मराज युधिष्ठिर का चरित्र धार्म्मिकों के लिये सदा आदर्शरूप रहेंगे, इसमें सन्देह नहीं।

"केवल संग्राम में जय-प्राप्ति से ही मनुष्य विजयी नहीं कहलाता है। जीवन संग्राम में विजयी होना, धर्म्माधर्म्म-संग्राम में

विजयी होना, संयोग-वियोग के संग्राम में विजयी होना, मनुष्यों के स्वाभाविक रिपु काम, क्रोध आदि से युद्ध करके विजयी होना, कामिनी-काञ्चन के प्रलोभन से विजयी होना और इस लोक को जय करके परलोक में उत्तम गति की प्राप्ति के लिये विजयी होना इत्यादि विजय-प्राप्ति के अनेक प्रभेद हैं। विपत्ति में धैर्य्य रखना, अभ्युदय प्राप्त करके क्षमावान् होना, सभा में धर्म्मानुकूल निर्भय वाक्‌पटुता का परिचय देना, पूर्व कथित किसी प्रकार का संग्राम हो, उसमें विक्रम दिखाना, स्वदेश-हित और धर्म्मोन्नति के कार्यों में यश की अभिलाषा रखना, शास्त्र के श्रवण मनन में व्यसन रखना, तेजस्विता का आधार होने पर भी शीलता की मूर्ति बने रहना, राज-कार्य और राजसिक सङ्ग में फँसे रहने पर भी साधुसङ्ग की मर्य्यादा को एक मुहूर्त भी नहीं भूलना, निष्काम याग यज्ञादि द्वारा देवताओं की प्रसन्नता का सदा विचार रखना, इस लोक की अपेक्षा परलोक का चित्त में विशेष आदर रखना इत्यादि महात्माओं के लक्षण हैं।

"हिज हाईनेस महाराजाधिराज महारावल भारतधर्म्म सुधाकर श्रीमान् सर विजयसिंह बहादुर डूँगरपुर-राज्याधिपति में पूर्व कथित महात्मोपयोगी सभी लक्षण विद्यमान थे। वे मेरे अतिप्रिय और सहोदरप्रतिम गुरुभाई थे; इसलिये मैं ही उनमें ये पुण्य लक्षण नहीं देखती हूँ, किन्तु भारतवर्ष के सभी शिक्षित लोग, जो कि उनको कुछ भी जानते थे, एकमत होकर कहते हैं कि, श्रीमान् नृपवर विजयसिंहजी इस कलियुग में एक आदर्श-चरित्र नरपति थे, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।

"श्रीमान् नृपवर बाल्यावस्था में ही मातृ-पितृहीन थे, इस

कारण उनके लालन-पालन और शिक्षा का भार विदेशियों तथा अन्य धर्म्मावलम्बियों के हाथ में पड़ा था। श्रीमान् ने उन्हीं के द्वारा केवल अंग्रेजी की उच्च शिक्षा प्राप्त की थी, वे अंग्रेजी के वैसे ग्रेजुएट नहीं हुए थे, कि जैसे बड़े लोग हुआ करते हैं। उन की अंग्रेजी भाषा की लेख प्रणाली और कथोपकथन प्रणाली को देखकर अंग्रेजी के बड़े २ विद्वान् भी चकित होते थे; परन्तु ऐसा होने पर भी राज्य का भार अपने ऊपर लेते ही उन्होंने अपने स्वधर्म्मानुराग, वर्णाश्रम धर्म्म-प्रेम आदि का ऐसा परिचय दिया था, कि वैसा आज कल के नवयुवक नरपतियों में प्रायः देखने में नहीं आता।

"अंग्रेजी भाषा के ऐसे बड़े विद्वान् होने पर भी उन्होंने अपनी मातृ-भाषा हिन्दी के प्रेम का कैसा परिचय अपने जीवन में दिखाया है, सो इस संख्या के 'हिन्दी भाषा और कहावत' नामक लेख द्वारा भलीभाँति विदित होता है। यह एक ऐसा अपूर्व ग्रन्थ श्रीमान् ने तैयार करवाया है जिसमें हिन्दी-भाषा की कहावतें मुख्य रखी गई हैं और अकारादि क्रम से सजाई गई हैं। साथ ही साथ संस्कृत और अंग्रेजी कहावतें भी दी गई हैं। जिनकी अंग्रेजी या संस्कृत कहावतें नहीं मिली हैं, उनकी बना दी गई हैं। उर्दू, फ़ारसी और अरबी की कहावतें भी यथा-सम्भव साथ ही साथ दी गई हैं। अन्त में संस्कृत की 'न्यायावली' अनेक तरह से संग्रह करके दी गई है। यह अमूल्य ग्रन्थ श्रीभारत-धर्म्म-महामण्डल के शास्त्रप्रकाशक विभाग द्वारा छप रहा है।

"श्रीमान् का स्वकुल-गौरव, स्वधर्म्मानुराग, पितरों पर सम्मान-बुद्धि और शास्त्रज्ञान उनके दूसरे ग्रन्थ द्वारा जगत् में प्रकाशित

रहेगा। श्रीमान् ने जो 'रामगीता' को अनुवाद और टिप्पणी सहित सम्पादित किया है और जिसकी भूमिका भी इसी संख्या के स्थानान्तर में प्रकाशित हुई है। उसके देखने से उनके चारित्रिक वैशिष्ट्य का अनुभव स्पष्ट रूप से होता है। ये दोनों लेख ही श्रीमान् की असीम गुणराशि के परिचायक हैं।

"नवयुवक होने पर भी परलोक-मर्य्यादा, दैवी राज्य पर विश्वास और वैदिक क्रिया-कलापों पर श्रद्धा वे कैसी रखते थे, वह इसी से भली भाँति प्रकट होगा कि, गत दो तीन वर्षों में श्रीभारत-धर्म्ममहामण्डल के काशीस्थ यज्ञमण्डप में उन्होंने अनेक सहस्र रुपयों का व्यय करके तीस-चालीस वैदिक और स्मार्त यज्ञों का अनुष्ठान किया था। यह उनकी देव-भक्ति का ही कारण है, कि शरीर छोड़ने के एक मास पूर्व ये एक ऐसा बिल बनाकर गवर्नमेण्ट को दे गये थे कि, जिसमें उन्होंने अपने राजकीय और पारिवारिक—सब भविष्यत् प्रबन्धों का व्योरा लिख दिया है, जिससे किसी प्रकार का कोई गड़बड़ नहीं पायेगा। तीस वर्ष के युवक नरपति में ऐसी भविष्यद् बुद्धि, ऐसा आयुर्ज्ञान और ऐसे धैर्य्य का उदय होना—यह उनकी धर्म्मबुद्धि, विषयवैराग्य, दैव-जगत् पर विश्वास, संयम, शास्त्रचर्चा और गुरु भक्त्यादि का ही परिचायक है। मृत्युज्ञान होने से यज्ञानुष्ठान का प्रत्यक्ष फल श्रीमान् को प्राप्त हुआ था, इसमें कोई सन्देह नहीं। श्रीमान् की गुरुभक्ति और आस्तिकता तो इस समय के नरपतियों के लिये आदर्शरूप है। कठिन पीड़ा के कारण विह्वलदशा में आकर भी श्रीमान् सद्गुरु का स्मरण और आस्तिकता नहीं भूले थे। वे स्पष्ट ही कहा करते थे कि:—"काशी में जब यज्ञ होता है, तब मैं

डूँगरपुर में बैठकर अपने अन्तःकरण में उसका अनुभव करता हूं।" नवीन युवकों के लिये इससे अधिक आस्तिकता और अन्तर्मुख-वृत्ति का और क्या फल होना चाहिये ?

"श्रीमान् नृपवर ने जब बालिग होकर राज्यकार्य्य को अपने हाथमें लिया था, उस समय राज्य पर बहुत कुछ कर्ज था, श्रीमान् अपनी उदार वृत्ति में बाधा न देकर भी अपने इस थोड़े राज्य-शासन के समय में सब आवश्यकीय व्ययों को करते हुए भी राज-कोष को धन से शून्य न करके भी पैतृक-ऋण से राज्य को मुक्त कर गये हैं। राजधानी की विविध उन्नति करना, राजधानी से संलग्न पर्वत पर 'विजयगढ़' नामक दुर्ग की स्थापना करना, नवीन रीति के अनुसार विजय पल्टन का संगठन करना, राज्य भर के बड़े-बड़े ऐतिहासिक मन्दिरों और देवस्थानों का जीर्णोद्धार करना, नवीन देवमन्दिर स्थापन करना, राज्य के सब महकमों का नवीन ढंग पर संस्कार करना, राज्य के सुप्रबन्ध के लिये एक 'स्टेट कौन्सिल' और एक 'एक्ज़ीक्यूटिव कौन्सिल' इस प्रकार से दो राजसभाओं का स्थापन करना, राजभवनों का संस्कार और उन्नति करना, विशेषतः उनमें जो विलासस्थान थे, उनको दिव्य देवस्थानों में परिणत करना इत्यादि कार्य्य श्रीमान् की असीम कार्य्य-कुशलता और ज्ञानगरिमा के परिचायक हैं; इसको सभी लोग एक मत होकर स्वीकार करेंगे। आपके स्वधर्म्मा-नुराग और स्वजाति-हित के लिये अतिदूरदर्शिता का यह प्रत्यक्ष प्रमाण है कि, हिन्दूजाति की विराट्धर्म्म-सभा श्रीभारतधर्म्म-महामण्डल के श्रीमान् एक प्रधान स्तम्भ-रूप थे। उक्त महासभा में तन, मन, धन की सहायता देकर ही चुप नहीं रहे; किन्तु

उसकी दूरदर्शी व्यवस्था को अग्रसर करने के लिये अपने राज्य में "श्रीविजयधर्म्मसभा" नाम से श्रीमहामण्डल की एक शाखा धर्म्मसभा स्थापित की और उस सभा पर राज्य भर में धर्म्मसंस्कार, धर्म्मालयों की सुव्यवस्था और समाजोन्नति के बहुत से अधिकार राजाज्ञा से सौंप दिये हैं। भारतवर्षभर की ऐसी कोई धार्मिक संस्था और विद्योन्नति-सम्बन्धी कार्य्य नहीं दिखाई पड़ता कि, प्रार्थना करने पर जिसमें श्रीमान् धार्मिक नृपवर ने यथाशक्ति और यथादेश, काल, पात्र सहायता न दी हो। इस आर्य्य-महिला को देखते ही श्रीमान् के प्राइवेट सेक्रेटरी ने मेरे प्राइवेट सेक्रेटरी को इस धर्म्म कार्य्य में सहायता देने के लिये बहुत ही उत्साह-जनक पत्र भेजा था। गवर्मेंएट के अफ़सरों के निकट और नवीन स्थापित स्वाधीन नरपतियों के "नरेन्द्रमण्डल" में श्रीमान् विशेष आदर और गौरव के साथ देखे जाते थे। स्वर्गीय नृपवर के ऐहलौकिक और पारलौकिक विजय के लिये ये ही अनन्त सुखदायी और अन्य महीपतियों के लिये अनुकरणीय यथेष्ट लक्षण हैं।" ऐसे महान नरपतियों के वैशिष्य का आन्तर्मुखीन आकलन कर शास्त्र कहते हैं।

'अष्टानां लोकपालानामंशात् संजायते नृपः' भारतधर्म सुधाकर महामहिमावान् नृपतिश्रेष्ठ श्रेष्ठं के संरक्षण में इस विराट् धर्म संस्था ने निर्विघ्न और निरापद भाव से धर्म कार्यों का सम्पादन कर विशेष कीर्त्ति अर्जित की है।

श्रीरामाय नमः ।

श्रीरामगीता ।

भूमिका ।

देवादिदेव ! रघुवंशसरोजभास्वन् !
आदिः पिता मम कुलेऽसि शिशोदियाख्ये ।
ज्ञानप्रदत्वमधिगत्य तथेदृशेन
ग्रन्थेन मे गुरुरिहर्षिरपि त्वमेव ॥
तस्माद्विधाय सुदृढां तव नामनौकाम्
विश्वं तरीतुमिह मोक्तुमृणत्रयञ्च ।
एतां प्रकाशयितुमिच्छति रामगीताम्
त्वन्नाममात्रशरणो विजयो हि दासः ॥

हे देवादिदेव ! हे रघुवंशकमल के सूर्य्यरूपी श्रीरामचन्द्र ! आप हमारे पवित्र शिशोदिया कुल के आदि पितर हैं। आप देवादि-देव होने के कारण हमारे परम देवता हैं। आप इस प्रकार के ग्रन्थ के द्वारा हमें ज्ञान देने के कारण हमारे आचार्य्य और ऋषि-रूप हैं। इस कारण आपके नाम की सुदृढ़ नाव बनाकर पितृ-ऋण, देवऋण और ऋषिऋणरूपी तीनों ऋणों से मुक्त होने के लिये और संसाररूप समुद्र के पार पहुँचने के लिये इस रामगीता को यह दास विजयसिंह आपके नाम ही की शरण लेकर प्रकाशित करने की इच्छा करता है।

श्रीरामगीता की भूमिका के सम्बन्ध में श्रीरामावतार चरित्र का कुछ संक्षेप वर्णन करना आवश्यकीय जान पड़ता है। अवतार क्या वस्तु है, निराकार सर्वव्यापक परमात्मा का अवतार कैसे हो सकता है, इस विषय में आज कल अनेक शंकाएँ हो रही हैं। वास्तव में अवतारतत्त्व एक अपूर्व विषय है। श्रीभगवान् का अवतार कहीं ऊपर से नीचे उतर कर नहीं होता है; क्योंकि सर्वव्यापक परमात्मा के लिये कहीं से कहीं आना जाना असम्भव और युक्तिविरुद्ध है। उनका अवतार, ईशयोग्य केन्द्र (Medium) द्वारा असाधारण ऐशी (ईश्वर में रहनेवाली) शक्ति के विकाशरूप से होता है। सर्वशक्तिमान् परमात्मा के सर्वव्यापक होने से आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त (ब्रह्म से लेकर तृण पर्यन्त) समस्त संसार उनकी दैवी कला का विकाशस्थान है। **"तस्योपद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः"** इस मन्त्र के द्वारा श्रुति ने उनमें षोडशकलारूपी पूर्ण शक्ति बतायी है। यही षोडशकलाशक्ति जीव की क्रमोन्नति के अनुसार धीरे-धीरे सब प्रकार के जीवों में विकाश को प्राप्त होती जाती है। तदनुसार जीवकोटि (श्रेणी) की प्रथम योनि उद्भिज्ज (वृक्षादि) में एक कला का विकाश, द्वितीय योनि स्वेदज (कीटाणु Germs) में दो कलाओं का विकाश, तृतीय योनि अण्डज (अण्डे से पैदा होनेवाले पक्षी सर्प आदि) में तीन कलाओं का विकाश और चतुर्थ योनि जरायुज (जरायु से पैदा होने वाले) पशुओं में चार कलाओं का विकाश होता है। तदनन्तर मनुष्य योनि में आकर पाँच कलाओं से आठ कलाओं तक की शक्ति विकाश को प्राप्त होती है। साधारण मनुष्यों में पाँच कला और विभूतियुक्त मनुष्यों में सात कला, आठ कला तक भगवच्छक्ति विकसित होकर

समय समय पर समष्टि जगत् के कल्याण के लिये अधर्मनाश तथा धर्म की उन्नति में विशेष सहायता करती है । भारतवर्ष में तथा अन्यान्य देशों में भी इस प्रकार भगवत्कलायुक्त अनेक विभूतियों का समय समय पर जन्म हुआ है और होता रहता है और ऐसे विभूतिमान् मनुष्यों के द्वारा जगत् की और मनुष्यसमाज की सब प्रकार की उन्नति हुई है और होगी। सत्त्वगुणवाले मनुष्य दैवी सम्पत्ति, रजोगुणवाले मनुष्य आसुरी सम्पत्ति और तमोगुण वाले मनुष्य राक्षसी सम्पत्ति के होते हैं। कभी यदि समष्टिजगत् में इस प्रकार दुर्भाग्य का उदय हो जाय, कि किसी आसुरी सम्पत्ति वाले या राक्षसी सम्पत्ति वाले मनुष्य के अत्याचरण से समष्टि-जगत् में प्रवाहित धर्म की धारा नष्ट होने लग जाय और वह आसुरी अथवा राक्षसी शक्ति ऐसी बलवती हो कि आठ कला वाले विभूतियुक्त मनुष्यों के द्वारा भी दबाई न जा सके, तो ब्रह्माण्ड प्रकृति के प्रचलित नियमानुसार श्रीभगवान् की शक्ति किसी विशेष केन्द्र द्वारा नौ कलाओं से सोलह कलाओं तक आवश्यकतानुसार प्रकट होकर उस आसुरी या राक्षसी शक्ति का दमन करती है और समष्टिजगत् में धर्म की धारा को पुनः ठीक ठीक प्रवाहित करदेती है। इस प्रकार का विशेष केन्द्र जो श्रीभगवान् की नौ कलाओं से लेकर सोलह कलाओं तक दिव्यशक्ति को विकसित कर सकता है उसी को अवतार कहते हैं। श्रीभगवान् श्रीरामचन्द्र इस विज्ञान के अनुसार मनुष्यशरीरधारी भगवदवतार थे, जिनके द्वारा श्रीभगवान् की दिव्यशक्ति असाधारणरूप से प्रकट होनेसे रावण आदि राक्षसों के अत्याचार से संसार की रक्षा, अधर्म का नाश, धर्म की पुनः

प्रतिष्ठा और संसार में आदर्श मानवचरित्र का दृष्टान्त स्थापित हुआ था । इसी लिये श्रीभगवान् ने गीता में कहा है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ! ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

"जब जब धर्म की ग्लानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तभी मैं अवताररूप से प्रकट होता हूं । साधुओं के परित्राण, पापियों के विनाश और धर्मसंस्थापन के लिये युग युग में मेरा अवतार होता है ।" श्रीभगवान् श्रीरामचन्द्र के अवतार के समय धर्म का नाश और धार्मिकों पर अत्याचार कितना बढ़ गया था सो रामायण में स्पष्ट वर्णित है। यथा—"राक्षसराज रावण ने दीर्घ काल तक कठिन तपस्या की थी जिससे सन्तुष्ट होकर ब्रह्माजी ने उसको यह वरदान दिया था कि मनुष्यों के सिवाय अन्य प्राणियों से उसको कोई भय नहीं होगा । इस प्रकार वरदान से गर्वित होकर रावण समस्त संसार तथा स्त्रियों पर बहुत ही अत्याचार करता था। परिणामस्वरूप में धर्म की धारा नष्ट होने लग गई थी । अतः किसी मनुष्य-शरीरधारी भगवदवतार के द्वारा ही उसका निधन होना सम्भव था । रावण समस्त प्रजा पर, स्त्रियों पर, सामर्थ्यवान् व्यक्तियों पर और यहाँ तक कि इन्द्र पर भी घोर अत्याचार करता था और ऋषि, यक्ष, गन्धर्व, ब्राह्मण, असुर सभी को उसने दबा लिया था । उसके डर से सूर्य भी अधिक ताप नहीं देते थे । वायु भी बल से प्रवाहित नहीं होता था और समुद्र भी कम्पित नहीं होता था। इसलिये देवता,

ऋषि, गन्धर्व, मनुष्य आदि सभी ने मिलकर श्रीभगवान् से प्रार्थना की कि राक्षसराज रावण का नाश होना चाहिये। यह परम उद्धत, उग्रतेज, मदगर्वित, इन्द्रद्वेषी, संसार को रुलानेवाला तथा तपस्वियों का कण्टक है। इसलिये इसके नाश से साधुओं की रक्षा, धर्मरक्षा और अधर्म का नाश होगा*।" श्रीभगवान् के रामरूप में अवतार धारण करने का यही प्रथम कारण है। इसका द्वितीय कारण और भी गूढ़ है। श्रीभगवान् मनुजी ने कहा है—

नाऽब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाऽक्षत्रं ब्रह्म वर्द्धते।
ब्रह्म क्षत्रञ्च सम्पृक्तमिह चाऽमुत्र वर्द्धते॥

ब्राह्मणशक्ति की सहायता के विना क्षत्रियशक्ति पुष्ट नहीं हो सकती है, और क्षत्रियशक्ति की सहायता के विना ब्राह्मणशक्ति वृद्धिको प्राप्त नहीं हो सकती है, दोनों शक्तियों के सम्मिलित रहने से ही इहलोक परलोक में दोनों की वृद्धि हो सकती है। अतः यह सिद्धान्त स्थिर है कि संसार में धर्म की रक्षा तभी ठीक ठीक हो सकती है,जब ब्राह्मशक्ति और क्षात्रशक्ति के बीच में समता रहे। यदि किसी समय किसी कारण से इन दोनों शक्तियों के बीच में समता का नाश होजाय तो श्रीभगवान् को अवतारधारण करके उनमें समता स्थापित करनी पड़ती है। इसी सिद्धान्त के अनुसार त्रेतायुग में जिस समय कार्त्तवीर्यार्जुन के अत्याचार से क्षत्रियशक्ति अनियमित रूप से बढ़ गई थी और ब्राह्मणशक्ति घट गई थी उस समय ब्राह्मणशरीर में परशुरामरूप से अवतार धारण करके श्रीभगवान् को इक्कीसवार कार्त्त कर्याजुन क्षेत्र को निःक्षत्रिय करना पड़ा

* वाल्मीकीय रामायण काण्ड ७ सर्ग १०।

था और इसी तरह से उस देश काल में दोनों शक्तियों की समता होकर उस समय के लिये धर्म की रक्षा हुई थी। परन्तु परशुरामावतार द्वारा अनेक क्षत्रियवंशों का नाश होजाने से क्षत्रियशक्ति विशेष निर्बल होगई थी और धर्मरक्षाकारिणी क्षत्रियशक्ति के हीनबल होने से ब्राह्मणशक्ति का भी दुरुपयोग होने लग गया था; जिस कारण रावण जैसे तेजस्वी ब्राह्मण ने भी राक्षस की तरह अत्याचार तथा धर्म का नाश करना प्रारम्भ कर दिया था। इस लिये त्रेतायुग के इसप्रकार काल में ऐसे एक अवतार के प्रकट होने की आवश्यकता होगई थी जो दुर्बल क्षत्रियशक्ति को उन्नत करके तथा पथभ्रष्ट ब्राह्मणशक्ति को नियमित करके दोनों शक्तियों के बीच में समतास्थापन द्वारा सामयिक धर्म की रक्षा करें और मनुष्यजीवन तथा क्षत्रियजीवन का परमोच्च आदर्श बताकर नष्टप्राय क्षत्रियवंशों की गौरववृद्धि करें। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिये श्रीभगवान् को क्षत्रियवंश में श्रीरामरूप में अवतार धारण करना पड़ा था। यही रामावतार के प्रकट होनेका अतिगूढ़ द्वितीय कारण है। महामाया श्रीभगवान् की नित्य सहचरी हैं, इसलिये श्रीभगवान् के साथ उनको भी सीतारूप में अवतार धारण करना पड़ा था। यथा—रामोत्तरतापिन्युपनिषद् में—

श्रीरामसान्निध्यवशाज्जगदाधारकारिणी।
उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणी सर्वदेहिनाम्॥
सा सीता भवति ज्ञेया मूलप्रकृतिसंज्ञिता॥

परमात्मा श्रीराम की पार्श्वचरी, जगदाधाररूपिणी, संसार की उत्पत्ति—स्थिति—प्रलयकारिणी, मूलप्रकृति महामाया सीता है।

जिस प्रकार आदर्श मनुष्यजीवन का दृष्टान्त प्रकट करने के लिये श्रीभगवान् का रामरूप में अवतार हुआ था, उसी प्रकार महामाया का भी सीतारूप में अवतार आदर्श नारीजीवन का दृष्टान्त स्थापन करने के लिये हुआ था; क्योंकि उस देश काल में रावण जैसे पापियों के अत्याचार से अनेक सतियों का सतीत्वनाश तथा स्त्रियों पर अकथनीय अत्याचार होने से आदर्श नारीचरित्र की रक्षा होना और भविष्यत् के लिये अनुकरण करने योग्य आदर्श की रक्षा होना बहुत ही दुर्लभ होगया था। इसी अभाव की पूर्ति के लिये महामाया के अंश से सीता देवी अवतीर्ण हुई थीं। सीता देवी के पूर्वजन्म के वृत्तान्त पर विचार करने से यह विषय स्पष्ट होता है। पूर्व शरीर में सीतामाता का नाम वेदवती था। उन्होंने श्रीभगवान को पतिरूप में प्राप्त करने के लिये घोर तपश्चर्या की थी। किसी समय हिमालय के वनप्रदेश में रावण ने वेदवती को देख लिया और बलात्कार की इच्छा से उनके केशों को स्पर्श किया। तपस्तेज तथा पातिव्रत्यतेज से पूर्ण वेदवती ने उसी समय अपने हाथ से अपने केशों को काटडाला और रावण के सामने ही चिता प्रज्वलित करके उसमें प्राणत्याग किया। अग्नि में प्रवेश करते समय वेदवती प्रतिज्ञा करगई कि आगे के जन्म में अयोनिसम्भूता (गर्भ के विनाही उत्पन्न) होकर रावण के प्राणनाश की मैं कारण बनूँगी *। इस प्रकार से वेदवती के दूसरे जन्म में उसी केन्द्र में जगज्जननी महामाया का अवतार हुआ था और उन्होंने संसार में आदर्श सतीचरित्र का दृष्टान्त स्थापन किया था। यही श्रीभगवान् राम और

* वाल्मीकीय रामायण ७ काण्ड १७ सर्ग में देखो।

सीता देवी के अवतार का कारण है।

श्रीरामचरित्र शिक्षा का भाण्डार है। मानों मनुष्यजीवन में एकाधार में सब आदर्श गुणों को प्रकट करने के लिये श्रीभगवान् ने रामरूप से अवतार ग्रहण किया था। श्रीरामचन्द्र के जीवन में आदर्श मानवचरित्र, आदर्श क्षत्रियचरित्र और आदर्श नरपति-चरित्र एकाधार में प्रकट हुआ है। उनका अवतार मर्यादापुरुषोत्तम था। इसीलिये उस अवतार के प्रत्येक चरित्र में मर्यादा की पूर्णता प्रकट हुई है। यहां तक कि श्रीभगवान् ने और और धर्माङ्गों की ओर कहीं कहीं उपेक्षा बताकर भी मर्यादारूपी धर्म की पूर्णता अपने जीवन में प्रकट की है। इसके सिवाय उनके आदर्श जीवन में राजानुशासन की पूर्णता, प्रजारञ्जन की पूर्णता, वर्णाश्रममर्यादा की पूर्णता, पितृमातृभक्ति की पूर्णता, जितेन्द्रियता की पूर्णता, सत्यव्रत की पूर्णता, कर्त्तव्यपरायणता की पूर्णता, आस्तिकता की पूर्णता, धैर्य की पूर्णता, त्याग और वैराग्य की पूर्णता, भ्रातृवत्सलता की पूर्णता, भक्तवत्सलता की पूर्णता और शरणागतवत्सलता की पूर्णता इस प्रकार से प्रकट हुई है, जिसकी छायामात्र का भी अवलम्बन करके समस्त संसार अनन्त काल के लिये धन्य हो सकता है। अब ऊपर कहे हुए गुणों के कुछ कुछ दृष्टान्त दिखाये जाते हैं। नरपति का आदर्श तभी पूर्ण हो सकता है, जब उनके राज्य की प्रजा धार्मिक तथा सुखी हो। श्रीरामचन्द्र के ग्यारह सहस्र वर्ष के राज्यकाल में प्रजा में सुख और शान्ति की पराकाष्ठा प्राप्त होगई थी। जैसा कि रामायण* में वर्णित है—"श्रीरामचन्द्र के राज्यकाल में

* वाल्मीकीय रामायण काण्ड १ सर्ग १।

कोई भी स्त्री विधवा नहीं हुई थी, किसी को सर्पभय और व्याधि-भय नहीं था। चोर, दस्यु आदि का उपद्रव नहीं था और पिता माता के जीते हुए लड़के कभी नहीं मरते थे। सभी प्रजा आनन्द पूर्ण और धर्मपरायण थी। परस्पर हिंसा और द्वेष नहीं था, सहस्रों वर्षों तक रोगरहित और शोक शून्य होकर पुत्र कलत्रों के साथ प्रजा जीवित रहती थी। वृक्षसमूह सदा ही फल फूलों से सुशोभित रहते थे। इच्छामात्र से ही मेघ जलवर्षण करते थे और सुशीतल पवन निशिदिन प्रवाहित होता था। सभी लोग धर्मपरायण थे। कहीं पर कपट और मिथ्या व्यवहार नहीं था। इस प्रकार से आदर्श नृपति रामचन्द्र के राज्यकाल में प्रजा में सुख की पराकाष्ठा प्राप्त होगई थी। उनकी राजनीतिकुशलता तथा राजानुशासन की पूर्णता के विषय का अपूर्व दृष्टान्त उस समय मिलता है कि जब चित्रकूट पर्वत पर भरत से उनका समागम हुआ था। उस समय श्रीरामचन्द्र की सम्राट् के उपयोगी सर्वज्ञता का पूर्ण आदर्श प्रकट हुआ है। प्रजारञ्जन श्रीरामचन्द्र के जीवन का मूलमन्त्र था। उनका जीवन प्रजारञ्जनरूपी होमाग्नि में पवित्र हवि की तरह आहुति बन गया था, इसलिये उन्होंने निजमुख से ही कहा था कि प्रजारञ्जनार्थ यदि प्राणप्रिया सीता को भी विसर्जित करना पड़े उसमें भी उनको कोई भी सङ्कोच नहीं होगा। और ऐसा हुआ भी था। लङ्का की अग्नि-परीक्षा में उज्ज्वल और शुद्ध सुवर्ण की तरह परीक्षित, पूर्ण निर्दोषा परमसती प्रेमवती सीतादेवी को केवल प्रजारञ्जनार्थ ही उन्होंने चिरकाल के लिये वनमें निर्वासित कर दिया था। जिस समय भद्र×

× वाल्मीकीय रामायण का० ७ सर्ग ४३

नामक गुप्तचर ने किसी किसी प्रजा की सम्मति प्रकट की थी कि वे लोग अज्ञान से यह कहते हैं कि "बहुत दिनों तक लङ्का में निवास करने पर भी सीता को एकाएक श्रीरामचन्द्रजी ने कैसे ग्रहण किया है ?" उस समय अग्निपरीक्षा में अग्नि, ब्रह्मा, इन्द्र आदि समस्त देवताओं के द्वारा पवित्र और शुद्ध बताई हुई सीतादेवी की निर्दोषिता के विषय की उपेक्षा करके केवल प्रजारञ्जनार्थ ही श्रीभगवान् रामचन्द्र ने सीता को वनवास दिया था, जो घटना समस्त संसार में नितान्त दुर्घट है। इसलिये ही श्रीराम के विषय में कहा गया है:—

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति॥

श्रीरामचन्द्र कर्त्तव्यपालन में वज्र से भी अधिक कठोर और स्वभाव से फूल की अपेक्षा भी अधिक कोमल अन्तःकरणवाले थे। ऐसे लोकोत्तर पुरुष के चित्तको कौन जान सकता है ?

मर्यादापालन का अपूर्व आदर्श उनके जीवनमें पूर्णरूपसे प्रकट हुआ है। केवल मर्यादापालन के लिये ही उन्होंने सीता को कलङ्क-रहित जानने पर भी लङ्कामें भीषण अग्निपरीक्षा के द्वारा परीक्षित किया था और जिस समय अग्निदेव ने सीतादेवी को दग्ध न करके अङ्क में लेकर शपथ के साथ श्रीरामचन्द्र को प्रदान किया उस समय भी उन्होंने अग्निदेव को यही कहा था:—

अवश्यं चाऽपि लोकेषु सीता पावनमर्हति।
दीर्घकालोषिता हीयं रावणान्तःपुरे शुभा॥
बालिशो बत कामात्मा रामो दशरथात्मजः।

इति वक्ष्यति मां लोको जानकीमविशोध्य हि ॥
अनन्यहृदयां सीतां मच्चित्तपरिरक्षिणीम् ।
अहमप्यवगच्छामि मैथिलीं जनकात्मजाम् ॥
न च शक्तः सुदुष्टात्मा मनसाऽपि हि मैथिलीम् ।
प्रधर्षयितुमप्राप्यां दीप्तामग्निशिखामिव ॥

लोकमर्यादा की रक्षा के लिये सीता की अग्निपरीक्षा अवश्य ही करना उचित था क्योंकि उनको रावण के राज्य में दीर्घ कालतक रहना पड़ा था। यदि मैं इस प्रकार न करता तो लोग मुझे कामी और व्यवहार-ज्ञानशून्य बतलाते। मैं ठीक जानता हूँ कि सीता मुझमें अनन्यहृदयवाली और मेरी इच्छा के अनुकूल चलनेवाली है। अग्नि की शिखा को जिस प्रकार कोई धारण नहीं करसक्ता उसी प्रकार दुष्टात्मा रावण सीता देवी को मन से भी ग्रहण नहीं कर सक्ता है। यह लोकमर्यादापालन का ही अपूर्व दृष्टान्त था कि अनेक वर्षों तक वनवास के बाद महर्षि वाल्मीकि जब सीता को लेकर श्रीरामचन्द्र के पास आये और कहा—"सीता परम पवित्रा हैं, राम इन्हें ग्रहण करें, यदि इनमें कोई भी दोष हो तो मेरी सब तपस्या निष्फल होजाय," उस पर भी श्रीरामचन्द्रज़ी ने महर्षि जी को सीता के विषय में अपना पूर्णज्ञान बताकर कहा कि लोकमर्यादा पालन के लिये समस्त संसार के सामने सीता को स्वयं शपथ करना होगा और माता सीता ने भी ऐसाही करके पाताल प्रवेश किया था। प्रजारञ्जन और लोकमर्यादा का यह नमूना जगत्पूज्य है।

वर्णाश्रमधर्म की अपूर्व मर्यादा उनके जीवन में देखने में आती है। यह केवल वर्णधर्ममर्यादापालन का ही कारण था कि उन्होंने

परशुराम की परम धृष्टता को सहन करते हुए भी उनपर अस्त्र नहीं चलाया। और कहा—

ब्राह्मणोऽसीति पूज्यो मे विश्वामित्रकृतेन च।
तस्माच्छक्तो न ते राम ! मोक्तुं प्राणहरं शरम् ॥

आप ब्राह्मण होने के कारण पूज्य हो इसलिये आपके प्रति बाण मैं नहीं चलासक्ता, ऐसा कहकर बाण की सहायता से परशुरामजी को महेन्द्र पर्वत में पहुँचा दिया और कुछ भी हानि नहीं की। त्रेतायुग में शूद्र* के लिये तपस्या विहित नहीं है, इस लिये शम्बूक नामक किसी शूद्र के सशरीर देवत्वप्राप्ति के लिये उनके राज्यकाल में तपश्चर्यापरायण होने पर, इस पाप से एक ब्राह्मण का बालक मरगया था, इस संवाद को देवर्षि नारद के मुख से जानकर श्रीरामचन्द्र विन्ध्यगिरि के पास तपोनिरत शम्बूक के समीप पहुँचे और उससे सब वृत्तान्त जानकर उसी समय उन्होंने उसका सिर उड़ा दिया और ब्राह्मण बालक को जिला दिया। यथा—रामायण में—

भाषतस्तस्य शूद्रस्य खड्गं सुरुचिरप्रभम्।
निष्कृष्य कोशाद्विमलं शिरश्चिच्छेद राघवः ॥

शूद्र शम्बूक के अपने तपोवृत्तान्त कहते कहते ही श्री रामचन्द्र ने तीक्ष्ण धार खड्ग के द्वारा उसका शिर छेदन कर दिया। येही सब परमशक्तिमान् श्रीरामचन्द्र की जीवनी में वर्ण और आश्रमधर्म की अपूर्व मर्यादापालन के प्रमाण हैं।

मनुष्य जीवन को मधुमय बनाने के लिये जितने सद्गुणों की

* वाल्मीकीय रामायण काण्ड ७ सर्ग ७४—७६ देखो।

आवश्यकता होती है, पूर्णमानव के आदर्श स्थापनार्थ अवतारप्राप्त श्रीभगवान् रामचन्द्र के जीवन में उन सब सद्गुणों का पूर्ण विकाश हुआ था। प्रत्येक गृहस्थ को एकपत्नीव्रत का उच्च आदर्श उनके जीवन से सीखना चाहिये। श्रीरामचन्द्र चाहते तो सीता के वनवास के बाद कितने ही विवाह कर सकते थे, परन्तु निर्दोषा स्त्री को दुःखिनी बनाकर आदर्श धर्म के विचार से वनवास देना पड़ा था।इसलिये परम जितेन्द्रियता और संयम के साथ राज्य में ही रह कर सीता से भी अधिक विरहव्यथा श्रीरामचन्द्र ने सहन की थी और द्वितीय विवाह का संकल्प भी नहीं किया था, यहां तक कि अश्वमेध यज्ञ के समय भी सुवर्णमयी सीता बनाकर अनुकल्प द्वारा यज्ञकार्य की पूर्ति की थी और शास्त्रानुकूल होने पर भी ऐसे समय में भी दूसरी पत्नी का ग्रहण नहीं किया था।एकपत्नीव्रत, दाम्पत्यप्रेम का आदर्श स्थापन और ब्रह्मचर्य्य की महिमा प्रचार करने के उद्देश्य को लक्ष्य में रख कर ही मानों श्रीरामचन्द्र ने इतना क्लेश सहा था।

कर्त्तव्यपरायणता और धीरता का अपूर्व आदर्श उनके जीवन में प्रत्यक्ष होता है। श्रीरामचन्द्र सुख दुःख, सम्पद् विपद् के सकल समय में ही समुद्र की तरह गम्भीर और द्वन्द्व-सहिष्णु रहते थे। राज्याभिषेक के संवाद को उन्होंने जिस आनन्द से ग्रहण किया था, वनवासरूपी पितृ–आज्ञा को भी उन्होंने उसी आनन्द के साथ ग्रहण किया था। यथा–रामायण में–

उचितं च महाबाहुर्न जहौ हर्षमात्मवान्।
शारदः समुदीर्णांशुश्चन्द्रस्तेज इवात्मजम् ॥

वनवास की कठोर आज्ञा सुनने पर भी शरत्काल की निर्मल

चन्द्रज्योति की तरह श्रीरामचन्द्र ने अपने सहज सत्त्वगुणमय आनन्दभाव का परित्याग नहीं किया। इसी प्रकार इस संसार का त्याग करते समय तापसरूपी कालके द्वारा अपने महाप्रस्थान का संवाद सुनने पर भी श्रीरामचन्द्रजी ने अति आनन्द के साथ उसे स्वीकार किया था और तापस को कहा था—

श्रुत्वा मे देवदेवस्य वाक्यं परममद्भुतम् ।
प्रीतिर्हि महती जाता तवाऽऽगमनसंभवा ॥

पितामह ब्रह्माके अद्भुत वाक्य को सुनकर तथा आपको देखकर परम प्रीति प्राप्त हुई। इससे अधिक और धैर्य्यका परिचय मनुष्य जीवन में कौन दिखा सकता है ?

मातृपितृभक्ति का जो अपूर्व दृष्टान्त उनके जीवन में प्रकट हुआ सो और कहीं नहीं देखने में आता है। पिता दशरथ के आज्ञापालन के विषय में उनके हृदय से यह ध्वनि निकलती है कि—

लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद्वा हिमवान् वा हिमं त्यजेत् ।
अतीयात् सागरो वेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः ॥

चन्द्रमा श्री को त्याग कर सकता है, हिमालय शीतलता को त्याग कर सकता है; समुद्र भी तटभूमि को त्याग कर सकता है; किन्तु राम पिता की प्रतिज्ञा को त्याग नहीं करेगा। ऐसे वचनों को सुनकर और ऐसे वचनों के संकल्प की पूर्त्ति आदर्श चरित्र श्रीरामचन्द्र के जीवन में देखकर कौन नहीं स्वीकार करेगा कि पितृभक्ति के दिखाने में उनका चरित्र परम आदर्श है।

इस प्रकार से सत्यव्रत श्रीरामचन्द्र ने पितृसत्यपालनार्थ चतुर्दश वर्ष पर्यन्त कठिन वनवासका दुःख सहन करके भी पिताकी

प्रतिज्ञा को सत्य किया था। यह सत्यव्रतपरायणता का ही अलौकिक सुशोभन दृष्टान्त था कि प्राण से भी प्रिय और सीतासे भी प्रियतर अनुज लक्ष्मण को श्रीरामचन्द्र ने अपने महाप्रस्थान के पहले परित्याग कर दिया था और वे धर्मपथ से अणुमात्र भी च्युत नहीं हुए थे। इस प्रकार से मानव जीवन को पूर्णता के द्वारा विभूषित करने के लिये श्रीरामचन्द्र की मधुर चरित्रावली के पत्र पत्र में अनुपम उपदेश भरे हुए हैं, जिनके लिये समस्त संसार अनन्त काल तक उनका ऋणी रहेगा।

श्रीरामचन्द्र में आस्तिकता, विचारशक्ति तथा वैराग्यादि भावके अनेक प्रमाण समय समय पर मिलते थे। वनवास की आज्ञा सुन-कर जब लक्ष्मण क्रुद्ध होगये थे, उस समय दैव कारणका प्राधान्य बताकर श्रीरामचन्द्रजी ने लक्ष्मण को जो उपदेश दिया था, उसमें उनकी परम आस्तिकता का परिचय मिलता है। यथा—रामायण में—

सुखदुःखे भयक्रोधौ लाभाऽलाभौ भवाऽभवौ।
यस्य किञ्चित्तथाभूतं ननु दैवस्य कर्म तत्॥
असङ्कल्पितमेवेह यदकस्मात् प्रवर्त्तते।
निवर्त्यारब्धमारम्भैर्ननु दैवस्य कर्म तत्॥
एतया तत्त्वया बुद्ध्या संस्तभ्याऽऽत्मानमात्मना।
व्याहतेऽप्यभिषेके मे परितापो न विद्यते॥

हे लक्ष्मण! सुख दुःख, भय क्रोध, लाभ अलाभ, बन्ध मोक्ष इनमें से प्रत्यक्ष कारण के विना भी जो कुछ संघटित होजाय उसमें दैवको ही कारण जानना चाहिये। किसी आरब्ध कर्म को बलात् रोक कर किसी प्रकार सङ्कल्प या प्रत्यक्ष कारण के विनाही

अकस्मात् जो कुछ घटना हो जाती है, उसमें दैव ही कारण है, यह जानना चाहिये। इस प्रकार विचार करके मैंने मन को समझाया है, इसलिये राज्याभिषेक न होने पर भी मुझे कोई दुःख नहीं है। उनके हृदयमें संसार की अनित्यता तथा वैराग्यभाव की दृढ़ता का दृष्टान्त शोकसन्तप्त भरत के प्रति उपदेश करने में प्रकट हुआ था। यथा—

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महार्णवे।
समेत्य च व्यपेयातां कालमासाद्य कंचन॥
एवं भार्याश्च पुत्राश्च ज्ञातयश्च वसूनि च।
समेत्य व्यवधावन्ति ध्रुवो ह्येषां विनाभवः॥

जिस प्रकार समुद्र में दो काष्ठखण्ड एकत्रित होकर पुनः पृथक् पृथक् होजाते हैं; उसी प्रकार हे भरत! संसार में भी पुत्र कलत्रादि एक साथ मिलकर पुनः पूर्वकर्म के वेगसे पृथक् पृथक् होजाते हैं। क्षणभंगुर संसार में सभी वस्तुएँ नाशवान् हैं। इत्यादि इत्यादि उनके उपदेश उनमें गम्भीर तत्त्वज्ञान तथा वैराग्यभाव को सूचित करते हैं।

उनके हृदय में भ्रातृवत्सलता, भक्तवत्सलता तथा शरणागतवत्सलता भी प्रजावत्सलता की तरह कूट कूट कर भरी हुई थी। रावण के द्वारा चलाये हुए शक्तिशेलनामक शस्त्र की चोट से मूर्च्छित लक्ष्मण को देखकर उन्होंने जो गम्भीर शोक प्रकट किया था, इस प्रकार भ्रातृप्रेमका दृष्टान्त जगत् में दुर्लभ है। मूर्च्छित लक्ष्मण को देखकर श्रीराम ने कहा था—

देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः॥

परित्यक्ष्याम्यहं प्राणान् वानराणां तु पश्यताम्।
यदि पञ्चत्वमापन्नः सुमित्रानन्दवर्धनः॥
किं नु मे सीतया कार्यं लब्धया जीवितेन वा।
शयानं मेऽद्य पश्यामि भ्रातरं युधि निर्जितम्॥

संसार में स्त्री बान्धव अनेक मिलते हैं, परन्तु प्राणप्रिय सहोदर नहीं प्राप्त होते हैं। यदि लक्ष्मण का प्राण नहीं रहेगा तो मैं भी वानरों के सामने अपने प्राणोंको दे दूंगा। मुझे सीताको प्राप्त करके कोई फल नहीं है और न जीवन धारण करनेकाही कोई प्रयोजन है; क्योंकि मैं आज लक्ष्मण को इस प्रकार दुर्दैव में पड़े हुए देख रहाहूं। यह एक बहुत ही मर्मस्पर्शी भ्रातृप्रेम की बात है कि श्रीरामचन्द्रजी ने सीता को पाताल प्रविष्ट देखकर भी अपने प्राणों को नहीं छोड़ा था, परन्तु सत्यव्रत पालन करने के लिये जब देवताओं की प्रेरणा से उनको अपने अन्तसमय में लक्ष्मण का त्याग करना पड़ा था, उस समय वे अपने धैर्य्य को धारण नहीं करसके और लक्ष्मण के शरीरान्त के अनन्तर ही उन्होंने इस संसार को त्यागकर दिया था। भक्तवत्सल भगवान् रामचन्द्रजी ने भक्तवत्सलता के कारण ही इतने बड़े सम्राट् होकर भी और किसी का कोई दान ग्रहण करना उनका धर्म्म न होने पर भी उन्होंने चाण्डाल गुहक के गृह में आतिथ्य ग्रहण किया था। जिस समय भक्त जटायु ने माता सीता के लिये रावण के साथ युद्ध करके श्रीभगवान् रामचन्द्र का दर्शन करते हुए प्राण दे दिया था उस समय भक्तवत्सलता श्रीरामचन्द्र के रोम रोम से टपकती थी, जैसा कि रामायण में लिखा है—

सीताहरणजं दुःखं न मे सौम्य ! तथागतम् ।
यथा विनाशो गृध्रस्य मत्कृते च परन्तप ! ॥
एवमुक्त्वा चितां दीप्तामारोप्य पतगेश्वरम् ।
ददाह रामो धर्मात्मा स्वबन्धुमिव दुःखितः ॥
शास्त्रदृष्टेन विधिना जलं गृध्राय राघवौ ।
स्नात्वा तौ गृध्रराजाय उदकं चक्रतुस्तदा ॥

हे लक्ष्मण ! मुझे सीताहरण का भी इतना शोक नहीं है, जितना मेरे लिये प्राण देनेवाले जटायु की मृत्यु से मुझे दुःख है । इतना कह कर श्रीरामचन्द्रजी ने चिता प्रज्वलित करके अपने हाथ से जटायु का दाहकार्य किया और पश्चात् स्नान करके शास्त्रविधि के अनुसार जटायु के निमित्त श्राद्ध तर्पण किया था । भक्तवत्सल श्रीरामचन्द्रजी के कुसुम के सदृश कोमल अन्तःकरण ने जटायु को आशीर्वाद के साथ आनन्दधाम को पहुँचा दिया था ।

शरणागतवत्सलता का अपूर्व दृष्टान्त श्रीराम के जीवन में उस समय प्रकट हुआ था, जिस समय विभीषण ने श्रीरामचन्द्र की शरण ली थी । सब वानर, लक्ष्मण तथा जाम्बवान् आदि सभी ने शत्रुपुरी से आये हुए निशाचर को शरण देना युक्तियुक्त न समझ कर श्रीरामचन्द्रजी से प्रार्थना की थी । परन्तु उदारहृदय राम ने कहा—

सकृदेव प्रपन्नाय तवाऽस्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥
आनयैनं हरिश्रेष्ठ ! दत्तमस्याऽभयं मया ।

विभीषणो वा सुग्रीव ! यदि वा रावणः स्वयम् ॥

जो एकबार भी शरणागत होकर 'मैं तुम्हारा हूं' ऐसा कहता है,इस प्रकार के सब जीवों को मैं अभय देता हूं,यही मेरा व्रत है। इसलिये, हे सुग्रीव ! तुम विभीषण को मेरे पास लाओ, मैंने उसे अभय दिया है और शरणागत होने पर रावण तक को अभय दान करने में मुझे कोई भी सङ्कोच नहीं होगा। ये ही सब श्रीभगवान् रामचन्द्र के जीवन में पूर्णमानव होने, पूर्ण नरपति होने तथा क्षत्रिय के सब धर्म्मों से पूर्ण होने और आर्य्यजाति के सब लक्षणों से पूर्ण होने की गुणावलियाँ हैं। त्रेतायुग में क्षत्रियवंश के बहुधा नाश होजाने के कारण इस प्रकार आदर्श पुरुष की आवश्यकता हुई थी, इसीलिये श्रीभगवान् ने स्वयं ही अवतीर्ण होकर संसार के सम्मुख सदा अनुकरण करने योग्य और देवताओं के लिये भी दुर्लभ मानवचरित्र का पूर्ण आदर्श स्थापन किया था।

श्रीभगवान् रामचन्द्र के अलौकिक और चमत्कारपूर्ण चरित्र के विषय में अनेक गूढ़ रहस्य समझने में असमर्थ होकर कहीं कहीं मन्दमति लोगों ने कुछ कुछ शंकाएँ की हैं। इसलिये इस स्थान पर उन सब शंकाओं का समाधान करदेना भी युक्तियुक्त जान पड़ता है। प्रथम शंका यह है, कि उन्होंने लौकिकमनुष्यों की तरह सीता तथा लक्ष्मण के लिये इतना शोक प्रकाश क्यों किया था? इसके समाधान में दृष्ट, अदृष्ट दोनों कारण दिये जा सकते हैं। इसमें दृष्ट कारण यह है कि जब संसार में पूर्ण मानव तथा पूर्ण गृहस्थ-चरित्र का आदर्श प्रकट करने के लिये श्रीरामचन्द्र का अवतार

हुआ था तो लौकिक जगत् में पतिव्रता स्त्री तथा नितान्त अनुगत कनिष्ठ भ्राता के लिये प्रत्येक गृहस्थ को किस प्रकार प्रेमपूर्ण आचरणवान् होना चाहिये,इसका उदाहरण अपने ही आचरण के द्वारा जगत् के सामने प्रकट करदेना ऐसे मर्यादावान् अवतार का कर्त्तव्य था। इसी लौकिक कारण के लिये ही सहधर्मिणी तथा अनुज भ्राता के लिये उन्होंने इस प्रकार प्रेमपूर्वक शोकप्रकाश आदि करके जगत् में प्रेम का नमूना दिखाया था। इसमें अदृष्ट कारण ब्रह्मर्षि सनत्कुमार का शाप था। उन्होंने श्रीभगवान् विष्णु को शाप दिया था। यथा—

तेनाऽपि शापितो विष्णुः सर्वज्ञत्वं तवाऽस्ति यत्।
कञ्चित् कालं हि तत् त्यक्त्वा त्वमज्ञानी भविष्यसि॥

हे विष्णो ! आपमें जो सर्वज्ञता है,उसे कुछ काल के लिये खोकर आपको अल्पज्ञानी बनना पड़ेगा। श्रीविष्णु ने सर्वशक्तिमान् होने पर भी महर्षिवाक्य वृथा नहीं होना चाहिये इसलिये इस शापको ग्रहण किया था और रामावतार में उस शाप को पूर्ण किया था जिसका विवरण अग्निपरीक्षा के समय देवताओं के वाक्य * से स्पष्ट होता है। यही उनके साधारण मनुष्यों की तरह अनेक आचरणों के करने के मूल में अदृष्ट कारण है। श्रीरामचन्द्र के विषय में द्वितीय शंका यह होती है कि उन्होंने निरपराधी बालि को छिप करके कैसे मार दिया था ? इसके भी समाधान में दृष्ट अदृष्ट अनेक हेतु दिये जा सकते हैं। श्रीरामायण में लिखा है, जिस समय रामरूप में श्रीविष्णु का अवतार हुआ, उस समय

* वाल्मीकीय रामायण, काण्ड ६ सर्ग ११९।

श्रीभगवान् के अवतार कार्य में सहायतार्थ ब्रह्माजीकी आज्ञा से अनेक देवताओं ने भी कामरूपी (जब जैसा चाहें वैसा रूप धारण करनेवाले) वानरों के रूप में जन्मग्रहण * किया था। यथा— इन्द्र के अंश से बालि उत्पन्न हुआ, सूर्य से सुग्रीव उत्पन्न हुआ। कुबेर से गन्धमादन उत्पन्न हुआ, विश्वकर्मा से नल उत्पन्न हुआ, पवन से हनुमान् उत्पन्न हुआ इत्यादि। ये सब वानर कामरूपी थे। यथा रामायण में—

ते कृत्वा मानुषं रूपं वानराः कामरूपिणः।
कुशलं पर्यपृच्छंस्ते प्रहृष्टा भरतं तदा ॥
नवनागसहस्राणि ययुरास्थाय वानराः।
मानुषं विग्रहं कृत्वा सर्वाभरणभूषिताः ॥
सूर्ये चाऽस्तं गते रात्रौ देहं संक्षिप्य मारुतिः।
वृषदंशकमात्रोऽथ बभूवाद्भुतदर्शनः ॥

कामरूपी वानरों ने मनुष्यरूप धारण करके भरत से कुशल पूछा। अनेक अलङ्कारों से भूषित वानरगण मनुष्यरूप धारण करके नौ हजार हाथी पर चढ़ कर चले। सूर्यास्त होने के अनन्तर हनुमान् ने अपने शरीर को छोटा बना कर बिल्ली का रूप धारण किया और उस अपूर्व रूप से सीता के अन्वेषणार्थ रावण के अन्तःपुर में प्रवेश किया। यही सब देवांशोत्पन्न वानरों के कामरूपी होने के प्रमाण हैं। अब बालिवधके विषय में अदृष्ट कारण यह है कि जब इन्द्रदेव ने श्रीविष्णु के अवतार कार्य में सहायता प्रदान करने के अर्थ अपने अंश से बालि को उत्पन्न किया था, तो

* वाल्मीकीय रामायण १ काण्ड १७ सर्ग।

बालि का यह कर्त्तव्य था कि सुग्रीव, हनुमान् आदि अन्य वानरों के साथ मिलकर श्रीरामचन्द्र के कार्य में सहायक होते । परन्तु उन्होंने ऐसा न करके उलटा सुग्रीवादि के साथ लड़ाई करली और सुग्रीव की स्त्री को छीनकर कामासक्त होरहे। अतः ब्रह्माण्ड प्रकृति के उस देश काल में दैवसम्बन्ध के अनुसार बालि की उपयोगिता न होकर विरुद्धता ही प्रकट हुई; जिस कारण उनका उस समय रहना उस देश कालके लिये अपकारक ही हुआ था। इसी अदृष्ट कारण के लिये ही श्रीरामचन्द्र भगवान् ने प्रमादी बालि का प्राण नाश किया । उन्होंने जो रामचन्द्र से यह कहा था कि वे विना युद्धही रावण को पकड़ लाते और सीता का उद्धार करदेते सो उनका इस प्रकार कहना दम्भ ही था। क्योंकि जो स्वयं ही भ्रातृवधू और परस्त्री अपहरणकारी और सतीत्वनाशकारी है, वह सती की रक्षा के लिये क्या सहायता दे सकता है और श्रीराम जैसे आदर्श धार्मिक पुरुष ऐसे अधार्मिक की सहायता सती-उद्धार कार्य में कैसे ले सकते हैं ? अतः बालि का उस समय संसार में रहना नितान्त अनावश्यक तथा केवल हानिजनक ही था। इसी लिये उसको मार देना श्रीभगवान् के लिये धर्म कार्य ही हुआ था। द्वितीयतः बालि को छिप कर क्यों मारा ? इसके समाधान में प्रथम दृष्ट कारण श्रीरामचन्द्रजी ने स्वयं ही कहा था कि मृग, व्याघ्र आदि वन्य जन्तुओं को राजा लोग क्षात्रधर्म के अनुसार नहीं मारते हैं, जहां पाते हैं, दृश्य अथवा अदृश्य किसी प्रकार से भी मार लेते हैं । जब बालि शाखामृग (वानर) ही है तो उसके मारने में क्षत्रिय नीति के

अवलम्बन करने का कोई प्रयोजन नहीं था। क्योंकि किसी क्षत्रिय के साथ संग्राम में ही क्षत्रियनीति अवलम्बित हो सकती है, शाखामृग के साथ नहीं। इसमें दूसरा अर्थात् अदृष्ट कारण यह है कि बालि को यह वरदान था कि शत्रु के सामने आने से उसका आधा बल बालि को प्राप्त होजाता था। इस वरदान के अनुसार श्रीरामचन्द्र यदि सामने होकर उससे लड़ते तो उसको मारना कठिन होता, अन्य पक्ष में बालि जैसे पापी को मार देना सब प्रकार के विचार के अनुसार उस समय धर्म-कार्य था, इसलिये श्रीभगवान् ने देशकाल को देखकर युद्धनीति का अवलम्बनमात्र किया। जिससे बालि मारा गया और उनका अवतार कार्य निरुपद्रव हुआ। सुग्रीव, हनुमान् आदि वानरों की सहायता श्रीरामचन्द्र को प्राप्त होगई और सीता उद्धार तथ रावण वंश का निधन कार्य सहज होगया। यही प्रच्छन्न होकर बालिवध का धर्मानुकूल गूढ़ रहस्य है। आदर्श मानव श्रीरामचन्द्र भगवान् का चरित्र सर्वथा निर्दोष है, इसमें दोष ढूंढ़ने की प्रवृत्ति केवल अज्ञान का ही परिचायक है इसमें सन्देह नहीं।

श्रीभगवान् के अवतार श्रीरामचन्द्र की जीवनी का रहस्य वर्णन करके और उनके चरित्र पर जो जो सन्देह मनुष्यबुद्धि द्वारा हो सके हैं, उन सबका समाधान करके अब श्रीरामगीता-रहस्य के सम्बन्ध में विचार किया जाता है। श्रीभगवान् की यह गीता १८ अध्यायों में विभक्त है। उन अध्यायों के नाम ये हैं—(१) अयोध्यामण्डपादिवर्णन, (२) प्रमाणसारविवरण, (३) ज्ञानयोगनिरूपण, (४) जीवन्मुक्तिनिरूपण, (५) विदेह-

मुक्तिनिरूपण, (६) वासनाक्षयादिनिरूपण, (७) सप्त-भूमिकानिरूपण, (८) समाधिनिरूपण, (९) वर्णाश्रम-व्यवस्थापन, (१०) कर्मविभागयोग, (११) गुणत्रयविभागयोग, (१२) विश्वरूपनिरूपण, (१३) तारकप्रणवविभागयोग, (१४) महावाक्यार्थविवरण, (१५) नवचक्रविवेकयोग, (१६) अणिमादिसिद्धिनिरूपण, (१७) विद्यासन्ततिगुरुतत्त्व और (१८) सर्वाध्यायसङ्गति । सर्वाङ्गों से पूर्ण श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार यह गीता भी अठारह अध्यायों में ही पूर्ण हुई है । गीताएँ प्रायः उपनिषद्रूप ही हुआ करती हैं । वेद के तीन काण्ड हैं। यथाः—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड । धर्म के जितने अङ्ग हैं वे सब इन तीनों प्रधान धर्माङ्गों में मिलकर इनके अन्तर्विभाग बन सके हैं, इस कारण वेद केवल तीन काण्ड में ही विभक्त हैं । इस गीता में वेद के तीनों काण्डों का रहस्य यथावश्यक वर्णन किया गया है । वेद का ज्ञानकाण्ड, वेद का शिरोभाग और वेद का सार उपनिषद् कहाता है । यह सब लक्षण इस गीता में उपलब्ध है। अतः यह गीता उपनिषद्रूप है । श्रीभगवान् रामचन्द्र के मुख से निकले हुए वेदसाररूपी इस उप-निषद् ग्रन्थ को टीकासहित प्रकाशित करके मैंने अपने आपको कृतकृत्य और धन्य माना है ।

विजयसिंह ।

श्रीरामाय नमः ।

श्रीरामगीता

की

विषयानुक्रमणिका ।

श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा ।

हनुमान्‌जी की जिज्ञासा ।

श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा ।

तृतीय अध्याय ।

हनुमान्‌जी की जिज्ञासा ।

श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा ।

चतुर्थ अध्याय।

हनुमान्‌जी जिज्ञासा ।

श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा ।

पञ्चम अध्याय ।

हनुमान्‌जी की जिज्ञासा ।

श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा ।

लक्षण, देहपात के पश्चात् होनेवाली विदेहमुक्ति की अवाङ्मनसगोचर होने के कारण अविश्वसनीयता ।

(३) विदेहमुक्त और स्थितप्रज्ञ की विस्तृत व्याख्या तथा उनकी प्रशंसा ।

हनुमान्‌जी की जिज्ञासा ।

(४) पुन प्रश्न के लिये क्षमाप्रार्थना, विदेहमुक्ति में केवल अखण्डैकरस रहता है इस कथन से अद्वैत की स्थिति में बाधा होने की शंका और उसको अनेक युक्तियां, समाधि के द्वारा शरीर रहते विदेहमुक्ति प्राप्त होने का निराकरण और देहपात के पश्चात् होनेवाली विदेहमुक्ति की दृढ़ता ।

श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा ।

(५) संशयवृद्धि से कल्याण और विचार की दृढ़ता होने का और बार बार प्रश्न करने से क्रोध न होने का आश्वासन और इसमें दृष्टान्त, मध्याह्नकालीन सूर्य्य के समान अद्वैतम । की प्रचण्डता तथा सर्वनिरपेक्षता और इसी कारण इसमें द्वैत शङ्का की असम्भावना, निर्गुण ब्रह्म के विषय में अप्रष्टव्यता, दोनों मुक्तियों के लिये समाधि की साधनता आदि विषयों की विवेचना, सिद्धान्तविषय धारण करने के लिये हनुमान्‌जी को आज्ञा, विदेहमुक्तिप्राप्त माण्डव्यजनकादि का दृष्टान्त ।

(६) विदेहकैवल्यप्राप्ति का उपाय, जीवनमुक्ति और विदेहमुक्ति का अधिकारनिर्णय, विदेहमुक्तों को अभिवादन और उनकी प्रशंसा ।

षष्ठ अध्याय ।

श्रीहनुमान्‌जी की जिज्ञासा ।

(१) वेदान्त का सारांश जानने पर भी इन्द्रियों का विषयों में सहसा पतन होने से दुःखप्रकाश, विषयासक्त मन निर्विषय ब्रह्म में किस प्रकार संलग्नहो इसकी चिन्ता, विषयों में इन्द्रियों की आसक्ति न होने के उपायविषयक जिज्ञासा ।

श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा ।

(२) विषयों में अनासक्ति होने के उपायों को सुनने के लिये हनुमान्‌जी को सावधान होने की आज्ञा, विषयों को जय करने के लिये वासनाक्षय तत्त्वज्ञान और

मनोनाश इनतीनों के युगपत् अभ्यासकी आवश्यकता, एक साथ इनका अभ्यास न करके पृथक् पृथक् अभ्यास करनेसे निष्फलत्व और इस विषय का विस्तृत ऊहापोह, भोगेच्छात्याग और इस साधन के करनेके लिये हनुमान्जी को आज्ञा, विदेहमुक्ति के लिये इस साधनत्रयकी परम आवश्यकता।

हनुमान्जी की जिज्ञासा।

(३) प्रारब्धवेगजनित विषयवासना रहने परभी जीवन्मुक्त में सब अनर्थों की निवृत्ति, आनन्दप्राप्ति तत्त्वज्ञाता और शान्तचित्तत्व आदि देखने से पूर्वोक्त साधनत्रय के एक साथ अभ्यास करने की अनावश्यकताप्रतीति तथा उन साधनों का एक साथ अभ्यास होने की अशक्यता आदि विषयों का सन्देह और उसके निराकरणविषयक जिज्ञासा।

श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा।

(४) प्रारब्धकर्मों से युक्त होनेके कारण जीवन्मुक्त में आनन्द तथा ज्ञान आदि की अपूर्णता और विदेहमुक्त में उनकी पूर्णता आदिका वर्णन, हनुमान्जी में साधनत्रयका युगपत् अभ्यास करने की योग्यता का सयुक्तिक निर्देश, साधनत्रयका एक साथ अभ्यास न करने का दोष और करने का सुफल वर्णन, चिरकाल तक अभ्यासयोग के विना जन्मान्तरशताभ्यस्त वासना का क्षय असम्भव, शुभ और अशुभ द्विविध वासनाव्यूहवर्णन और शुभ के द्वारा अशुभको पराजित करने की आज्ञा, अभ्यास सफल होने का सङ्केत, शुभवासना वृद्धि में अदोष और अशुभ में दोष, वासनात्याग का महत्त्व, निष्काम कर्म की आज्ञा, ऐहिक वासनात्याग होने पर भी जन्मान्तरीय वासनाके द्वारा इन्द्रियों का विषयों में पतन होना, वासना की ऋषिकृत निरुक्ति।

(५) चित्तसम्बन्धी नाना विचार, सरूप और अरूपभेद से द्विविध चित्तनाश, जीवन्मुक्ति में सरूप और विदेहमुक्त में अरूप की सङ्गति, संसारवृक्ष का मनोमूलकत्व और मनका सङ्कल्परूपत्व, मनोनाशका महत्त्व और उसके करने की आज्ञा, शुभेच्छा आदि सप्त भूमिकाओं की चर्चा और उसके चिन्तन के लिये आदेश, अनेक जन्मान्तरीय महापुण्यों से आद्यभूमिका की भी प्राप्ति और उसपर आरूढ़ होने का फल।

सप्तम अध्याय।

हनुमान्जी की जिज्ञासा।

(१) सब तत्त्वों की सारांशभूता सप्तभूमिकाविषयिणी जिज्ञासा।

श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा।

(२) सप्तभूमिकाओं के नाम, उनके अनुभव, उनकी अवस्थाओ का वर्णन और इनमें विहार करने वालों की नाना संज्ञाएँ, जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त के पार्थक्य का हेतु।

हनुमान्‌जी की जिज्ञासा।

(३) अज्ञान, आवृति आदि सप्त अवस्थाएँ क्या पूर्वोक्त सप्तभूमिकाओं से भिन्न हैं या अभिन्न इस विषयकी जिज्ञासा।

श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा।

(४) संख्या की समानता से सप्तावस्था और सप्तभूमिकाओं में अभिन्नता प्रतीत होने पर भी सूक्ष्मदृष्टि से इन दोनों में पार्थक्यनिर्देश और इस विषय में विस्तृतरूप से ऊहापोह, जीवन्मुक्तकी शोकमुक्ति और विदेहमुक्त की निरङ्कुशा तृप्ति के साधन, ब्रह्मत्व प्रकृतित्व आदि सप्तअवस्थाओं के साथ सप्तभूमिकाओं की भेददृष्टि रखने की आज्ञा।

हनुमान्‌जी की जिज्ञासा।

(५) ब्रह्मत्वादि सप्त अवस्थाओं को विस्तार से सुनने की जिज्ञासा।

श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा।

(६) श्रीवशिष्ठजीसे आत्मविद्या प्राप्त करनेकी चर्चा, ब्रह्मत्व प्रकृतित्व आदि सप्त अवस्थाओं का विस्तृत विवेचन करते हुए माया उसके भेद, ईश्वर, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, माया की द्विविध शक्ति, उनके नाम और कार्य, जीवभाव और उसका विनाशोपाय आदि विषयों की विस्तृत विवेचना, चार अवस्थाओं के त्याग और तीन अवस्थाओं के प्राप्त करने की आज्ञा।

अष्टम अध्याय।

हनुमान्‌जी की जिज्ञासा।

(१) द्वैतस्फूर्त्तिविनाशिका समाधिविषयिणी जिज्ञासा।

श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा।

(२) नामरूपात्मक जगत् की उपेक्षा करके सच्चिदानन्द में तत्पर होकर हृदय अथवा बहिर्देश में समाधि करने की आज्ञा, समाधि के भेद, भेदान्तर,

अवस्थाविशेष और उनके लक्षण आदिका वर्णन, असंप्रज्ञात अर्थात् निर्विकल्प समाधिकी महिमा और उसमें योगियों का प्रेम।

(३) योगनिरूढ़ि में नाना मत, शब्दविद्ध समाधियुक्त योगी को अपने में भावनाविशेष करने की आज्ञा और उसका फल, शब्दानुविद्ध समाधि के छः भेद, उनके कारण और जिनमें से अन्तिम चार का दुर्लभत्व, षट् समाधियों के अन्तर्गत सैकड़ों समाधियों का होना, समाधिकी अनेक निरुक्तियां समाधिरहित वेदान्ततत्त्वज्ञों की भी अप्रशंसा, शुकादि ब्रह्मर्षि और इन्द्रादि देवताओं के लिये भी समाधिका आश्रय, समाधि की महती प्रशंसा, समाधिस्थ पुरुष को आश्रम-कर्मादि के त्याग का अदोष और समाधिहीन की परम दुर्गति, समाधि करने के लिये आज्ञा।

नवम अध्याय।

हनुमान्‌जी की जिज्ञासा।

(१) समाहित पुरुषों के लिये स्नानादि आश्रम धर्म के त्याग करने की आज्ञा में उत्पन्न हुई शङ्का के निराकरण के लिये जिज्ञासा और इस विषय में अनेक शास्त्रीय तर्क।

श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा।

(२) इस प्रकार की शङ्का के लिये हनुमान्‌जी को साधुवाद, शास्त्रीय तर्कों का यथावत् समाधान, समाधिपरवश व्यक्ति के नित्यकर्मलोप आदि स्वेच्छाचार में अदुष्टता, इसमें वेश्या में षण्ढलोलुपत्व का दृष्टान्त, समाधिदशा में गृहस्थों का भी संन्यासिवत् होनेसे कर्मत्याग से प्रायश्चिती न होना, तुर्य्याश्रमियों के कर्म-कर्तृत्व की मीमांसा, संन्यासियों के लिये कर्मसाहित्य की अमुख्यता गृहस्थों की प्रार्थनासे दण्डादिग्रहण तीव्र और एकान्त मननशील व्यक्तिके कर्मत्यागसे प्रत्यवाय न होने का उल्लेख।

हनुमान्‌जी की जिज्ञासा।

(३) सुषुप्ति में सब प्राणियों के चित अत्यन्त लीन होने से कर्म्मलोपजनित दोष किसी को भी न लगाना चाहिये और महात्माओं के दर्शन होने से सब नियमों को रोक देना चाहिये इस अर्थवाद में दोष लगेगा इत्यादि शङ्काओं के निराकरणविषय जिज्ञासा।

श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा।

(४) सुषुप्ति में प्रलीनचितता का अभाव, महद्दर्शनविषयक अर्थवाद की

मीमांसा, स्वस्ववर्णाश्रमधर्म्मपालन का शुभ फल और उसके न पालन करने से हानि, वर्णाश्रमधर्म्म की विस्तार से महिमावर्णन।

(५) अतिवर्णाश्रमी के लिये स्वाचार तथा अन्याचार के त्याग करने से निर्दोषता, अतिवर्णाश्रमी का लक्षण भ्रष्टवर्णाश्रमी का लक्षण, परधर्म्मपालन में दोष, विदेहमुक्तिकी प्राप्ति के पूर्ण वर्णाश्रमी होने की आज्ञा, श्रौत तथा स्मार्त्त धर्म्मपालन के लिये दृढ़तर आदेश।

दशम अध्याय।

हनुमान्‌जी की जिज्ञासा।

(१ प्रश्न करने के लिये अवसर प्रतीक्षाविषयिणी जिज्ञासा।

श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा।

(२) प्रश्न करने की आज्ञा और उसका हेतु।

हनुमान्‌जी की जिज्ञासा।

(३) सञ्चित, आगामी तथा प्रारब्ध कर्म के सम्बन्ध में विद्वानों के द्विविध-पक्षविषयिणी जिज्ञासा।

श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा।

(४) दो पक्षों (मतों) में प्रथम की गौणता और द्वितीय की मुख्यता और क्रमशः दोनों के विचार करनेवाले जीवन्मुक्त तथा विदेहमुक्त, आद्यपक्ष में अनेक विरोधपरिदर्शन और इस विषय में शास्त्रीय विविध तर्क, वितर्क एवं उनकी यथावत् मीमांसा, देहात्मभाव तक प्रारब्ध कर्म्मभोग की अवधि का उल्लेख और उसकोत्याग करने के लिये आज्ञा।

हनुमान्‌जी की जिज्ञासा।

(५) भोग अथवा ज्ञान से सञ्चित और प्रारब्ध कर्मों के नाश होने पर जीवन्मुक्त के पाप एवं पुण्यों के मित्र और शत्रुओं में विनियोग होने की शङ्का-विषयिणी जिज्ञासा।

श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा।

(६) सम्यक् ज्ञानोदय के पूर्व लोकसंग्रहबुद्धि से किये हुए जीवन्मुक्त के क्रियमाणपुण्य कर्म्मों और अतथाविध नैमित्तिकादि पापकर्म्मों का मित्र और

श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा।

(२) विश्वरूप के श्रवण करने और उससे भयभीत न होने की आज्ञा।

हनुमान्जी की जिज्ञासा।

(३) एक बार श्रवण करने से समस्त भयनाशक आपका दिव्यस्वरूप श्रवण करने और आपकी निरन्तर अभयवाणी प्राप्त होने से भय क्यों होगा इस विषय की जिज्ञासा।

श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा।

(४) ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवों को भी भयोत्पादक विश्वरूपश्रवण से मूर्च्छा होने की अवश्यसम्भाविता, विस्तृत और अद्भुत विश्वरूपवर्णन और इसको श्रवण करके निमीलितनयन होकर अनुभव करने पर हनुमान्जी का मूर्च्छित होना और शीतलजल तथा व्यजन आदि उपचारों से पुनः स्वस्थतालाभ करना, उनके स्वस्थ होने पर पुनः विश्वरूपवर्णन।

हनुमान्जी की प्रार्थना।

(५) विश्वरूपश्रवण से हनुमान्जी के सर्वाङ्ग शिथिल होना और अन्यवचनों से रक्षा करने की प्रार्थना, अपनी हीनता और मायाके दुस्तरत्वका वर्णन, अपराध क्षमापन, श्रीरामजी के द्वारा मधुर वचनों से आश्वासन।

श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा।

(६) पुनः प्रश्न के लिये आज्ञा।

त्रयोदशत अध्याय।

हनुमान्जी की जिज्ञासा।

(१) राम, केशव, नारायण आदि भगवान् के नामों को प्रणाम करते हुए षोडशाक्षर, द्व्यक्षर, अष्टाक्षर और एकाक्षर आदि अनेक तारक मन्त्रों में कौन ठीकहै इस विषय की जिज्ञासा और श्रीरामजीके द्वारा बृहज्जालबालादि उपनिषदों की पौर्वापर्य्यसमालोचना करके निश्चित अर्थ का कथनोपक्रम।

श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा।

(२) शैव वैष्णव आदि पूर्वोक्त सब मन्त्रों के संसारतारक होनेकी स्वीकृति, प्रणवमन्त्र का सर्वश्रेष्ठत्व और साक्षात् मुक्तिदायित्व प्रणव का विस्तारपूर्वक

विभागवर्णन, प्रणव के मुख्य अर्थं का निर्देश, प्रणव की मात्राओं का सप्तभूमिकाओं के साथ सम्मेलन और इसकी उपासना तथा जप का फल, गौण प्रधानोपासना और मुख्य प्रधानोपासनारूप से इसके दो भेद और इनके अधिकारी, हनुमान्‌जी की श्रीरामजी के प्रणवार्थस्वरूप होने में जिज्ञासा और उसके कथनके लिये प्रार्थना।

श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा।

(३) प्रणव के अकारादि अक्षरों से सौमित्रि आदि की उत्पत्तिवर्णन, सीताके लिये मूलप्रकृति महामाया विद्या और लक्ष्मी आदि नामों का निदर्शन, प्रणव की सोलह अवस्थाओं का विस्तृतवर्णन और इनको जिस किसीसे कहनेका निषेध, इनके कहने योग्य अधिकारी और अनधिकारी का विस्तार से वर्णन, प्रणवकी इन षोडश मात्राओंका विशेष रूप से महत्त्वकथन।

चतुर्दश अध्याय।

हनुमान्‌जी की जिज्ञासा।

(१) चार महावाक्यों के विषय में जिज्ञासा।

श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा।

(२) यथाक्रम ऋक् आदि चारों वेदों में स्थित महावाक्यों का उल्लेख, उनके अक्षरों की गणना और उपदेशक्रम, इनको ग्रहण करने की विधि और अधिकारी, महावाक्यों का अर्थ और उपदेशक्रम, हनुमान्‌जी का पुनः प्रश्न।

हनुमान्‌जी की जिज्ञासा।

(३) प्रतिलोमभाव से रामजी के द्वारा वर्णित महावाक्यार्थ में और अनुलोमभाव से रहस्योपनिषद् में वर्णित महावाक्यार्थ में विरोधप्रतीति, रहस्योपनिषद् में वर्णित महावाक्यार्थं का विस्तृत वर्णन करके अनुलोम्य प्रतिपादन।

श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा।

(४) प्रतिलोमभाव से महावाक्यार्थकथन में युक्तिप्रदर्शन, रहस्योपनिषद् में कथित महावाक्यों के अर्थक्रम की सामान्यार्थता और स्वकथित क्रम की विशेषार्थता तथा प्रतिलोम क्रम में अनुबन्ध की सङ्गति होने के कारण इस

की समीचीनता एवं गुरुशिष्य क्रमोदित यजुः और सामवेद के वाक्यों पर ध्यान देने की आज्ञा।

(५) उपदेशके विना ब्रह्मात्मैक्याभ्यासकी अशक्यता और इस विषय में सन्देह करने का निषेध, परीक्षा द्वारा गुरुकथित विषयके मनन करनेमें श्रुति का साक्षित्व, महावाक्यात्मक मन्त्र का अत्यन्त गोपनीयत्व और हनुमान्जी पर परम स्नेह होने के कारण उसका प्रकाशन, महावाक्य से महावाक्यार्थ का श्रेष्ठत्व, महावाक्योपदेशक, तदर्थोपदेशक एवं तदर्थदाताओं का उत्तरोत्तर श्रेष्ठत्व और उसका हेतु, महावाक्यार्थों का अधिकारी और इनके श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन का फल, दशोपनिषदों और अष्ठोत्तरशतोपनिषदों में से प्रथम का श्रेष्ठत्व अथवा दोनों की समानता का सयुक्तिक विवेचन, दशोपनिषदों में कथित वाक्यों का अष्टोत्तरशतोपनिषदों में फलनिर्द्देश और इसमें यज्ञ का दृष्टान्त, मेरा शरणागत हो, मेराही दर्शन, श्रवण और निदिध्यासन करो, इस प्रकार की रामजी की आज्ञा गुरुशिष्यभेद का व्यवहारिकत्व, वास्तविक में दोनों का अभेदनिर्देश और इस विषय में नानाविध ऊहापोह, अभेदबुद्धि रखने की आज्ञा, हनुमान्जी का परमानन्दपूरित होकर प्रणत होना।

हनुमान्जी का निवेदन।

(६) अपनी परम कृतार्थता का प्रकाश, अपने तपोजन्मदानादि का साफल्यनिवेदन, शास्त्र, ज्ञान, गुरु और सुख की परम प्रशंसा, श्रीरामजी के प्रति उनकी अतुल प्रशंसा करते हुए कृतज्ञताप्रकाश, अनेकशः सविनय प्रणाम निवेदन।

पञ्चदश अध्याय।

हनुमान्जी की जिज्ञासा।

[१] नवचक्रविवेकविषयिणी जिज्ञासा।

श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा।

[२] नवचक्रों के नाम और वहां के ध्येयों के स्वरूप, ध्येयों का चेतनत्व, योगियों के ध्यानगम्य चेतनात्मक ध्येयों का विविध आकारनिर्देश, व्यवहार दशा में योगियों को इनका खण्डरूप से दर्शन होना, चेतनात्मक ध्येयों के भान से पूर्व तथा पश्चात् सिद्धिसूचक नादोंका श्रवण और उनका प्रकार, नादश्रवण तथा पूर्वोक्त ज्योतिर्ध्यान के होने का फल और न होने का फल, ज्योतिर्ध्यान की विस्तृत महिमा और उसके अन्वेषण की आज्ञा, इसके अभ्यासकाल में होनेवाले नाना विघ्नों का उल्लेख और तीव्र वैराग्य द्वारा उनके

निरसन करने की आज्ञा, सद्‌गुरु की कृपाबल से स्वरूपज्ञ होना, हनुमान्‌जी का पुनः प्रश्न ।

हनुमान्‌जी की जिज्ञासा ।

[३] जितेन्द्रिय, विद्वान् और अविद्वान् के लक्षणविषयिणी जिज्ञासा ।

श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा ।

[४] परिव्राट् का निर्मलत्वविधायक कर्तव्योपदेश, मुनि का लक्षण, मोक्ष प्राप्त करने योग्य यतिका निर्वचन, इन्द्रियसंयम का फल, कामों की उपभोग के द्वारा अभिवृद्धि और इसमें अग्नि और हविष् का दृष्टान्त, प्रत्येक इन्द्रियों का निर्देश करके जितेन्द्रिय का लक्षण, अवश्य मुक्त होनेवाले का लक्षण, सम्मान से ब्राह्मणों की हानि और अपमान से लाभ, अवमन्ता का बिनाश, अतिवाद, शत्रुता क्रोध, शाप और असत्यभाषण के त्याग करने का उपदेश, सुखार्थी का कर्त्तव्य, अमृतत्वप्राप्ति का उपाय, यति और अयति दोनों का विधेय, द्विविध योगियों के लिये पूर्वोक्त कर्त्तव्यों का आदेश चेतन का स्वरूपनिर्देश, बद्धत्वोपचार की व्याख्या, नाडी का पिण्ड, प्राण का नाडी, जीव का प्राण और हंस जीव का क्रमशः आश्रय है, हंसशब्द की व्याख्या और हंसमन्त्र के जप की आज्ञा, हंसमन्त्र के सगुणत्व तथा निर्गुणत्वविषय में शास्त्रीय अनेक विवेचना, नवचक्रस्थ आनन्द-चिदंशरूप आत्मा के साक्षात्कार का फल ।

षोडश अध्याय ।

हनुमान्‌जी की जिज्ञासा ।

[१] अणिमादिसिद्धिविषयिणी जिज्ञासा ।

श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा ।

[२] अणिमादि सिद्धियों का ब्रह्मज्ञानविरोधित्व प्रतिपादन, सिद्धि और मुक्तिमें अन्योऽन्यविरोध और दोनों की प्राप्ति का हेतु, वसिष्ठ आदि में दोनों प्राप्त होने के उदाहरण की व्यर्थता और उसका कारण, अद्‌भूत सिद्धियोंमें तथा आश्चर्य्यजनक घटनाओं में भी जीवन्मुक्त का विस्मयी न होना, आत्मज्ञ और जगद्भावों में आसक्तिकी असम्भावना, कलि में एकाधाररूप से दोनों सिद्धि और मुक्ति का सामानाधिकरण्य असम्भव, अगस्त्यादि के उदाहरण की व्यर्थता, सिद्धि की इच्छा के त्याग और ज्ञान की कांक्षा से अष्टोत्तरशत उपनिषदों के अभ्यास करने की आज्ञा और उसका हेतु ।

[३] सिद्धि और ज्ञान के साधन का पार्थक्य और इसलिये प्रकाश तथा तम जैसा दोनों का भेद, स्वसिद्ध का विस्तृत लक्षण, अणिमादि सिद्धि सम्बन्धिनी इच्छा का मोक्ष का प्रबल प्रतिबन्धक होना, विटसंसर्ग के समान मोहवर्द्धक सिद्धिों के त्याग का फल, आत्मज्ञान के गन्ध का लेश रहने पर प्राप्त सिद्धियों में अनिच्छा, सिद्धि का दोषवर्णन।

[४] संक्षप से सिद्धियों के नाम और इसकी प्राप्ति में सगुण ईश्वर की प्रसन्नता का कारणत्व, निर्गुण में आत्मसंयम का फल।

हनुमान्‌जी की जिज्ञासा।

[५] ईशप्रसादलब्ध सिद्धियों के पापतुल्यतावर्णन में संशय होने से उसके निराकरणविषयिणी जिज्ञासा।

श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा।

[६] मोक्षप्रतिबन्धक होने से ईशप्रसादलब्ध होने पर भी सिद्धियों की हेयता, इस विषय में और भी कारणान्तर निर्द्देश, चित्त एकाग्र करने के अनेक साधन और उनमें स्वात्मध्यान की मुख्यता, षण्मुखीकरणोपदेश और इसकी परम गोपनीयता।

सप्तदश अध्याय।

हनुमान्‌जी की जिज्ञासा।

[१] विद्यासन्ततिविज्ञानविषयिणी जिज्ञासा।

श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा।

[२] छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक आदि दशोपनिषदों में प्रपञ्चित विद्याओं की चर्चा, उन विद्याओं के नाम, ध्येय, उपाशनाक्रम, फल, भेद और भेद के फल आदि का संक्षेप से वर्णन।

[३] आचार्य्यों में विद्यासंतति के विज्ञान और शिष्य की चित्तपरीक्षा करने की योग्यता होने की परम आवश्यकता, गुरु और शिष्य के पारस्परिक अधिकारानधिकारनिर्णय, सद्‌गुरु तथा असद्‌गुरुओं द्वारा उपदिष्ट अर्थों का परिणाम, गुरुत्याग तथा शिष्यत्यागकी व्यवस्था, और उसमें प्रमाण, कर्म्माशिष्ट गुरु की निन्दा, गुरुग्रहण में नाना उद्देश्य, फलाभाव में गुरुसेवा की व्यर्थता, विधर्मी आचार्य्यों के त्याग करने की आज्ञा, विधर्म्मी होने पर मुझे भी त्याग दो ऐसी रामजी की आज्ञा।

[४] स्वधर्म्माचरण की प्रशंसा, माया की प्रबल शक्ति और उसके दूर करने का उपाय, इस गीता में सुने हुए विषयों की सफलता सम्पादनरूप गुरुदक्षिणा देने की आज्ञा।

अष्टादश अध्याय।

हनुमान्‌जी की जिज्ञासा।

[१] यथाक्रम धारणा के लिये पूर्वोक्त अध्यायों की सङ्गति निरूपण करने की जिज्ञासा।

श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा।

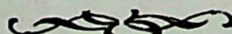
[२] सब अध्यायों के विषयों की संक्षेप से सूची तथा सङ्गति, इस गीता का महत्त्व, नानाविध चिन्तनाओं की चर्चा और उनमें रामगीताचिन्तन का सर्वश्रेष्ठत्व, इस गीता की परम गोपनीयता, भक्तिहीन को देने का निषेध, हनुमान्‌जी को परम आनन्द की प्राप्ति और पुनः प्रश्न।

हनुमान्‌जी की प्रार्थना।

[३] अन्य गीताओं से इस रामगीता के महत्त्व विषयिणी जिज्ञासा, विनयावनति और श्रीभगवच्चरणों की निरन्तर स्मृति के लिये प्रार्थना आदि।

श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा।

[४] शिष्यों में हनुमान्‌जी की श्रेष्ठता और उनको गीताज्ञान को गुप्त रखने की आज्ञा, रूपकालङ्कार में गीता का महत्त्वकथन, फलश्रुति, भगवान् का प्रसन्नतापूर्वक हनुमान्‌जी को आलिङ्गन करना।



श्री

श्रीरामगीता

भूमिका

सारा संसार किसी अदृश्यशक्तिद्वारा सञ्चालित है समयपर सूर्योदय सूर्यास्त होना, जाड़ा गर्मी बरसात का अपने समयपर होना, सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग में नियमानुसार धर्म, अधर्म, शील, स्वभाव, आयु, तथा शक्ति का परिवर्तितरूप, मनुष्यों में भी दैवी तथा आसुरी प्रकृति की भिन्नता, सहोदर सन्तान में भी शील स्वभाव आदि की भिन्नता, जड़-चेतन के अनेक रूप आदि ऐसे तथ्य हैं जिन्हें स्वतः समुद्भूत व क्रियाशील नहीं माना जा सकता। व्यवहार में भी देखाजाता है कि छोटा से छोटा कार्य भी बिना कर्ता के संभव नहीं फिर इतना बड़ा विस्तृत संसार, आकाश-पाताल, समुद्र, पहाड़, नद नदी बिना कर्ता के हैं यह सोचना केवल अज्ञान मूलक है।

जिस प्रकार मनुष्य अपने बनाये मकान दूकान बगीचे आदि सम्पत्ति की रक्षा के लिये सदा सचेष्ट रहता है उसी प्रकार वह कर्ता भी अपनी इस विशाल कृति की सुरक्षा के लिये सतत सचेष्ट रहता है। इसीको भगवान कहते हैं! ये सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, अज्ञेय, अनन्त तथा अनादि हैं। इनकी संकल्पशक्ति से ही चराचर जगत् की उत्पत्ति पालन तथा विनाश होता है। त्रिकालदर्शी महर्षियों ने तपोबल से दिव्यदृष्टि प्राप्तकर इस संबंध में बहुत कुछ जानने में सफलता प्राप्त की है। यह सारा ज्ञान संस्कृत वाङ्मय में दुर्लभ ग्रन्थ रत्नों के रूप में सुरक्षित है। जिनका अनुवाद मातृभाषा हिन्दी में भी

आंशिक रूप से उपलब्ध है तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं में ऐसा साहित्य पाया जाता है।

विभिन्न धर्मावलम्बियों के पंथ प्रवर्तकों ने इसीशक्ति को अपनी बुद्धिके अनुसार विभिन्न नाम दिये हैं और पंथ चलाने के लिये अपनी योग्यता व परिस्थिति के अनुसार पुस्तकें लिखी हैं जिन्हें उनके अनु-यायी ईश्वर प्रदत्त मान उनका अंधानुसरण करते हैं उनपर विचार व धार्मिक मीमांसा अपराध माना जाता है।

जिस प्रकार मनुष्य अपनी सम्पत्ति की सुरक्षाके लिये सशक्त रक्षक नियुक्त करता है उसी प्रकार भगवान् सृष्टि की सुरक्षा के लिये समय २ पर संत महात्माओं तथा महापुरुओं के रूप में अपनी आंशिक शक्तिके रूप में नियुक्त करते हैं जिन्हें कलावतार भी कहा जाता है।

सन्त तुलसी, सूरदास, पं० मदन मोहन मालवीय आदि आधुनिक तथा श्री शङ्कराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्री वल्लभाचार्य आदि प्राचीन काल की ऐसी ही विभूतियां थीं। सभी जानते हैं इन महापुरुषों ने कितना उपकार किया समाज का। भ्रान्त तथा पथभ्रष्ट लोगों का मार्ग दर्शन किया।

भगवान् की १६ कलात्मक शक्ति है। क्षुद्र जीवजन्तु भगवान् की एक कलात्मक शक्ति से ३ कलातक की शक्ति से विकसित होते हैं। पशु आदि ४ कला तथा मनुष्य ५ से ७ कला तक की शक्ति से विकसित होता है। साधारण मनुष्य ५ कला विशिष्ट योग्यता व प्रतिभा से सम्पन्न लोग ६ से ७ कला की शक्ति से विकसित होते हैं। ८ कला से पूर्वोक्त महापुरुषों का विकास होता है।

यदि कभी आसुरी शक्ति प्रबल हो दैवी शक्ति को पराभूत कर सृष्टिमें संकट उत्पन्न करती है और ८ कला वाले रक्षकों के नियन्त्रण में नहीं आती तब प्रभु परिस्थिति के अनुसार ९ से लेकर १६ कला

तक के अवतार ले उसका नियन्त्रण कर सृष्टि मे शान्ति व्यवस्था तथा सामान्य स्थिति लाते हैं। भगवान् ने गीता में कहा है "यदा-यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत, अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् "परित्राणाय साधूनाम्विनाशाय च दुष्कृताम्, धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे" जब धर्म का ह्रास हो अधर्म बढ़ता है तब मैं नियमन के लिये स्वयम् अवतार लेता हूँ। आगे और स्पष्ट करते हैं, सज्जनों की रक्षा कर दुष्टों का संहार करने के लिये प्रत्येक युग में आता हूँ। क्योंकि अधर्म बढ़ने से ही पापाचार बढ़ता है। धर्महीन, सज्जनों को सताते तथा धार्मिक कृत्यों को नष्ट करने लगते हैं इस लिये धर्म की स्थापना करने संसार में आता हूँ।

यद्यपि भगवान् के १० अवतार हुये हैं। तथापि अन्य अवतार मानव प्रकृतिके अनुकूल न होने से केवल पूज्य हैं अनुकरणीय नहीं। भगवान् श्री राम तथा कृष्ण जी का अवतार मानव प्रकृतिके अनुकूल होने से अधिक प्रियहुये इसीलिये इनके उपासकों की संख्या सर्वाधिक है। बुद्धावतार भी मानव प्रकृति के अनुकूल हुआ। किन्तु अहिंसा परमोधर्मः के सिद्धान्त को प्रमुखता प्रदान कर बढ़ी हिंसा को रोकने के प्रवाह में उन्होंने यज्ञों का जो विरोध किया। उससे उनका उपदेश वैदिक मान विरुद्ध होने के कारण सनातन धर्मियों ने उसे स्वीकार नहीं किया और आदि शङ्कराचार्य जी ने उसका खन्डन कर भारतवर्ष में पनपने नहीं दिया। फलतः वह भारत के बाहर जाकर फला फूला और आज भारत के बाहर उनके अनुयायियों की अच्छी संख्या है। यद्यपि तिब्बत पर चीनके आक्रमण व अधिकार के बाद दलाईलामा के भारत में शरणपाने के कारण यहां भी उनकी संख्या बढ़ी है।

भगवान् श्री कृष्ण जी का अवतार था। इनकी बाल लीला, रासलीला, गोचारण, आदि मतों को भक्तिरस में अवगाहितकर श्री कृष्ण चरणों में समाहित करने में अवश्य प्रेरक हुयीं। अघासुर-

वकासुर पूतना आदिका संहार, गोवर्द्धन धारण कुब्जाका उद्धार, मुष्टि चाणूर मर्दन कंसवध आदि लीला में भगवत्ता का प्रत्यक्षदर्शन करा भक्तिभाव बढ़ाने में सफल हुयीं। महाभारत युद्धद्वारा दुर्योधन दुशासन आदि मदोन्मत्त राजाओं का विनाश, अपने ही परिवार के उन्मत्त यादवों को भी परस्पर विनष्ट करा अवतार की सार्थकता सिद्ध की। धर्मभीरु पाण्डवों की रक्षा, द्रोपदी चीरहरण में उसकी सहायता, गर्भस्थ परीक्षित की रक्षा, तत्कालीन दुष्ट राजाओं के प्रताड़न से पीड़ित जनों के लिये सुरक्षित द्वारका बसाना आदि कार्य उनके सज्जनों की रक्षा के उद्घोष के परिचायक हैं।

युद्धस्थल में श्रीमद्भागवत् गीता का उपदेश दे कर्म भक्ति तथा ज्ञानकाण्ड की महत्ता तथा वास्तविकता निरूपितकर मानव जीवन को उचित दिशा दे धर्म की स्थापना तथा मानवता की प्रतिष्ठा की। आज सारे विश्वमें श्री भगवद्गीता प्रथम पुस्तक के रूप में मान्य तथा प्रेरणास्रोत है।

इन सब विशेषताओं के होते हुये भी भगवान् श्री कृष्ण का चरित्र प्रेरणादायक कहा जा सकता है अनुकरणीय नहीं। इसलिये इनका प्रचार प्रसार जन्मोत्सव व रासलीलाओं तक हो सीमित रह गया। वल्लभाचार्य जी ने इस वैष्णव सम्प्रदाय का प्रचार किया किन्तु वह गुजरातियों व गोस्वामियों तक प्रायः सीमित रहा।

भगवान् श्री राम का अवतार पूर्णरूपेण मानव चरित्र व प्रकृति के अनुरूप हुआ। इसी लिये इन्हें मर्यादा पुरुषोत्तम कहा गया। वास्तव में ये मर्यादा पुरुष तथा सर्वोत्तम पुरुष थे। सन्त तुलसी ने ठीक ही लिखा है रीतिर्नीति परमारथ स्वारथ, कोउ न राम सनि जानि यथारथ, रीति, अर्थात् अपनी कुल व देश की परम्पराका निर्वाह जिनका श्री रामजी के जीवन में सर्वत्र परिचय मिलता है। नीति भी उनकी अनुकरणीय है। रावण, विभिषण, वालि सुग्रीव हनुमान्, कैकेयी मन्थरा के साथ किन विषम परिस्थितियों में उन्होंने कैसा व्यवहार किया सर्व-

विदित है। परमार्थ-लंका का राज्य जीतकर विभीषण को दे दिया, ऋषिमुनियों की करुण गाथा सुन राक्षस वधका व्रत ले उनका संहार किया तथा ऋषिमुनियों का सम्मानकर उनकी जीविका का उचित प्रबन्ध किया। प्रजाको कोई कष्ट न हो इसका सदैव ध्यान रखते थे। इसीलिये महात्मा गान्धी ने स्वराज्य प्राप्ति के बाद देश में रामराज्य की कल्पना की थी। किन्तु उनकी कल्पना कल्पना ही रह गयी। उनके अनुयायियों ने सदा के लिये उसे दफना दिया।

स्वार्थ के संबंध में तो पराकाष्ठा है उनके कर्तृत्व की। बाल्यावस्था से ही गुरुजनोंके प्रतिश्रद्धा का पालन, भाइयोंके साथ व्यवहार, पिताकी आज्ञा मान वनगमन, वानर भालुओं को मिला रावणकुम्भकर्ण जैसे दुर्दान्त शत्रुओं से युद्ध, अयोध्यासे सेना बुला भरतको संकट में न डालना, अपनी सती साध्वी परमप्रेयसी सीता का परित्याग, यज्ञ में पत्नी की अनिवार्यतासे स्वर्णमयी सीता का निर्माणकर यज्ञ सम्पन्न करना किन्तु दूसरा विवाह न करना। प्राण प्रिय लक्ष्मण का परित्याग उन्हींका आदर्श है। इसप्रकार अपने चरित्रों द्वारा मानव जीवनको सफलत बा सार्थक बनाने का उपदेश ही रामचरित्र है। सीता हरणमें वन २ भटक उनकी खोज़करना, वियोगमें बिलाप, लक्ष्मण शक्तिमें भाई के वियोगकी कल्पनाकर करुण क्रन्दन भगवत्ता का परित्याग कर सहज मानव की भूमिका का निर्वाह किया।

इस प्रकार आरंभ से अंततक मानव चरित्रका निरुपण कर उन्होंने पूर्ण मानव बनने का उपदेश दिया है। यही कारण है न केवल भारत अपितु विदेशोंमें भी अनेकों प्रकारसे रामचरित्र चित्रण किया गया है। अनेक रामायण व गाथायें लिखी हैं कवियोंने। देशकी सभी भाषाओं में ऐसी अनेक गाथाये उपलब्ध हैं। इनमें संस्कृतमे श्रीवाल्मीकीय रामायण जिसे आदि महाकाव्य कहा जाता है व भाषा में तुलसीकृत मानस बहुत प्रचलित व प्रसिद्ध है।

भूमिका

श्री रामानन्दाचार्य, रामानुजाचार्य आदि अनेक आचार्योंने वैष्णव धर्म का सर्वाधिक प्रचार व प्रसार किया है। यही कारण है कि साधु-समाजमें सबसे बड़ी संख्या वैष्णवों इनके मठों, मंदिरों तथा प्रतिष्ठानों की है। जनता में भी सबसे अधिक संख्या रामभक्तोंकी ही है। यही कारण है कि श्रीरामजन्म भूमिबिवादको लेकर रामभक्तोंका जनमानस उद्वेलित हो उठा है। इसके विरुद्ध अनेक दलोंका विरोध होते हुये भी इस प्रवाह को रोकना भारत सरकारके भी बूतेके बाहर है।

इसी व्यापक भावनाको दृष्टिगत रख श्री भारतधर्म महामण्डलने रामगीताका प्रकाशन किया है कि केवल रामभक्त ही नहीं जन २ श्री रामका उपदेश पढ़ उसका मनन कर उसे भगवान् की वाणी समझ अपना जीवन सुधारें तथा लोक परलोक के लिये कल्याणकारी मार्ग प्रशस्त करें।

इसमें भी १८ अध्याय हैं जिनमें कर्मकाण्ड, उपासना तथा ज्ञान-काण्डका मार्मिक विवेचन है। गागरमें सागर भरदेनेका प्रयास किया गया है। आशा है इससे जन साधारणका कल्याण होगा। आधुनिक दंभी स्वार्थी तथा सिद्धान्त हीन लोगोंके भ्रामक प्रचारसे भटके लोग अपना हितकारक सुमार्ग चयन करनेमें सफल होंगे। श्री भारतधर्म महामण्डलने ऐसी ही अनेक दुर्लभ पुस्तकें प्रकाशितकी हैं देशवासियों के लाभ के लिये। सम्पर्क स्थापित कर लाभ उठावें।

ब्रजमोहन दीक्षित
अध्यक्ष
आलइन्डिया कौंसिल
श्री भारत धर्ममहामण्ड
लहुरावीर, वाराणसी।

श्रीमर्य्यादापुरुषोत्तमाय नमः ।

श्रीरामगीता

भाषानुवादटिप्पनीसहिता ।

अयोध्यामण्डपादिवर्णनम् ।

श्रीगुरुमूर्तिरुवाच ।

देवीं श्रीरामगीतां * तां ब्रह्मन्नत्यद्भुतामहम् ।
अत्युत्सुकोऽस्मि ते वक्तुं सावधानमनाः शृणु ॥१॥
अयोध्यानगरी रम्या सर्व्वलक्षणसंयुता ।
जितब्रह्मपुरी † साक्षाद्वैकुण्ठ इव विश्रुता ॥२॥

श्रीदक्षिणामूर्तिजी ने आज्ञा की ।

हे ब्रह्मन् ! मैं तुम्हें परम अद्भुत और दिव्यशक्तिप्रकाशक श्रीरामगीता को कहने के लिये अत्यन्त उत्सुक हूँ, उसे एकाग्रचित्त से सुनो ॥ १ ॥ सब लक्षणों से युक्त और ब्रह्मलोक को जय करने वाली अयोध्या नामक मनोहर नगरी प्रत्यक्ष वैकुण्ठ के समान प्रसिद्ध है ॥ २ ॥ उस नगरी के उद्यान (बड़ा बगीचा) में सर्व्वऋतु विराज-

---

* गीता शब्द ऋषिकाल से रूढि शब्द हो गया है। इस शब्द से कई भाव प्रकाशित होते है, यथा-पुराण में वेद के सारभाग उपनिषद्रूप से जो ग्रन्थ पौराणिक भाषा में प्रकाशित हैं ऐसे उपनिषद्ग्रन्थों को गीता कहते हैं। जो धर्म्मग्रन्थ सामवेद के तुल्य स्वर से गाये जाकर समान रूप से मनुष्य और देवताओं का आनन्द बढ़ावें उन ग्रन्थों को भी गीता कहते हैं । परम पवित्र ऐसे धर्म्मग्रन्थों को भी गीता कहते हैं कि जो तत्त्वज्ञान देकर जिज्ञासुओं को पवित्र करते हों ।

† जितब्रह्मपुरी अर्थात् ब्रह्मलोक को भी जय करनेवाली पुरी । शास्त्रों में चौदह लोक कहे गए हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्ड और प्रत्येक मनुष्यशरीररूपी पिण्ड का इन चौदह लोकों से सम्बन्ध है । ऊपर के सात लोक देवता और ऋषियों के रहने के लोक हैं और नीचे के सातलोक असुरों के रहने के लोक हैं । नीचे के लोक तो नीचे ही हैं परन्तु ऊपर के सात लोकों में पुण्यात्मा जीव सुख भोगने को जाते हैं। ऊपर के सात लोकों

तत्रोद्यानोत्तमं भाति सर्व्वर्तुपरिशोभितम् ।
सर्व्ववृक्षसमाकीर्णं सर्व्वपक्षिनिषेवितम् ॥३॥
वापीकूपतटाकैश्च मञ्जुलैरुपशोभितम्
सर्व्वसन्तापशमनं सर्व्वानन्दप्रदायकम् ॥
तन्मध्ये कोटिसूर्य्याभो भासते रत्नमण्डपः ।
अनेककाञ्चनस्तम्भैरमरैर्विधृतः परैः ॥५॥

मान हैं, सब प्रकार के वृक्ष लगे हुए हैं और सब जाति के पक्षी वहाँ विहार कर रहे हैं ॥ ३ ॥ वह उद्यान सुन्दर बावड़ी कूप तालाब से ऐसा सुशोभित है कि जिसके दर्शनमात्र से सब क्लेश नष्ट होते हैं और सर्व्वानन्द प्राप्त होता है ॥ ४ ॥ उस उद्यान के बीच में करोड़ों सूर्य्यों की कान्ति के समान कान्तिवाला रत्नमण्डप सुशोभित है जो सुवर्ण के अनेक खम्भों से ऐसा देख पड़ता है, मानो उसे श्रेष्ठ देवताओं ने धारण कर रक्खा हो ॥ ५ ॥ पाटों पर जड़ेहुए हीरों से और खम्भों के ऊपर की कीलों में लटकाए हुए मोतियों के हारों से ऐसा शोभायमान होरहा है, मानो

का नाम है, भू, (भूलोक अर्थात् मनुष्यलोक के उच्चलोक को पितृलोक कहते हैं) भुव, स्व, मह, जन, तप और सत्य । साधारण स्वर्गसुख भोगनेवाले पुण्यात्मा जीव तीसरे लोक अर्थात् स्वर्लोक तक पहुँचते हैं । बहुत ऊँची कोटि के पुण्यात्मा जीव तपलोक तक भी पहुँचते हैं । तपलोक में ब्रह्मपुरी विराजमान है । तपलोक तक के जीव मृत्युलोक में फिरकर आ सकते हैं यद्यपि तपलोक के सब उन्नत आत्माओं की पुनरावृत्ति मनुष्यलोक में नहीं होती परन्तु तपलोक से भी पुनरावृत्ति हो सकती है; और केवल सत्यलोक रूपी सातवें लोक से पुनर्जन्म नहीं होता है । इसी कारण जितब्रह्मपुरी शब्द का प्रयोग अयोध्या के विषय में किया गया है । अर्थात् अयोध्या-नगरी सप्तम लोक-सत्यलोक-के तुल्य है क्योंकि पुराणों में भी कहा है कि अयोध्या के सब मनुष्य श्रीभगवान् रामचन्द्र के साथ उनके प्रयाण के समय चले गये थे, इस कारण से अयोध्या नगरी ने ब्रह्मपुरी को जीत लिया है, ऐसा कह सकते हैं ।

तलसम्प्रोतवज्रैश्च श्रुतिवाक्यैस्सुशोभितः ।
स्तम्भाग्रशङ्कुषु प्रोतमुक्ताहारैर्महाक्षरैः ॥६॥
वैदूर्यकुट्टिमैस्सर्वमहर्षिनिवहैस्तथा ।
तोरणैः कदलीवृक्षैः पुराणैः स्मृतिभिस्तथा ॥७॥
विशालदर्पणैर्विद्याविशेषैस्समलङ्कृतः ।
दुकूलादिपटश्रेष्ठैर्महामन्त्रैरुपावृतः ॥८॥
विविधालेख्यकैश्शान्तिदान्त्यादिसुगुणैर्वृतः ।
मालतीमल्लिकाशोकैर्दर्शनश्रवणादिभिः ॥९॥
चन्दनागरुकर्पूरैः सांख्ययोगसमाधिभिः ।
फलपुष्पविशेषैश्च चिदानन्दादिवृत्तिभिः ॥१०॥

बड़े बड़े अक्षरों से उस पर वेदवाक्य अङ्कित किये गये हों ॥ ६ ॥ वहां नीलम का फर्श, तोरण और केले के वृक्षों से ऐसा सजाया है, मानो वहां पर सम्पूर्ण महर्षियों का सङ्घ, पुराण तथा स्मृतियाँ एकत्रित हुई हों ॥ ७ ॥ बड़े बड़े दर्पण तथा जरदोजी वस्त्रों से ऐसा अलंकृत किया गया है, मानो वह अनेक विद्याओं तथा महामन्त्रों से घेरा गया हो ॥ ८ ॥ अनेक प्रकार के चित्रों से और मालती, मल्लिका, अशोक आदिसे ऐसा सुसज्जित है मानो शान्ति, दान्ति आदि सद्गुणों से तथा दर्शन, श्रवण आदि से आवृत हो ॥ ९ ॥ चन्दन, अगरु, कपूर आदि से तथा फल फूलों से ऐसा भरापूरा है, मानो सांख्य, योग, समाधि तथा चिदानन्दादि वृत्तियों से युक्त हो ॥ १० ॥ ताम्बूल के बीड़े, उत्तम लौंग आदि

ताम्बूलवीटिकादिव्यलवङ्गाद्यैः सुभक्तिभिः ।
सौवर्णानेकपात्रैश्च वृतो निष्कामकर्मभिः ॥११॥
धूपदीपविशेषैश्च स्वधास्वाहाभिराश्रितः ।
विविधैः स्वर्णपीठैश्च यन्त्रश्रेष्ठैस्सुमण्डितः ॥१२॥
वादित्रैर्विविधैश्चापि योगैरष्टाङ्गसंयुतैः ।
षड्रसोपेतभक्ष्यैश्च स्वात्मानन्दामृतोत्करैः ॥१३॥
अनेकजन्मतपसां दर्शनीयश्च राशिभिः ।
मनसालोचितुमपि ह्यशक्यो विश्वकर्मणा ॥१४॥
चतुर्दशसु लोकेषु कुत्रचिन्न च यत्समः ।
भूतभव्यभविष्यत्सु न कालेषु च यत्समः ॥१५॥

से तथा भिन्न भिन्न प्रकार के सोने के पात्रों से सुशोभित है, मानों उत्तम भक्ति तथा निष्काम कर्मों से घिरा हो ॥ ११ ॥ धूप दीप आदि से तथा नानाप्रकार के सुवर्ण के सिंहासनों से ऐसा मनोहर है, मानो स्वधाकार, स्वाहाकार तथा श्रेष्ठ यन्त्रों से वह मण्डित हो ॥ १२ ॥ विविध बाजों तथा षड्रसंयुक्त खाद्य पदार्थों सें वह ऐसा सजा है, मानो अष्टाङ्ग योग तथा स्वात्मानन्दरूपी अमृत के तुषारों से युक्त हो ॥ १३ ॥ अनेक जन्मों की तपश्चर्या के समूह से ही जो देखा जा सकता है और विश्वकर्मा के लिये जिसका मनःकल्पना से भी देख लेना असम्भव है ॥ १४ ॥ भूतकाल, वर्तमानकाल और भविष्यत्काल में तथा चौदहों लोकों में कभी एवम् कहीं भी इसकी समता करनेवाला रत्नमण्डप नहीं है ॥ १५ ॥ उस रत्नमण्डप के बीच

तन्मध्ये वज्रवैदूर्यमुक्ताहारैरलङ्कृतम् ।
आभाति काञ्चनमयं बृहत्सिंहासनोत्तमम् ॥ १६॥
नित्यं विराजते तत्र श्रीरामो* निवसन् भृशम् ।
सीताभरतशत्रुघ्नैर्लक्ष्मणेन च सेवितः ॥१७॥
ब्रह्मणा च सरस्वत्या सनकाद्यैर्मुनीश्वरैः ।
वशिष्ठाद्यैश्शुकाद्यैश्च स्तूयमानो महर्षिभिः ॥१८॥
वेदपाठसमासक्तान्क्वचिच्छिष्यान्सुशिक्षयन् ।
तर्कव्याकरणादीनि क्वचिदङ्गानि शिक्षयन् ॥१९॥

में हीरा, नीलम और मोतियों के हारों से सजाया हुआ सोने का एक उत्तम और विशाल सिंहासन शोभायमान है ॥ १६ ॥ श्रीरामचन्द्रजी सीता, भरत, शत्रुघ्न और लक्ष्मण के द्वारा सेवा ग्रहण करते हुए उस सिंहासन पर नित्य ही विराजमान रहते हैं ॥ १७ ॥ जो भगवान् सरस्वतीजी, ब्रह्माजी, सनकादि मुनीश्वर और वशिष्ठादि तथा शुकादि महर्षियों द्वारा स्तुति किये जाते हैं ॥ १८ ॥ वे कभी वेदपाठी शिष्यों को न्याय व्याकरण का पाठ पढ़ाते और कभी वेदाङ्गों की भली--भांति शिक्षा देते हैं ॥ १९ ॥ और कभी प्रधान अधिकारियों को वेदान्त में कहे हुए रहस्यों के अर्थ का बोध कराते;

* लीलाविग्रहधारी लीलामय सगुण ब्रह्म की स्तुति करने का का सबसे प्रथम अधिकार विद्यारूपिणी वेदजननी सरस्वती देवी को है। दूसरा अधिकार सर्व्वजीवपितामह सृष्ठिकर्ता वेदप्रकाशक ब्रह्माजी को है। तीसरा अधिकार प्रथम ब्राह्मण आदिमानव आजन्म परमहंसव्रतधारी सनकादिकों को है। चौथा अधिकार ज्ञानप्रवर्त्तक अध्यातमराज्य के चालक वशिष्ठादिकों को है। और पाँचवाँ अधिकार संन्यास के आदर्श बालसंन्यासी शुकदेव को है। यही इस श्लोक का वैज्ञानिक रहस्य है।

वेदान्तोक्तरहस्यार्थान्क्वचिन्मुख्याधिकारिणाम् ।
बोधयन्नात्मना क्रीड़न् क्वचिदात्मसुखे रतः ॥२०॥
वज्रवैदूर्यगोमेदपुष्परागादिमण्डितम् ।
किरीटं शिरसा नित्यं भासयन् काञ्चनात्मकम् ॥२१॥
चन्द्रसूर्यप्रतीकाशे श्रोत्राभ्यामपि कुण्डले ।
उन्नतेनांसयुग्मेन सौवर्णाङ्गदयुग्मकम् ॥२२॥
अङ्गुलीयकसन्दोहं स्वकीयाङ्गुलिपल्लवैः ।
मुक्ताहारानतिस्थूलान् कण्ठोरोभ्यां मनोहरान् ॥२३
पीताम्बरं च मृदुलं कटिजानूरुणा स्वयम् ।
नूपुरद्वयमम्लानपादपद्मद्वयेन* च ॥२४॥

कभी आत्मा के साथ क्रीड़ा करते और कभी आत्मानन्द में मग्न हो जाते हैं ॥ २० ॥ हीरे, नीलम, गोमेदक, पुखराज आदि रत्नों से जटित सोने के किरीट को नित्य शिर से सुशोभित करते हैं ॥ २१ ॥ सूर्य चन्द्र के समान कान्तिवाले कुण्डल उनके दोनों श्रवणों से शोभायमान हैं और दो केयूर उन्नत स्कन्धों से सुशोभित हैं ॥ २२ ॥ अंगूठियों को अपनी अंगुलियों से भूषित किया है और बड़े बड़े मनोहर मोतियों के हारों को उरोदेश तथा कण्ठ के द्वारा सुशोभित किया है ॥ २३ ॥ कटि, जानु और ऊरू से नरम पीताम्बर स्वयं अलंकृत हुआ है तथा विना मुरझे हुए चरणकमलों के युग्म से नूपुरों की जोड़ी शोभायमान है ॥२४॥ शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म को धारण

* लौकिक जीवों के अङ्ग की शोभा रत्न और आभूषण बढ़ा सकते हैं परन्तु अलौकिक भगवल्लीलाविग्रह में तो ऐसा नहीं होता। वे तो केवल रत्न और अलङ्कारों की मर्य्यादा बढ़ाने के लियेही उनको धारण किये हुए दिखाई पड़ते हैं। इस कारण इस प्रकार का वर्णन ऊपर के स्थानों में आया है।

शङ्खचक्रगदापद्महस्तो नित्यं जगत्पतिः ।
श्रीरामो भगवाँस्तत्राप्यास निर्वेदमात्मनि ॥२५॥
लौकिकैर्वैदिकैश्चापि व्यापारैः श्रमहेतुभिः ।
विक्षिप्तचित्तो नैकान्त्यादैकान्त्ये कृतवान्मतिम् ॥२६
इङ्गितज्ञास्ततः सर्वे ब्रह्माद्या लक्ष्मणादयः ।
हनूमन्तं विना तूष्णीं द्वारपालं विनिर्ययुः ॥२७॥
रावणारिस्ततस्तत्र बद्धपद्मासनः स्वयम् ।
इन्द्रियाणि समस्तानि विषयेभ्य उपाहरन् ॥२८॥
सर्ववेदान्तसम्प्रोक्ते निर्विकल्पे निरञ्जने ।
निर्गुणे सच्चिदानन्दघने ब्रह्मणि निश्चले ॥२९॥

करने वाले जगत् के स्वामी, भगवान् श्रीरामचन्द्रजी सिंहासन पर बैठे हुए आत्मा में लीन हुए ॥ २५ ॥ श्रम के कारणभूत लौकिक और वैदिक कर्मों से चञ्चलचित्त हुए श्रीरामचन्द्रजी ने चारो ओर से अन्तःकरण को हटाकर उसे एकान्त में परिणत किया ॥२६॥ श्रीराम के संकेतों को जानने वाले ब्रह्मादि देवता तथा लक्ष्मण आदि परिजन द्वारपाल हनूमान को वहीं छोड़कर चुपचाप वहां से हट गये ॥ २७ ॥ फिर रावण के शत्रु (रामचन्द्र) वहां स्वयं बद्धपद्मासन हुए और उन्होंने सब इन्द्रियों को विषयों से हटाकर समस्त वेदान्त में कहे हुए, विकल्परहित, निरञ्जन, निर्गुण, सच्चिदानन्दघन निश्चल ब्रह्म में मनको स्थापन किया और शीघ्र ही वे अखण्ड आनन्द के सागरस्वरूप निर्विकल्प समाधि में अत्यन्त आदर के साथ निमज्जन करने लगे ॥ २८-३० ॥ परमानन्दस्वरूप अर्थात् निर्विकल्प समाधि-सम्पन्नपुरुष जहां अन्य कुछ नहीं देखता, अन्य कुछ भी नहीं सुनता

प्रतिष्ठाप्य मनस्तूर्णमखण्डानन्दसागरे ।
निर्विकल्पसमाधौ च ममज्ज भृशमादरात् ॥३०॥
यत्र पश्यति नान्यच्च न शृणोति च किञ्चन ।
न विजानाति किञ्चिच्च भूमानन्दस्वरूपवान् ॥३१॥
तत्सुखानुभवात्सर्वकरणोल्लाससंयुतः ।
जगद्रक्षणधीबीजैः प्रेरितो बहिराययौः* ॥३२॥

और अन्य कुछ नहीं जानता--उस समाधि के सुख के अनुभव से सब इन्द्रियों को उल्लसित करते हुए संसाररक्षा की बुद्धि के बीज से प्रेरित होकर श्रीरामचन्द्र पुनः व्युत्थान दशा को प्राप्त हुए अर्थात् जगत् की ओर उनकी दृष्टि पड़ी ॥ ३१-३२ ॥

---

* यह दशा निर्विकल्प समाधि में ही सम्भव है। पूर्णज्ञान की प्राप्ति निर्विकल्प समाधि में ही हुआ करती है। जब ध्याता ध्यान और ध्येयरूपी त्रिपुटी लय होजाती है परन्तु संस्कार का बीज रहता है उसको सविकल्प समाधि अर्थात् सबीज समाधि कहते है। इस दशा में जीवभाव बना रहता है। परन्तु निर्बीज समाधि अर्थात् निर्विकल्प समाधि के अधिकारी ऋतम्भराप्राप्त योगिराज की इस सर्व्वोत्तम दशा में संस्कार बीज दग्ध होजाने से उसमें जीवभाव का स्वार्थ सम्बन्ध कुछ भी नहीं रहता। अतः निर्विकल्प समाधिका अधिकारी अन्तःकरण भगवदन्तःकरण ही होजाता है। निर्विकल्प समाधिप्राप्त अन्तःकरण पूर्ण ज्ञानमय, निर्लिप्त, जीव अहङ्काररहित और केवल जगत् कल्याणभाव से भावित रहता है इस कारण श्रीभगवान् रामचन्द्र का अन्तःकरण निर्विकल्प समाधिप्राप्त है ऐसा कहागया है। निर्विकल्प समाधिप्राप्त व्यक्ति चाहे अवतार हो चाहे जीवन्मुक्त महात्मा हो उसकी दशा तीन प्रकार की है। प्रथम कर्मयोग की दशा, इस दशा में वह जो कुछ करता है प्रवाहपतित ईश्वर-इच्छारूपी कर्मस्रोत में बहता हुआ करता है; वह आत्मा में युक्त होकर और वासनारहित होकर करता है। यह उसकी साधारण कर्म्म की अवस्था है। निर्विकल्प समाधियुक्त व्यक्ति की जो ज्ञानयोग की दशा है वह कुछ अलौकिकही है। इस दशा में कार्य्यब्रह्म और कारणब्रह्म द्रष्टा और दृश्य दोनों की पृथक्ता नहीं रहती है इसी दशा को ब्रह्मसद्भाव कहते है। परन्तु निर्विकल्प समाधिप्राप्त व्यक्ति जब उपासनायोग में स्थित रहते हैं तब उनको इस ब्रह्मसद्भाव की दशा से उतरकर जगत् की ओर देखकर जगत् कल्याणार्थ कार्य्य भगवत् प्रेरणा से करना होता है। इसी दशा का वर्णन यहां कियागया है।

ततो भक्तहिते रक्तं रामं ज्ञात्वा महामतिः ।
प्राञ्जलिः पुरतो गत्वा हनूमान्पवनात्मजः ॥३३॥
प्रणम्य दण्डवद्भूमौ विनयावनताननः ।
अर्घ्यपाद्यादिभिस्सर्वैः परिपूज्य यथाविधि ॥३४॥
भक्त्या शुश्रूषया रामं तत्त्वार्थकथनोन्मुखम् ।
तोषयित्वा मृदुश्लक्ष्णमिदं पप्रच्छ सादरम् ॥३५॥
राम त्वं परमात्मासि सच्चिदानन्दविग्रहः ।
त्वमेव सर्वभूतानां सृष्टिस्थित्यन्तकारणम् ॥३६॥
इति जानामि सामान्यात् त्वत्सेवापुण्यगौरवात् ।
विशेषतः परिज्ञानाभावादस्मीह दु.खवान् ॥३७॥

तब श्रीभगवान् रामचन्द्र को भक्त के कल्याण करने में इच्छुक जानकर परम बुद्धिमान् वायुपुत्र हनुमानजी हाथ जोड़कर उनके निकट गये और उन्होंने श्रीरामजी कोभूमि में दण्डवत् प्रणाम कर, विनय से शिर झुकाकर, सब प्रकार के अर्घ्य पाद्य आदि से उनकी यथाविधि पूजा की ॥ ३३-३४ ॥ तत्त्वार्थों के कथन करने में उत्कण्ठित श्रीरामचन्द्रजी को भक्ति और शुश्रूषा से सन्तुष्ट कर आदर के साथ उनसे हनुमानजी ने इसप्रकार से मधुर और विनययुक्त जिज्ञासा की, उन्होंने निवेदन किया कि हे राम ! आप परमात्मा हैं, सच्चिदानन्दस्वरूप हैं, प्राणिमात्र के जन्म, स्थिति और संहार के आपही कारण हैं, ॥ ३५-३६ ॥ यह मैं आपकी सेवा के पुण्य प्रताप से साधारण तौर से जानता हूँ । इस सम्बन्ध में मुझे विशेष ज्ञान कुछ भी न होने से मैं दुःखित हूँ ॥ ३७ ॥

विचार्यमाणे संसारे दुःखमेव समन्ततः ।
तथापि सुखबुद्ध्याऽहं बलिशे मत्स्यवद्गतः ॥३८॥
अहो दु.खोदधेः पारं नावगच्छामि चिन्तयन् ।
देहो रोगालयो नित्यः षड्भावा यस्य निश्चिताः॥३९
अनेन कृतकृत्यत्वं कथं वज्रसमेन वा ।
देहेन सर्वथाप्यस्माच्छ्रेयोन्यत्रेति मे मतिः ॥४०॥
तवैतत्सगुणं रूपं माययाविष्कृतं त्वया ।
सर्वज्ञेन दयासिन्धो सर्वशक्तिमता स्वयम् ॥४१॥
सर्वलोकहितार्थाय चित्तशुद्ध्यै विकामिनाम् ।
हृत्पद्मकुहरे नित्यं ध्येयं सुनिपुणैरपि ॥४२॥

विचार किया जाय तो इस संसार में चारो ओर दुःख ही भरा है, तौ भी इसी में सुख की बुद्धि रखकर मैं काँटे में मछली की तरह फँस रहा हूँ ॥ ३८ ॥ यह देह रोगों का घर है और उसमें नित्यस्थित छः भाव (मातृ, पितृ वीर्य का एकत्र होना, गर्भवास, जन्म वृद्धि, वृद्धत्व और मरण) निश्चित है, इसकारण चिन्ता होती है कि अहो ! मैं दुःखों के सागर से पार नहीं जा सकूंगा । इस वज्र के समान देह के होने पर भी मुझे कृतकृत्यता कैसे प्राप्त होगी ? पश्चात् मैं विचारता हूँ कि कल्याणका मार्ग इससे अवश्य ही भिन्न है ॥३९-४०॥ हे दयासागर ! यह आपका सगुणरूप, जो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है उसको आपने सब लोगों के कल्याण तथा निष्काम व्रतधारी पुरुषों की चित्तशुद्धि के लिये माया से स्वयं प्रकट किया है, वह सत्पुरुषों द्वारा भी हृदयकमल के मध्य में नित्य ही ध्यान करने योग्य है ॥ ४१-४२ ॥

अपरोक्षीकृतं ह्येतन्मत्पूर्वसुकृतैः परैः ।
अन्यत्तु निर्गुणं रूपमदृश्यं चर्मचक्षुषा ॥ ४३॥
अशरीरं महाकाशसदृशं ज्योतिरुत्तमम् ।
प्रसिद्धं नित्यशुद्धं च नित्यबुद्धं च शाश्वतम् ॥४४॥
नित्यमुक्तं च सर्वेषां परमात्माख्यमव्ययम् ।
अहं वेदितुमिच्छामि कृपा यद्यस्ति ते मयि ॥४५॥
अहं चात्राधिकारी चेन्नायासस्ते च वाग्व्यये ।
प्रार्थयाम्यात्मलाभार्थं वक्तव्यमिति तद्विभो ॥४६॥

इति तत्त्वसारायण उपासनाकाण्डस्य द्वितीयपादे सर्ववेद-रहस्यार्थासु श्रीरामगीतासूपनिषत्सु अयोध्यामण्डपादि वर्णनं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

मेरे पूर्व जन्मके श्रेष्ठ पुण्यों से यह मैंने प्रत्यक्ष कर लिया, परन्तु आपका दूसरा निर्गुणस्वरूप चर्मचक्षुओंसे नहीं देखा जा सकता ॥४३ क्योंकि वह शरीरहीन, महाकाश के समान, ज्योतिः स्वरूप, उत्तम, नित्यशुद्ध, नित्यबुद्ध शाश्वत, नित्यमुक्त और अव्यय है तथा सबका परमात्मा इस नाम से प्रसिद्ध है । यदि मुझपर आपकी कृपा हो तो मैं उसे जानना चाहता हूँ ॥ ४४-४५ ॥ मैं इस विषय में यदि अधिकारी होऊं और आपको कहने में कष्ट न हो तो हे विभो ! आत्मलाभ की इच्छा से मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप उसे कहें ॥ ४६ ॥

इसप्रकार तत्त्वसारायण के अन्तर्गत उपासनाकाण्ड के द्वितीय पाद में कथित समस्त वेदों के अर्थों को प्रकाश करनेवाली श्रीरामगीता उपनिषद् का अयोध्यामण्डपादि वर्णन नामक प्रथम अध्याय समाप्त हुआ ॥ १ ॥

प्रमाणसारविवरणम् ।

श्रीरामचन्द्र उवाच ।

साधु साधु महाप्राज्ञ मारुते जगतां हितम् ।
संसारमोक्षवर्त्मेदं भवता पृष्टमद्भुतम् ॥ १ ॥
मत्तो विदितवेदार्थः प्रायेण त्वमरिन्दम ।
तथापि विस्तरेणाद्य वक्तुमत्युत्सुकोऽस्मि ते ॥२॥
त्वत्समो नाधिकारी स्याद् ब्रह्मविद्यासु कश्चन ।
किं करिष्याम्यदेयेन रहस्येनाप्यहं तव ॥ ३ ॥
मत्प्रीतिविषयो लोके त्वदन्यो नैव विद्यते ।
एह्यास्त्व निकटे पाणिस्त्वद्गात्रस्पर्शमिच्छति ॥४॥
इत्युक्त्वा स हनूमन्तमापादतलमस्तकम् ।
विमर्शन्वक्तुमारेभे तत्त्वार्थं रघुपुङ्गवः ॥ ५ ॥

श्रीरामचचन्द्रजी बोले हे महाप्राज्ञ, वायुपुत्र! तुमने जगत्–कल्याणकारी संसार से मुक्त होने का अद्भुत मार्ग पूछा यह अच्छा किया ॥ १ ॥ हे शत्रु का दमन करने वाले! तुमको मुझसे प्रायः वेदों का अर्थ विदित हो चुका है, तथापि आज विस्तार के साथ वही तुम्हें कह देने के लिये मैं अत्यन्त उत्सुक हूँ ॥ २ ॥ ब्रह्मविद्या की शिक्षा ग्रहण करने में तुम्हारे समान कोई अधिकारी नहीं है अतः इसका रहस्य तुम्हें न बताऊँ तो किसे बताऊँ? ॥ ३ ॥ संसार में तुम्हारे अतिरिक्त मेरा कोई प्रेमपात्र नहीं है, इसलिये आओ, मेरे निकट चले आओ, मेरा हाथ तुम्हारे शरीर को स्पर्श करना चाहता है ॥ ४ ॥ यह कहकर श्रीरामचन्द्रजी ने हनूमान् के सब शरीर पर हाथ फेरते हुए तत्त्वार्थ को कहना प्रारम्भ किया ॥५॥

अशनाद्यैरतीतं यद् ब्राह्मक्षत्रादिवर्जितम् ।
पाप्मादिदोषरहितं निश्चलं पूर्णमद्वयम् ॥ ६ ॥
अवस्थात्रितयातीतं पञ्चकोशादिवर्जितम् ।
चिन्मात्रं केवलं ब्रह्म सुसूक्ष्मं निर्गुणं परम् ॥ ७ ॥
तदेव मत्स्वरूपं स्यात्पारमार्थिकमद्भुतम् ।
तत्तु सर्वेषु नित्येषु वेदान्तेषु प्रतिष्ठितम् ॥ ८ ॥
वेदान्तेतरवाक्यैस्तु न सम्यग्ज्ञातुमर्हसि ।
श्रुतिस्मृतिपुराणेषु श्रुतेरुक्ता हि मानता ॥ ९ ॥
तस्मात्संसारमोक्षार्थी त्वमद्यैवाञ्जनासुत ।
मत्सत्यरूपबोधार्थं वेदान्तान्समुपाश्रय ॥ १० ॥

क्षुधा तृषादि रहित, ब्राह्मण क्षत्रियादि से भिन्न, पाप आदि दोषों से मुक्त, अचल पूर्ण, अद्वितीय, जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं से परे, पञ्चकोश आदिसे अतीत, केवल, ज्ञानमय, अत्यन्त सूक्ष्म, गुणरहित, श्रेष्ठ जो ब्रह्म है, वही मेरा पारमार्थिक अद्भुत स्वरूप है और वही सम्पूर्ण नित्य (कभी नाश को प्राप्त न होने वाले) वेदान्तों में प्रतिष्ठित हैं ॥ ६—८ ॥ श्रुति, स्मृति और पुराणों में श्रुति ही प्रधान है, अतः वेदान्त के विना अन्य वाक्यों से उस स्वरूप का यथार्थ बोध तुम्हें नहीं होगा । ॥ ९ ॥ इसलिये संसार मुक्त होने की इच्छा करने वाले हे अञ्जना के पुत्र ! मेरे सत्य स्वरूप को जानने के लिये तुम आजही वेदान्तों का* आश्रय करो ॥ १० ॥ समस्त तत्त्वार्थ जिसमें भरे हुए हैं, उस साक्षात्

* वेदान्तों से यहाँ आत्मज्ञानप्रकाशक श्रुतियों से तात्पर्य है ।

साक्षादुपनिषद्देवी सर्वतत्त्वार्थगर्भिणी।
तया नाविदितं किंचिद्रहस्यं वर्तते क्वचित् ॥११॥
तामुपाश्रित्य मां पृच्छ मद्रूपं पवनात्मज।
संसारतप्तस्तां गच्छ क्षुधार्तो मातरं यथा ॥ १२॥

वायुपुत्र उवाच।

वेदान्ताः के रघुश्रेष्ठ वर्तन्ते कुत्र ते वद।
राम वेदाः कतिविधास्तेषां शाखाश्च राघव॥१३॥
तासूपनिषदः काः स्युः कृपया वद तत्त्वतः।
यासामर्थपरिज्ञानान्मुच्येयं भवबन्धनात् ॥१४॥

श्रीरामचन्द्र उवाच।

हनूमञ्छृणु वक्ष्यामि वेदान्तस्थितिमञ्जसा।
निःश्वासभूता मे विष्णोर्वेदा जातास्सुविस्तराः॥१५॥

देवीस्वरूप उपनिशद् से कोई भी रहस्य छिपा हुआ नहीं है ॥ ११ ॥ हे पवननन्दन! क्षुधार्त बालक जिस प्रकार माता के निकट पहुंचता है, उसीप्रकार यदि तुम संसार के तापों से तप्त हो तो उसी उपनिषद् स्वरूप देवी का आश्रय लेकर मुझसे मेरे स्वरूप के सम्बन्ध में प्रश्न करो ॥ १२ ॥ हनूमान्जी ने कहा :- हे रघुनाथजी! वेदान्त कौन हैं और वे कहां हैं? हे रामजी! वेद कितने प्रकार के हैं और हे राघव! उनकी कितनी शाखाएँ हैं, सो कहिये ॥ १३ १४ ॥ श्रीरामचन्द्रजी बोले :- हे हनूमान्! मैं शीघ्र ही तुमसे वेदान्त की स्थिति कहूँगा उसे सुनो। मुझ विष्णु के निःश्वासस्वरुप अनन्त वेद उत्पन्न हुए हैं ॥ १५ ॥ तिल में जिसप्रकार तेल होता है, उसीप्रकार

तिलेषु तैलवद्वेदे वेदान्तस्सुप्रतिष्ठितः।
ऋग्वेदादिविभागेन वेदाश्चत्वार ईरिताः॥१६॥
तेषां शाखा ह्यनन्ताः स्युस्तासूपनिषदस्तथा।
ऋग्वेदस्य तु शाखाः स्युरेकविंशतिसंख्यया॥१७॥
नवाधिकशतं शाखा यजुषो मारुतात्मज।
सहस्रसंख्यया जाताश्शाखाः साम्नः परंतप॥१८॥
अथर्वणस्य शाखाः स्युः पञ्चाशद्भेदतो हरे।
एकैकस्यास्तु शाखाया एकैकोपनिषन्मता॥१९॥
तासामेकामृचं भक्त्या यः पठत्यधिकं मयि।
स मत्सायुज्यपदवीं दुर्लभां प्राप्नुयान्नरः॥२०॥

वेद में वेदान्त भली भाँति प्रतिष्ठित है। ऋग्वेद आदि के विभाग से वेद चार कहे गये हैं॥ १६॥ उनकी शाखाएँ अनन्त हैं और उन्हीं में फिर उपनिषद् भी है। ऋग्वेद की शाखाओं की संख्या इक्कीस हैं॥ १७॥ हे वायुपुत्र! एक सौ नौ शाखाओंवाला यजुर्वेद है। हे शत्रुओंको ताप देने वाले! सामवेद की शाखाओं की संख्या सहस्र है॥ १८॥ हे कपीश! अथर्वण वेद की पचास प्रकार की शाखाएँ हैं और उक्त समस्त शाखाओं में से एक एक शाखा का एक एक उपनिषद् कहा गया है॥ १९॥ उनमें से एकही ऋचा (मन्त्र) अथवा अधिक भी जो मुझमें भक्ति रखकर पढ़ता है, वह मनुष्य कठिनता से प्राप्त होने वाली मेरी सायुज्य पदवी को प्राप्त करता है॥ २०॥ यद्यपि सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य की अपेक्षा

तेभ्यस्सालोक्यसारूप्यसामीप्येभ्योऽधिकाऽपि सा ।
सायुज्यमुक्तिः पञ्चम्या कैवल्याभिधया हृता ॥२१॥

वायुपुत्र उवाच ।

इयं कैवल्यमुक्तिर्मे केनोपायेन सिद्धयति ।
यया संसारकूपेऽस्मिन्न भवेत्पतनं पुनः ॥२२॥

श्रीरामचन्द्र उवाच ।

ईशकेनकठप्रश्नमुण्डमाण्डूक्यतित्तिरिः ।
ऐतरेयञ्च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा ॥२३॥
ब्रह्मकैवल्यजाबालश्वेताश्वो हंस आरुणिः ।
गर्भो नारायणो हंसबिन्दुनादशिरश्शिखा ॥२४॥
मैत्रायणी कौषितकी बृहज्जाबालतापिनी ।

सायुज्य मुक्ति श्रेष्ठ है, तथापि उसका भी गौरव पांचवी कैवल्य नाम की मुक्ति ने हरण कर लिया है ॥ २१ ॥ श्रीहनूमान्‌जी ने पूछाः-यह कैवल्यमुक्ति मुझे किस उपाय से प्राप्त होगी ? जिससे इस संसार कूप में मेरा पुनः पतन न हो ॥ २२ ॥ श्रीरामचन्द्रजी बोलेः-- (१) ईश (२) केन, (३) कठ (४) प्रश्न, (५) मुण्ड, (६) माण्डूक्य, (७) तैत्तिरीय, (८) ऐतरेय, (९) छान्दोग्य, (१०) बृहदारण्यक, ॥ २३ ॥ [१] ब्रह्म, [२] कैवल्य, [३] जाबाल, [४] श्वेताश्वतर, [५] हंस, [६] आरुणिक, (७) गर्भ, (८) नारायण, (९) परमहंस, [१०] ब्रह्मबिन्दु, [११] अमृतनाद, [१२] मैत्रायणी, [१५] कौषितकी, [१६]

कालाग्निरुद्रमैत्रेयी सुबालक्षुरिमन्त्रिका ॥२५॥
सर्वसारं निरालम्बं रहस्यं वज्रसूचिकम् ।
तेजोनादध्यानविद्यायोगतत्त्वात्मबोधकम् ॥२६॥
परिव्राट् त्रिशिखी सीता चूडानिर्वाणमण्डलम् ।
दक्षिणा शरभं स्कन्दं महानारायणद्वयम् ॥२७॥
रहस्यं रामतपनं वासुदेवञ्च मुद्गलम् ।
शाण्डिल्यं पैङ्गलं भिक्षु महच्छारीरिकं शिखा ॥२८
तुरीयातीतसंन्यासपरिव्राजाक्षमालिका ।

ज्जाबाल, (१७) नृसिंहपूर्वतापिनी, (१८) कालाग्निरुद्र, (१९) मैत्रेयी, (२०) सुबाल, (२१) क्षुरिका, (२२) मन्त्रिका ॥ २५ ॥ १. सर्वसार, २. निरालम्ब, ३. शुकरहस्य, ४. वज्रसूचिक, ५. तेजोबिन्दु, ६. नादबिन्दु, ७. ध्यानबिन्दु, ८. ब्रह्मविद्या, ९. योगतत्त्व, १०. आत्मबोध, ११. नारदपरिव्राट् १२. त्रिशिखी ब्राह्मण, १३. सीता १४ योगचूड़ामणि १५. निर्वाण १६. मण्डल ब्राह्मण, १७. दक्षिणामूर्ति १८. शरभ १९. स्कन्द २०. त्रिपाद-विभूति महानारायण, २१ अद्वय तारक, २२ रामरहस्य २३. रामपूर्वतापिनी, रामउत्तरतापिनी २४. वासुदेव, २५. मुद्गल, २६. शाण्डिल्य २७. पैङ्गल, २८. भिक्षु, २९. महत्, ३०. शारीरिक, ३१. योगशिखा ॥ २६-२८ ॥ ३२. तुरीयातीतावधूत, ३३. संन्यास, ३४. परमहंस पारिव्राजक, ३५. अक्षमालिका ३६. अव्यक्त

अव्यक्तैकाक्षरं पूर्णा सूर्याक्ष्यध्यात्मकुण्डिका ॥२९॥
सावित्र्यात्मा पाशुपतं परं ब्रह्मावधूतकम् ।
त्रीपुरा तपनन्देवी त्रिपुरा कठभावना ॥३०॥
हृदयं कुण्डली भस्म रुद्राक्षगणदर्शनम् ।
तारसारं महावाक्यं पञ्चब्रह्माग्निहोत्रकम् ॥३१॥
गोपालतपनं कृष्णं याज्ञवल्क्यं वराहकम् ।
शाट्यायनी हयग्रीवं दत्तात्रेयञ्च गारुडम् ॥३२॥
कलिजाबालिसौभाग्यरहस्यऋचमुक्तिका ।

३७. एकाक्षर ३८. अन्नपूर्णा, ३९. सूर्य ४०. आक्षि ४१. अध्यात्म ४२. कुण्डिका, ४३. सावित्री ४४. आत्म ४५. पाशुपत ब्रह्म ४६. परब्रह्म, ४७. अवधूत, ४८. त्रिपुरातापिनी ४९. देवी ५०. त्रिपुर ५१. कठरुद्र, ५२. भावना, ५३. रुद्रहृदय, ५४. योगकुण्डली ५५. भस्मजाबाल, ५६. रुद्राक्षजाबाल, ५७. गणपति, ५८. श्रीजाबाल-दर्शन, ५९. तारसार, ६०. महावाक्य, ६१. पञ्चब्रह्म, ६२. प्राणाग्नि होत्र, ६३. गोपालपूर्वतापिनी, गोपालउत्तरतापिनी, ६४. कृष्ण ६५. याज्ञवल्क्य, ६६. वराह ६७. शाट्यायनी, ६८. हयग्रीव ६९. दत्तात्रेय, ७०. गरुड़ ॥२९–३२॥ ७१. कलिसन्तारण, ७२. जाबालि ७३. सौभाग्यलक्ष्मी, ७४. सरस्वतीरहस्य ७५. वहवृ च ७६. मुक्तिका । १०+२२+७६ = १०८ इस प्रकार ये एक सौ आठ* उपनिषद्

* यद्यपि ११८० शाखाओं में चारों वेद विभक्त होने के कारण ११८० संहिता, ११८० ब्राह्मण और ११८० उपनिषद् इस कल्प में प्रसिद्ध हुए है, ऐसा शास्त्रों में

एवमष्टोत्तरशतं भावनात्रयनाशनम् ॥३३॥
अत्र माण्डूक्यमेकं स्यात् क्रमात् कैवल्यमुक्तये ।
तत्र नैवाधिकारी चेद्दशोपनिषदं पठ ॥३४॥
तेन लब्ध्वा मम ज्ञानं परोक्षं ब्रह्मलोकतः ।
परं वैकुण्ठमासाद्य मया सह विमोक्ष्यसे ॥३५॥
जीवन्मुक्तौ तवेच्छा चेद्भीरोः प्राणोत्क्रमादिषु ।
द्वात्रिंशाख्योपनिषदं स्वापरोक्षाय तां पठ ॥३६॥

तीनों भावनाओं के नाश करने वाले हैं ॥ ३३ ॥ इनमें से अकेला माण्डूक्य उपनिषद् ही क्रमशः कैवल्य मुक्ति के लिये पर्याप्त है, परन्तु उसके पाठ से यदि मुक्ति का अधिकार प्राप्त न हो तो दसों उपनिषद् पढ़ो ॥ ३४ ॥ उससे मुझको जानकर ब्रह्मलोक से भी श्रेष्ठ अप्रत्यक्ष वैकुण्ठ में पहुंचकर मेरे साथ ही साथ मुक्त हो जाओगे ॥ ३५ ॥ मरण से डरने वाले तुम्हें यदि जीवन्मुक्ति की इच्छा हो तो आत्मसाक्षात्कार के लिये बत्तीस उपनिषद् पढ़ो ॥३६॥ जीवन्मुक्तावस्था में भी प्रारब्ध दुःख और प्रतीति से होनेवाले

प्रमाण है। परन्तु ऊपर लिखित १०८ उपनिषद् ही प्रायः देखने में आते है। प्रत्येक ब्रह्माण्ड की सृष्टि, स्थिति और लय के लिये सर्वव्यापक निर्गुण, निराकार, परब्रह्म की साक्षात् सगुण शक्ति तीन भागों में विभक्त होकर यथाक्रम, ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूप से प्रत्येक ब्रह्माण्ड के सृष्टि, स्थिति और लय कार्य को किया करती है। स्थिति का कार्य भगवान् विष्णु का है। इसी कारण भगवान् विष्णु का ही अवतार हुआ करता है। विष्णुभक्त उत्तम अधिकारिगण प्रथम भक्तिके बल से विष्णु-सायुज्य को प्राप्त करके विष्णुलोक में पहुँचते है और यथासमय जब विष्णु का ब्रह्मभाव में लय होता है, उसी समय वे भी ब्रह्मीभूत होजाते हैं। इस कारण विष्णु अवतार भगवान् रामचन्द्र ने 'मेरे साथ मुक्त होंगे' ऐसा शब्द प्रयोग किया है।

तत्राप्यारब्धदुःखस्य सत्त्वात्प्रातीतिकस्य वा ।
विदेहमुक्ताविच्छा चेदष्टोत्तरशतं पठ ॥३७॥
देहेऽस्मिन्विद्यमानेऽपि प्रारब्धक्षयसम्भवात् ।
सिद्धयेद्धिदेहकैवल्यं नात्रकार्या विचारणा ॥३८॥
यतोऽशीत्युत्तरशतं परश्रुतिसहस्रके ।
अष्टोत्तरशतं सारं दशद्वात्रिंशतोऽपि च ॥३९॥
ज्ञानवैराग्यदं पुंसां वासनात्रयनाशनम् ।

दुःख विद्यमान रहते ही हैं।* अतः यदि विदेह मुक्ति की इच्छा हो तो १०८ उपनिषद् पढ़ो ॥ ३७ ॥ क्योंकि इस देह के रहते हुए भी प्रारब्ध कर्म का क्षय हो जाने से विदेह मुक्ति सिद्ध होती है इसमें कोई सन्देह नहीं ॥ ३८ ॥ हजारों श्रुतियों में १८० प्रधान हैं उनमें १०८ मुख्य हैं और बत्तीस में १० मुख्य हैं ॥ ३९ ॥ पहिले और अन्त में जो शान्ति पाठ कहे गये हैं, उनके साथ पठन करने से पुरुषों को ज्ञान और वैराग्य प्राप्त होता है और तीनों वासनाओं

* जीवन्मुक्तावस्था में संचित कर्म ज्ञान से नष्ट होजाते है; अर्थात् जब ज्ञानी समझ लेता है कि मैं देह नहीं हूं, देहातिरिक्त आत्मा हूं; तो देह के साथ का सञ्चित कर्म चिदाकाश से महाकाश में रहजाता है और वह जगत् के समष्टि प्रारब्ध को आश्रय करता है। उसी प्रकार जीवन्मुक्त का क्रियमाण नवीन कर्म उसको बांध नहीं सकता; क्योंकि जीवन्मुक्त में वासना नष्ट होजाती है; परन्तु जीवन्मुक्त का शरीर जिस प्रारब्ध कर्म के बल से उत्पन्न हुआ है, वह प्रारब्धकर्म भोग से ही नाश होता है। दूसरी ओर जीव की जो स्वाभाविक छः क्रियायें हैं, यथा तम की वृत्ति ज्ञानेच्छा और सुख। इन छः वृत्तियों में से मैथुन वृत्ति और भयवृत्ति तत्त्वज्ञान से नष्ट हो जाती है और चार वृत्तियां जीवन्मुक्त में भी बनी रहती है। इस कारण प्रतीति से होनेवाले दुःख जीवन्मुक्त में बने रहते हैं। यथा, जगत् के दुःख से जीवन्मुक्त को भी क्षणिक दुःख होता है। जगत् को अज्ञानाच्छन्न देखकर जीवन्मुक्त क्लेश पाता है। यही कारण है कि जीवन्मुक्त महात्मा भी जगत्कल्याण व्रत में व्रती दिखाई पड़ते हैं।

पूर्वोत्तरेषु विहिततत्तच्छान्तिपुरस्सरम् ॥४०॥
वेदविद्याव्रतस्नातदेशिकस्य मुखात्स्वयम् ।
गृहीत्वाष्टोत्तरशतं ये पठन्ति द्विजोत्तमाः ॥४१॥
तेषामादित्यवज्ज्ञानं स्वयमेव प्रकाशते ।
सदेहा अपि ते सद्यो विदेहाः स्युर्न संशयः ॥४२॥
राज्यं देयं धनं देयं याचतः कामपूरणम् ।
इदमष्टोत्तरशतं न देयं यस्य कस्यचित् ॥४३॥
नास्तिकाय कृतघ्नाय दुराचाररताय वै ।
मद्भक्तिरहितायापि शास्त्रगर्तेषु मुह्यते ॥४४॥
गुरुभक्तिविहीनाय दातव्यं न कदाचन ।

का नाश हो जाता है ॥ ४० ॥ वेद, विद्या, व्रतादि में निपुण उपासक के मुख से स्वयं ग्रहण कर जो श्रेष्ठ ब्राह्मण इन १०८ उपनिषदों को पढ़ते हैं, उनका सूर्यनारायण के समान ज्ञान स्वयं प्रकाशमान होता है । सदेह होने पर भी वे उसी समय विदेहावस्था को प्राप्त हो जाते हैं इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ ४१ ४२ ॥ कोई याचना करे तो उसकी इच्छा पूर्ण करने के लिये धन दिया जाय, राज्य भी दे दिया जाय, किन्तु ये अष्टोत्तरशत उपनिषद् कभी न दिये जायँ ॥ ४३ ॥ नास्तिक, कृतघ्न, दुराचारी, मेरी भक्ति से विमुख और कोरे शास्त्ररूपी कीचड़ में मोहित हुए ॥ ४४ ॥ गुरुभक्तिविहीन को कभी नहीं देना चाहिये । हे मारुते ! सेवा परायण शिष्य को, सत् पुत्र को, सुशील, कुलीन और बुद्धिमान् मेरे भक्त को ही अच्छी परीक्षा कर ये १०८ उपनिषद् दिये

सेवापराय शिष्याय हितपुत्राय मारुते ॥४५॥
मद्भक्ताय सुशीलाय कुलीनाय सुमेधसे।
सम्यक् परीक्ष्य दातव्यमेवमष्टोत्तरं शतम् ॥४६॥
यः पठेत्पाठयेद्वापि शृणुयाच्छ्रावयेदपि।
प्रारब्धदेहपतने स मामेति न संशयः ॥४७॥
सकृच्छ्रवणमात्रेण सर्वाघौघनिकृन्तनम्।
मयोपदिष्टं शिष्याय तुभ्यं पवननन्दन ॥४८॥
इदं शास्त्रं मयादिष्टं गुह्यमष्टोत्तरं शतम्।
ज्ञानतोऽज्ञानतो वापि पठतां बन्धमोचकम् ॥४९॥

जायँ। * जो इन्हें पढ़ता, पढ़ाता या सुनता, सुनाता है, वह प्रारब्ध कर्मों के क्षय के पश्चात् देह छूट जाने पर मुझको प्राप्त करता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥४५-४७॥ इनके एकबार सुन लेने से ही समस्त पाप कट जाते हैं। हे पवननन्दन! मैंने तुम्हें शिष्य जानकर इनका उपदेश किया है ॥ ४८ ॥ यह अष्टोत्तरशत उपनिशद् रूपी गुप्त शास्त्र मैंने कहा। इसका जानकर अथवा अज्ञान से भी पाठ करने से भवबन्धन छूट जाता है ॥ ४९ ॥ इस आत्मविद्या ने

* कोई ऐसा सन्देह करे कि ब्रह्मविद्या के खजाना स्वरूप उपनिषद् यदि मुक्तप्रद हैं, तो उनको हर एक व्यक्ति को देने से मना क्यों किया जाता है? ऐसी आज्ञा क्या अनुदारता से भरी नहीं मानी जायगी? ऐसी शङ्काओं का समाधान यह है कि जिस प्रकार बन्दर के गले में मोतियों की माला पहिराने से वह माला का दुरुपयोग कर डालता है, उसी प्रकार स्वार्थपर कामी विषयलोलुप अज्ञानी जीव को यदि साम्यवादप्रकाशक उपनिषद् की कथा बँचाई जाय तो वह उसके द्वारा आत्मज्ञान नहीं प्राप्त करेगा और समदर्शी नहीं बनेगा; किन्तु समदर्शिता का महत्त्व न समझकर घोर पापी बन जायगा। वह आत्मज्ञान का उलटा अर्थ समझकर परद्रव्य चुराने, अगम्यागमन करने और पाप पुण्य में अभेद स्थापन करने में प्रवृत होकर घोर अनिष्टकारी बन जायगा। इसी कारण शास्त्रकारों ने ऐसा अनुशासन बाँधा है।

विद्या हवै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मां शेवधिष्ठेहमस्मि ।
असूयकायानृजवे शठाय मामा ब्रूयाद्वीर्यवती तथास्याम्॥५०
यमेवैष विद्याश्रुतमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।
अस्माइमामुपसन्नायसम्यक्परीक्ष्यदद्याद्वैष्णवीमात्मनिष्ठाम्५२

इति तत्वसारायण उपासनाकाण्डस्य द्वितीयपादे सर्ववेदरहस्यार्थासु श्रीरामगीतासूपनिषत्सु प्रमाणसारविवरणं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

ब्राह्मण के पास जाकर कहा कि मैं तुम्हारा निधि * हूँ। तुम मेरी रक्षा करो। ईर्ष्या करनेवाले कुटिल शठों को कभी मत कहो। तभी मैं वीर्यवती होकर रहूँगी ॥ ५० ॥ यह अपने में स्थित वैष्णवी ब्रह्मविद्या, जो शास्त्रवेत्ता हैं, प्रमादी नहीं हैं, बुद्धिमान् हैं, ब्रह्मचर्य से युक्त हैं, वे यदि श्रद्धा से आये हों तो भली भाँति उनकी परीक्षा कर उन्हें बताओ ॥ ५१ ॥ इस प्रकार तत्त्वसारायण के अन्तर्गत उपासनाकाण्ड के द्वितीय पाद में कथित समस्त वेदों के अर्थों को प्रकाश करने वाली श्रीरामगीता उपनिषद् का प्रमाणसार विवरणनामक द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ।

---

* धन वैश्यों के लिये निधि समझा जाता है। क्षत्रिय के लिये पदमर्यादा ही रक्षण करने योग्य है। क्षत्रिय के लिये धन प्रधान ऐश्वर्य नहीं है और ब्राह्मण के लिये तो केवल तप और आत्मज्ञान ही निधि माना गया है। उसकी रक्षा से ब्रह्मतेज की रक्षा होती है। शूद्र के लिये काम लक्ष्य, वैश्य के लिये अर्थ लक्ष्य, क्षत्रिय के लिये धर्म लक्ष्य और ब्राह्मण के लिये मोक्ष ही लक्ष्य है। आत्मविद्या से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

ज्ञानयोगनिरूपणम् ।

वायुपुत्र उवाच ।

भगवन् जानकीकान्त जीवस्योत्पत्त्यसम्भवात् ।
कार्यताऽनुपपन्नेति मतमद्वैतिनां खलु ॥ १ ॥
उत्पत्तौ तु विनाशः स्याद्विनाशे ब्रह्मतास्य नो ।
तदैकत्वश्रुतेः कोपोऽपरिहार्यः प्रसज्यते ॥ २ ॥
द्वैतसिद्धौ भयन्नित्यं मृत्युसंसारवर्त्मनि ।
अभयं जनकादीनां प्रसिद्धमपि हीयते ॥ ३ ॥
आचार्या याज्ञवल्क्याद्या अद्वैतब्रह्मवादिनः ।
विश्रुतास्तद्भिदालेशोऽप्यत्र शास्त्रे न युज्यते ॥४॥

श्रीहनुमान्‌जी ने कहा—हे भगवन् ! हे जानकीनाथ ! जीव की उत्पत्ति असम्भव होने के कारण, वह जीव कार्य नहीं हो सकता अन्ततः उसमें कार्यता नहीं आ सकती, यह अद्वैतवादियों का निश्चित मत है ॥ १ ॥ जीव की उत्पत्ति मानने से उसका नाश भी होगा और जीव को नाशवान् मानने से वह ब्रह्म नहीं हो सकता। इस तरह मानने से जीव ब्रह्म का ऐक्य बताने वाली श्रुति के कोप का परिहार नहीं होगा ॥ २ ॥ यदि द्वैत माना जाय, तो मर्त्यलोक के मार्ग में सदा ही भय रहेगा और इससे जनकादि अभय थे यह जो प्रसिद्धि है, उसमें बाधा पड़ेगी। ॥ ३ ॥ याज्ञ-वल्क्यादि आचार्य अद्वैत ब्रह्मवादी थे, यह तो प्रसिद्ध ही है। अतः इस वेदान्तशास्त्र में द्वैत का लेश भी नहीं आ सकता ॥ ४ ॥

इत्येतत्साधु वाऽसाधु त्वदन्यो धरणीतले ।
वक्तुं शक्तो न मे श्रीमन् विद्यते करुणाम्बुधे ॥५॥

श्रीरामः प्रोवाच ।

यज्जीवब्रह्मणोरैक्यं रैकार्थकारणयोरपि ।
मतमद्वैतिनां तत्स्याज्जीवोत्पत्तिश्च तन्मते ॥६॥
उत्पत्त्यनभ्युपगमे तस्य नाशो न सिद्ध्यति ।
अनाशे द्वैतनित्यत्वात् कोपोऽद्वैतश्रुतेर्ध्रुवम् ॥७॥
जीवस्य द्विविधस्यापि विनाशं द्विविधं शृणु ।
जीवस्त्वंपदवाच्यार्थः संसारी देहवानयम् ॥ ८ ॥
अविद्याजनितस्यास्य विनाशो विकृतेरिव ।

हे करुणानिधे ! हे श्रीमन् ! यह सिद्धान्त यथार्थ है अथवा अयथार्थ सो इस भूलोक में आपके बिना कोई भी कहने के लिये समर्थ नहीं है ॥ ५ ॥ श्रीरामचन्द्रजी बोले :--जीव और ब्रह्म की एवम् कार्य तथा कारण की एकता है ऐसा अद्वैतियों का मत है और उनके मत से जीव की उत्पत्ति भी होती है ॥ ६ ॥ उत्पत्ति न मानने से उसका नाश भी नहीं होगा। नाश न होनेसे द्वैत नित्य होजायगा। और द्वैत नित्य होने से अद्वैत श्रुति से विरुद्ध सिद्धान्त मानना पड़ेगा ॥ ७ ॥ दो प्रकार के जीवों का विनाश भी दो प्रकार का होता है, सो सुनो। त्वंपदवाच्यार्थ जीव संसारी और देहधारी है ॥ ८ ॥ भीतरी विकार के सम्बन्ध में तपे हुए लोहे के समान इस अविद्या से उत्पन्न हुए जीव का भी नाश विकार के नाश की तरह होता है। अर्थात् तपे लोहे का जिस प्रकार आन्त-

आभ्यन्तरविकारेषु तत्क्षय:पिण्डवत्सतः ॥ ९ ॥
अन्यस्त्वंपदलक्ष्यार्थः संसारी साक्षिचेतनः ।
कूटस्थः प्रत्यगात्माख्यो विम्बभूतः परस्य च ॥१०॥
ब्रह्मविद्योद्भवस्यास्य स्फुलिङ्गस्येव पावकात् ।
विनाशः प्रकृतौ स्वस्यां ब्रह्मण्यद्वयचिद्घने ॥११॥
यस्माद् भूतानि जायन्ते येन जीवन्ति यत्र च ।
लीयन्ते ज्ञेयमेकं तद् ब्रह्मैव हि मुमुक्षुभिः ॥१२॥

रिक विकार नष्ट होजाता है, उसी प्रकार अविद्याजनित जीव का विकार नष्ट होकर वह शुद्धरूप में परिणत होजाता है। यही उसका नाश है॥ ९ ॥ दूसरे प्रकार का त्वंपद लक्ष्यार्थ जीव संसारी, द्रष्टा, चैतन्यमय, कूटस्थ, प्रत्यगात्मा नामक और दूसरे का बिम्बस्वरूप है ॥ १० ॥ अग्नि से जिस प्रकार चिनगारी उत्पन्न होती है, उसी प्रकार ब्रह्मविद्या से उत्पन्न हुए इस जीव का अद्वैत, ज्ञानमय, ब्रह्मरूप अपनी प्रकृति में लय हो जाना ही नाश है ❀ ॥ ११ ॥ जिससे भूत (जीव) उत्पन्न होते हैं, जिससे जीते हैं और जिसमें लीन हो जाते हैं, उसी एक (अद्वितीय) ब्रह्म को मोक्ष की इच्छा करने वालों को जान लेना चाहिये ॥ १२ ॥

❀ ऊपर लिखित वैज्ञानिक रहस्यके समन्वयके लिये ऐसा कहा जा सकता है कि प्रवाहरूपसे जीव अनादि है। परन्तु व्यक्तिरूप से जीव सादि है। चिज्जडग्रन्थि को प्राप्त करके पहले उद्भिज्ज बनना, फिर स्वेदजबनना और क्रमशः मनुष्ययोनि में पहुँच कर मुक्ति तक पहुँचना यह जीव का सादि तथा सान्त होना सिद्ध करता है। परन्तु प्रवाहरूप से जीवप्रवाह अनादि है; क्योंकि अविद्या प्रभावसे नवीन नवीन चिज्जडग्रन्थिरूपी जीव की उत्पत्ति क्रमशः होती ही रहती है। त्रिगुणमयी ब्रह्म-प्रकृतिका इसप्रकार जीवोत्पत्ति करना स्वभाव है। जीवके दो भाव भी स्वाभाविक हैं। एक भाव शरीराभिमानी और दूसरा भाव सब शरीरों में स्थित द्रष्टा-भिमानी। इन दोनों भावों का कारण अविद्या और विद्या है।

भूतानि तानि जीवाः स्युरुत व्योमादयोऽथवा ।
लोकाः पञ्चीकृता ह्येते नान्योऽस्मिन्निर्गुणत्वतः॥१३॥
कारणं ब्रह्मजीवानां निर्गुणं नेतरद्भवेत् ।
अपञ्चीकृतभूतानामपि तज्जगतां न तु ॥ १४ ॥
जगत्कारणमीशाख्यं सगुणं ब्रह्म यद्भवेत् ।
तत्पञ्चीकृतभूतानां निमित्तं जगतां खलु ॥ १५ ॥
उपादानन्तु माया स्याच्चिदचिद्वलिता स्वयम् ।
कार्यकारणलोकेश विचार इह निष्फलः ॥ १६ ॥

अब यह शङ्का हो सकती है कि ऊपर उक्त 'भूत' शब्द जीव का वाचक है या पञ्चीकृत आकाशादि पञ्चमहाभूतों का ? इसका समाधान यह है कि अन्तिम अर्थात् पञ्चीकृत आकाशादि महाभूत 'भूत' संज्ञक नहीं हैं, क्योंकि ब्रह्म निर्गुण है, उससे पञ्चीकृत भूतों की उत्पत्ति नहीं हो सकती ॥ १३ ॥ जीवों का कारण निर्गुण ब्रह्म है और कुछ नहीं हो सकता । अपञ्चीकृत भूतों का भी वही कारण है । वह जगत् का कारण नहीं है ॥ १४ ॥ जगत् का कारण ईश्वर संज्ञक जो सगुणब्रह्म है, वही पञ्चीकृत महाभूत रूप जगत् का निमित्त कारण है ॥ १५ ॥ जगत् का उपादान कारण जड़चेतनमयी स्वयं माया है । इस कारण कार्य, कारण, जगत् और ईश्वर इनका यहां पर विचार करना व्यर्थ है* ॥ १६ ॥

* इस ऊपर कथित विज्ञान का समन्वय यह है कि ब्रह्मशक्ति, माया, अहम्ममेतिवत् ब्रह्म से ही प्रकट होकर जगत् को प्रसव करती है । मेरी बोलने की शक्ति जैसे मुझमें और समय अव्यक्त और बोलने के समय में व्यक्त होती है, उसीप्रकार सृष्टि दशा में वह व्यक्त होकर जगत् का कारण बनती है । उसीके अविद्यास्वरूपसे ब्रह्माण्डपिण्डात्मक जगत् उत्पन्न होता है और वही स्वस्वरूप के अधीन रहकर विद्या कहाती हैं । अज्ञानमयी अविद्या जिसको अधीन करती है, वह जीव है और ज्ञानमयी विद्या जिसके अधीन रहती है, वह ईश्वर है ।

अध्यात्मशास्त्रमाश्रित्य सद्गुरोः करुणाबलात्।
जीवनब्रम्हविचारेण पुरुषार्थं समश्नुते ॥ १७ ॥
जीवस्य कार्यभूतत्वे निमित्तं ब्रम्ह निर्गुणम्।
उपादानमविद्या स्यादभानावृतिकारणम् ॥ १८ ॥
सर्वज्ञं सर्वलोकेशं मायोपाधिमुमापतिम्।
ध्यात्वेह चित्तशुद्ध्यर्थं भूतयोनिमथाप्नुयात् ॥१९॥
ज्ञेयत्वं भूतयोनेश्च ध्येयत्वमथ तस्य वै।
स्वतः सिद्धमतः पूर्वं ज्ञात्वा कैवल्यकाङ्क्षिणः ॥२०

अध्यात्म शास्त्र का आश्रय कर सद्गुरु की दया के बल से जीव और ब्रह्म का विचार करते हुए पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है ॥ १७ ॥ जीव के कार्यस्वरूप होने में निर्गुण ब्रह्म निमित्त कारण है और जीव पर जो अज्ञान का आवरण है उसका उपादान कारण माया है ॥ १८ ॥ सर्वज्ञ, सब लोकों के ईश्वर, माया की उपाधि से युक्त शिवजी का इस लोक में चित्तशुद्धि के लिये ध्यान करने से जीव उस पद को प्राप्त करता है जिससे समस्त जीवों की उत्पत्ति हुई है ॥ १९ ॥ जीव के उसी कारण स्वरूप को जानना चाहिये और उसी का ध्यान करना चाहिये। अतः कैवल्य मुक्ति की इच्छा रखने वालों को पहिले उस स्वतः सिद्ध (जीवों के कारणस्वरूप) को जान लेना चाहिये* ॥ २० ॥

* जिस भाव में प्रकृति अव्यक्त रहती है, वही ब्रह्मभाव है। जिस भाव में प्रकृति व्यक्त होती है और विद्यारूपसे उनके अधीन रहती है, वही ईश्वरभाव है। येही दोनों अवस्थाएँ निर्गुणब्रह्म और सगुणब्रह्म कहाती है। इन दोनों का रहस्य समझ कर भगवद्उपासना द्वारा जीव मुक्तिपथ में अग्रसर हो सकता है।

ततस्तन्निर्गुणं ब्रह्म परिपूर्णं निरन्तरम् ।
अभेदेन परं ध्यात्वा यान्ति तत्काङ्क्षितं ध्रुवम् ॥२१
आरम्भवादमाश्रित्य स्वारुरुक्षुर्विचारयेत् ।
परिणामं समाश्रित्य त्वभ्यासी भावयेत्परम् ॥२२॥
विवर्तवादस्त्वारूढे स्वयमेव हि सिध्यति ।
जल्पंस्तदनुरोधेन गच्छेत्स्वानर्थमात्महा ॥२३॥
रज्जुसर्पस्थाणुचोरवन्ध्यापुत्रादिगोचरः ।
विवर्तवादो नैवेष्टो मुमुक्षोः संसृतेः परम् ॥२४॥
भृङ्गकीटदधिक्षीरमृद्घटाद्येकगोचरः ।

फिर अभेद भावना से निरन्तर परिपूर्ण उस श्रेष्ठ निर्गुण ब्रह्म का ध्यान कर वे अपने इच्छित पद (कैवल्यमुक्ति) को निःसन्देह प्राप्त कर लेते हैं ॥२१॥ जो अपनी आत्मा पर अधिकार करना चाहे, वह आरम्भवादका आश्रय कर विचार करे और जो आत्मा के सम्बन्ध में अभ्यास करना चाहे, वह परिणामवाद का आश्रय कर परमात्मा की भावना करे ॥ २२ ॥ जिसने आत्मा पर अधिकार कर लिया है, उसे विवर्तवाद स्वयं सिद्ध हो जाता है । विवर्तवाद के सम्बन्ध में केवल बकवाद करने वाला आत्मनाशकारी इस आचरण से अनर्थ में जापड़ता है ॥ २३ ॥ रस्सी में साँप, खम्भे में चोर और वन्ध्या में पुत्र भासमान होना, यह विवर्तवाद संसारत्यागी मुमुक्षु के लिये इष्ट नहीं है ॥ २४ ॥ कीट का भृङ्ग होना, दूध का दही होना, मिट्टी का घड़ा होना, यह जो उत्तम परिणाम

परिणामसुवादोऽयं ध्रुवमिष्टतमो मतः ॥२५॥
ब्रह्मात्मैक्यानुसन्धानादेकान्ताद्ब्रह्मणात्मनि ।
संयुक्ते बोधमात्रेण तिष्ठन्मुक्तो न संशयः ॥ २६ ॥
ज्ञानं हि द्विविधं प्रोक्तं स्वरूपं वृत्तिरित्यपि ।
तत्राद्यं निर्गुणं ब्रह्म सत्यानन्तसुखात्मकम् ॥२७॥
अन्यत्तु शुद्धसत्त्वाख्यं अखण्डाकारमात्मनः ।

वाद है, वही सब तरह से उसके लिये इष्ट है * ॥२५॥ ब्रह्म और आत्मा के केवल ऐक्यकी भावना करने से ब्रह्म के साथ आत्मा का संयोग हो जाने पर केवल ज्ञानरूप होकर जो रहे, वह मुक्त है इसमें सन्देह नहीं ॥ २६ ॥ ज्ञान दो प्रकार का है। एक स्वरूप-ज्ञान और दूसरा वृत्तिज्ञान। इनमें से पहिला निर्गुण ब्रह्म है, सत्य है और अनन्त सुखस्वरूप है ॥ २७ ॥ दूसरे वृत्तिज्ञान को शुद्ध सत्त्व भी कहते हैं, जो आत्मा का अखण्डरूप है। उसको

* दर्शनशास्त्रके जो सात ज्ञानभूमियोंके अनुसार सात भेद हैं, यथाः-पदार्थवाद के दो भेद (१) न्याय और (२) वैशेषिक दर्शन, सांख्यप्रवचनके दो भेद (१) योग और (२) सांख्यदर्शन मीमांसाके तीन भेद (१) कर्म्ममीमांसा (२) दैवीमीमांसा अर्थात् भक्तिमीमांसा और (३) ब्रह्ममीमांसा। इन सातों दर्शनों को प्रधानतः तीन श्रेणियोंमें विभक्त कर सकते हैं। अर्थात् पहिले दो आरम्भवादके, बीचके दो परिणामवादके और अन्तिम तीन विवर्तवादके। सबसे पहिले साधक जब जगत्कर्ता ईश्वरको जानने लगता है, तब आरम्भवादकी सहायतासे भगवद्भक्तिका अधिकारी बनता है। दूसरी साधककी साधन अवस्थामें परिणामवादका मानना ठीक है और जब ब्रह्मसाक्षात्कार करके साधक मुक्त हो जाता है, उस समय विवर्तवादका अन्तिम सिद्धान्त वेदान्तकी अपने आपही चरितार्थता होजाती है। तब ज्ञानी समझने लगता है कि रज्जुमें सर्पभ्रमके भाँति ब्रह्ममें जगत्का भान अविद्यामूलक है और असत्य है। यही ज्ञानकी अन्तिम सीमा है। परन्तु साधन दशामें परीणामवाद ही ठीक है। क्योंकि उस दशामें उपास्य और उपासक का सम्बन्ध बना रहना आवश्यक है। यही सब दर्शनोंका यथार्थ समन्वय है।

परोक्षमपरोक्षंचेत्येवं द्वैविध्यमाप्नुयात् ॥२८॥
आद्यात्क्रमेण मुक्तिः स्याद्ब्रह्मलोके क्षयङ्गते ।
द्वितीयात्त्विह कैवल्यं क्षीणे प्रारब्धकर्मणि ॥२९॥
जीवन्मुक्तिश्च देहेऽस्मिन्विद्यमानेऽपि सिध्यति ।
अतः कामादिनिर्मुक्तः सततं ब्रह्म भावय ॥३०॥
यद्ब्रह्म निर्गुणं प्रोक्तं द्विविधं तत्प्रचक्षते ।
सलक्षणमिति ध्येयं ध्येयातीतमलक्षणम् ॥३१॥

भी परोक्ष और अपरोक्ष ये दो रूप प्राप्त होते हैं * ॥२८॥ ब्रह्मलोक के क्षय हो जाने पर प्रथम अर्थात् परोक्षज्ञान से क्रमशः मुक्ति होती है और प्रारब्ध कर्म के क्षय हो जाने पर द्वितीय अर्थात् अपरोक्ष ज्ञानसे कैवल्य मुक्ति प्राप्त होती है ॥ २९ ॥ इस देह के रहने पर भी जीवन्मुक्ति प्राप्त होती हैं । अतः काम क्रोध आदिसे मुक्त होकर निरन्तर ब्रह्मकी भावना करो ॥३०॥ जो निर्गुण ब्रह्म कहा गया है, वह भी दो प्रकार का है । जिसका ध्यान किया जा सकता है वह सलक्षण निर्गुण ब्रह्म और जो ध्यानसे अतीत है, वह अलक्षण निर्गुण ब्रह्म है * ॥३१॥

* ज्ञान की भूमियों को आत्मसाक्षात्कार के विचार से विभक्त कर सकते हैं। एक स्वरूपज्ञान और दूसरा तटस्थज्ञान । स्वरूपज्ञान वह है जो आत्मा के धर्मरूप से अद्वैत आत्मा में ही अनुस्यूत रहता है । वह अद्वैत दशा में ब्रह्मस्वरूप में स्व-स्वरूपवत् अनुभव होता है। वृत्ति से विचार के द्वारा जो सदसद्विचार कराता है, वह तटस्थज्ञान है। इस ज्ञान में ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय की त्रिपुटी बनी रहती है। इस तटस्थज्ञान के भी दो भेद कर सकते हैं। यथाः—परोक्षज्ञान और अपरोक्षज्ञान। जब जगत् को देखकर जगत् के कर्ता का विचार होता है; परन्तु जगत्कारण या जगत्कर्ता के स्वरूप का यथार्थ अनुभव नहीं होता किन्तु विचार के द्वारा उसकी सिद्धि हो जाती है, यही परोक्षानुभति कहाती है । यही पहिली अवस्था है। और जब आत्मा के स्वरूप का अनुभव हो जाता है; वही अपरोक्षानुभूति कहाती है ।

‡ इसी कारण सनातन धर्म में ब्रह्मोपासना और सगुणपञ्चोपासना करके दो भेद माने गये हैं। दोनों ही ब्रह्मोपासनाएँ हैं। ब्रह्मोपासना निराकार निर्गुण ब्रह्मसे

आद्यञ्च त्रिविधं प्रोक्तं पादैस्सत्त्वादिभिस्त्रिभिः ।
त्रिपाद्ब्रह्मामृतं यस्मान्नित्यसिद्धं स्वभेदवत् ॥३२॥
तत्र बुद्धिं प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमास्थितः ।
तादात्म्यं लभते विद्वानल्पमप्यन्तरं विना ॥३३॥
विजातीयसजातीयभेदौ जागतजैवकौ ।
परस्मिन्नैव विद्येते ब्रह्मणि त्रिपदात्मके ॥३४॥
हीने तु स्वगते भेदे वस्तुनो ध्येयता न हि ।
न मोक्षो ध्येयता हानौ ध्रुवं संसारिणामिह ॥३५॥

सत्‌चित् और आनन्द इन तीन पादों से पहिला अर्थात् सलक्षण ब्रह्म त्रिविध है। इसीसे वह ब्रह्म अमृतस्वरूप, त्रिपाद, नित्यसिद्ध और अपने भेदवाला कहा गया है ॥३२॥ स्थिर आसन पर बैठा हुआ विद्वान् उस सलक्षण निर्गुण ब्रह्म में बुद्धि गड़ाकर भेद-शून्य होता हुआ तादात्म्य को (उसीके रूप को) प्राप्त होता है ॥३३॥ सजातीय और विजातीय भेद जगत् और जीव सम्बन्धी हैं। त्रिपदात्मक परब्रम्ह में वे भेद नहीं हैं ॥ ३४ ॥ अपने में स्थित भेद नष्ट हो जाने पर ध्येय (ध्यान करने योग्य) वस्तु नहीं रहती और ध्येय वस्तु न रहने से संसारियों को मोक्ष नहीं होगा * ॥३५॥

सम्बन्ध रखती है। और उसीको जब विष्णु, सूर्य, देवी, गणपति और शिवरूप से अलग अलग उपासक अपने अपने सम्प्रदाय के अनुसार सगुणरूप में उपासना करते हैं, वही शैली सगुण पञ्चोपासना के अन्तर्गत मानी जाती है। चार योगों के अनुसार ध्यान भी चार प्रकार का होता है। यथा:—मन्त्रयोग का स्थूलध्यान, हठ-योग का ज्योतिध्यान, लययोग का विन्दुध्यान और राजयोग का ब्रह्मध्यान। इनमें से पहिली तीन शैली सगुणध्यान की और अन्तिम शैली निर्गुणध्यानकी कहाती है।

* जब तक सच्चिदानन्दमय स्व-स्वरूप की उपलब्धि होकर साधक जीवन्मुक्त पदवी की प्राप्त न कर लेवे, तब तक ध्यान और ध्येय को सहायता से साधक को द्वैतभाव मानकर उपासना करना उचित है।

भेदोऽस्ति बन्धावस्थायां जीवात्मपरमात्मनोः ।
मोक्षे त्वभेद एव स्यान्मोक्षातीते न कश्चन ॥३६॥
बन्धस्य प्रतियोगित्वात्सापेक्षो मोक्ष इष्यते ।
निरपेक्षमतीन्द्रियाख्यं न निरोध इति श्रुतेः ॥३७॥
अखण्डैकरसाम्बोधौ मग्नचित्तस्य देहिनः ।
विदेहमुक्ततां प्राहुर्ब्राम्हणाः श्रुतिपारगाः ॥३८॥
समाधियोगयुक्तात्मा त्यक्तलोकादिवासनः ।
निश्चेष्टो निर्विकारश्च विदेह इति कथ्यते ॥३९॥
दृश्यानुविद्धप्रमुखाः क्रमात्स्युष्षट् समाधयः ।

जीवात्मा और परमात्मा का बन्ध की अवस्था में भेद है और मोक्ष की अवस्था में अभेद है। मोक्ष के अतीत जो अवस्था है, उसमे न भेद है, न अभेद है ॥३६॥ बन्ध, मोक्ष का प्रतियोगी होने के कारण मोक्ष, बन्ध की अपेक्षा रखता है। वेदों में भी कहा है कि इन्द्रियों से अतीत जो ब्रह्म है, वह स्वतन्त्र है। अतः उसका निरोध नहीं हो सकता ॥३७॥ अखण्ड, एकरस (ब्रह्म) रूपी समुद्र में जिस पुरुष का चित्त मग्न हो गया है, वेदवेत्ता ब्राह्मण उसी को विदेहमुक्त कहते हैं ॥३८॥ जिसकी आत्मा समाधिरूप योग से युक्त है, जिसने लौकिकी वासना छोड़ दी है, जो क्रिया शून्य और विकार रहित है, उसको विदेह कहते हैं ॥३९॥ दृश्य अनुविद्ध आदि क्रमशः छः प्रकार की समाधि होती है। उनमें बुद्धिमान पुरुष को जलूका न्याय से प्रवृत्त होना चाहिये। अर्थात् एकप्रकार की समाधि सिद्ध होने पर दूसरी समाधि का अभ्यास करना उचित है। तृणजलूका (घासकी जोंक)

जलूकान्यायतस्तेषु निष्ठां कुर्वीत बुद्धिमान् ॥४०॥
समाधिहीनाः पापिष्ठा वाक्यार्थज्ञानमानिनः ।
स्वेच्छाचाररता नित्यं नरकानश्नुवन्ति ते ॥४१॥
मनोनाशविहीनस्य कथं संसारनिह्नुतिः ।
कथं समाधिहीनस्य मनोनाशो भवेदिह ॥४२॥
समाधौ विधिबुध्या यः कर्मसादृश्यमूहते ।
कल्पकोट्यापि संसारात्तस्य मुक्तिर्न सम्भवेत् ॥४३॥

जब पहिले तिनके पर पूरे पैर जमा लेती हैं तब आगे के तिनके पर अगले पैर रखती है। इसीप्रकार उक्त समाधियों का क्रमशः अभ्यास करना चाहे तो योगी निर्विघ्न होकर समाधिभूमि में आगे बढ़ता रहता है। यही समाधि सिद्धि का रहस्य है ॥४०॥ समाधि योग से रहित पापी, शब्दों के अर्थ जान लेने से ही अपने को ज्ञानी समझने वाले, मनमाना आचरण करने वाले निःसन्देह नरक भोगते हैं ॥४१॥ मनका जिन्होंने नाश नहीं किया उनका संसार से छुटकारा कैसे होगा ? और जो समाधियोग नहीं जानता, उसका मनोनाश कैसे होगा* ॥४२॥ जो पुरुष समाधि में विधि बुद्धि (आज्ञा-यथा सन्ध्या आदि करना) रखकर उसे कर्म के समान लेखता है, करोड़ों कल्पों तक संसार से उसकी मुक्ति नहीं हो सकती ॥ ४३॥ ज्ञान और लिङ्लकार का प्रयोग समानरूप से ही सुना जाता है।

* दर्शनशास्त्रोंका यह सिद्धान्त है कि समाधि की पूर्ण सिद्धि द्वारा तत्त्वज्ञानका उदय होता है। तत्त्वज्ञानसे वासनाक्षय होजाता है और वासनाक्षय से मनका नाश होजाता है। उस समय जीवन्मुक्त यद्यपि संसारी मनुष्योंके तौर पर ही मनके द्वारा सब कार्य करता रहता है, परन्तु जिस प्रकार बीज को भाड़में भून कर पुनः उसको जमीन में गाड़ने से अङ्कुर उत्पत्ति नहीं हो सकती, ठीक उसी प्रकार वासनारहित मन भर्जित बीज के समान होकर शक्ति हीन हो जाता है। यही अवस्था मनोनाश कहाती है।

लिङ्गादिस्तु समानो हि श्रूयते ज्ञानयोगयोः ।
एवं सति कथं ज्ञानं केवलं विध्यनाश्रितम् ॥४४॥
मोक्षस्य साधनं ज्ञानमाद्यं वेदान्तवाक्यजम् ।
अन्तिमं साधनं योगस्तस्माद्योगं समाश्रय ॥४५॥
योगश्च द्विविधः प्रोक्तस्सभेदोऽभेद एव च ।
आद्यो बहुविधः प्रोक्तो हठराजादिभेदतः ॥४६॥
अभेदप्रकृतिस्त्वेको जीवब्रह्मैक्यलक्षणः ।
समाधिरूपः कैवल्यमुख्यसाधनमिष्यते ॥४७॥
अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति शास्त्रं यतः स्वयम् ।
अतो योगविहीनेन न ज्ञानेन विमुक्तता ॥४८॥

ऐसा होते हुए विधि प्रयोग से रहित केवल ज्ञान का कैसे बोध होगा ? ॥४४॥ मोक्ष का प्रथम साधन वेदान्त वाक्यों से उत्पन्न हुआ ज्ञान और अन्तिम साधन योग है । इसलिये योगका ही आश्रय करो ॥४५॥ योग दो प्रकार के कहे गये हैं । एक भेदरूप और दूसरा अभेद रूप । प्रथम अर्थात् भेदरूप योग हठयोग राजयोग आदि भेदानुसार अनेक प्रकार के हैं ॥ ४६ ॥ अभेदरूप योग एकही है जिसका लक्षण जीव ब्रह्म का ऐक्य है । उसीको समाधि कहते हैं और वही कैवल्य का मुख्य साधन स्वरूप है ॥ ४७ ॥ शास्त्र की आज्ञा है कि इसी अभेदरूप योग से जीव और ब्रह्म का ऐक्य होता है । अतः योग के विना केवल ज्ञान से मुक्ति नहीं हो सकती* ॥ ४८ ॥

* इस विचार का समन्वय यह है कि मन्त्र, हठ, लय और राज ये जो चार योगशैली हैं, ये क्रियाके आश्रयसे की जाती हैं । इस कारण ये क्रियायोग कहते हैं । क्रियायोग यद्यपि मुक्तिका कारण है, परन्तु साक्षात्कारण नहीं है, और उसी प्रकार तटस्थ ज्ञान भी मुक्तिका साक्षात्कारण नहीं हो सकता ! इस कारण इन सबसे उन्नत स्वरूप ज्ञान प्रतिपादक जीव और ब्रह्म को एक करने वाला जो उन्नत ज्ञानयोग है, वही मुक्ति का साक्षात्कारण है ऐसा कह सकते हैं ।

योगाभ्यासरतो विद्वान् वैराग्येण च संयुतः।
न बिभेति कदाप्यस्मात् संसाराद्दुस्तरादपि ॥४९॥
उत्तमं योगमास्थाय ज्ञानी विगतकल्मषः।
मायातत्कार्यपाशेभ्यो विमुक्तस्सुखमश्नुते ॥५०॥
प्रशान्तेन्द्रियसञ्चारः चित्तक्षोभादिवर्जितः।
ब्रह्मात्मैक्यमहायोगी सद्यो मुक्तिमवाप्नुयात् ॥५१॥
योऽयं वेदान्तसिद्धान्तभूतो योगस्समीरितः।
उपासनमिति प्राज्ञैरिदमेवोच्यते परम् ॥५२॥
जन्मादिकारणं शान्त उपासीतेति च श्रुतिः।
अभेदोपासनं सम्यगुपोद्बलयति स्फुटम् ॥५३॥

योगाभ्यास में लगा हुआ वैराग्यवान् विद्वान् कष्ट से पार किये जानेवाले इस संसार से कभी नहीं डरता ॥ ४९ ॥ उत्तम योग को प्राप्त कर निष्पाप ज्ञानी पुरुष माया और उसके कार्यों के पाश से छूटकर सुखका उपभोग करता है ॥ ५० ॥ जिसके इन्द्रियों की चञ्चलता शान्त हो गई हो, जिसके चित्त में खलबली आदि न पड़ती हो, जिसने ब्रम्ह और आत्मा की एकता का अनुभव कर लिया हो, वह श्रेष्ठयोगी तुरन्त मुक्ति प्राप्त करता है ॥५१॥ वेदान्तका सिद्धान्त स्वरूप यह जो योग कहा गया, उसी को विद्वान् लोग श्रेष्ठ उपासना कहते हैं ॥ ५२ ॥ शान्त होकर जन्म के आदि कारण परब्रम्ह की उपासना करो, ऐसी श्रुति कहती है। यही उपासना जीव और ब्रम्ह के ऐक्य की उपासना के प्रति भलीभाँति स्पष्टतया उत्तेजित करती है ॥ ५३ ॥ सब शास्त्रों में पारङ्गत पुरुष यदि उपासनासे हीन

उपासनविहीनस्य सर्वशास्त्रविदोपि वा ।
चित्तविक्षेपहानिः स्यान्नैव कल्पान्तरैरपि ॥५४॥
सकामा सगुणोपास्तिर्नृणां भोगाय सम्भवेत् ।
निष्कामा चित्तशुद्ध्यर्थेत्येवं शास्त्रार्थनिर्णयः ॥५५॥
वालाग्राङ्गुष्ठनीवारशूकप्रादेशमात्रकः ।
निर्गुणः प्रत्यगात्मा यस्तदुपास्तिश्च शुद्धिदा ॥५६॥
अखण्डसच्चिदानन्दनिर्गुणोपासनं महत् ।
सद्यः कैवल्यहेतुः स्यादहंब्रह्मेति चिन्तनम् ॥५७॥
महावाक्यार्थविज्ञानात्सर्वं मिथ्येति निश्चयम् ।
दृढं प्राप्याथ मुक्त्यर्थं तदुपासीत सन्ततम् ॥५८॥

हो तो कल्पान्तर में भी उसके चित्त का क्षोभ नहीं छूटेगा ॥ ५४ ॥ सकाम सगुणोपासना मनुष्यों के लिये भोगप्राप्ति के अर्थ हो सकती है और निष्काम सगुणोपासना चित्तशुद्धि के लिये होती है, ऐसा शास्त्रों का निर्णय है ॥५५॥ बालकों के अँगूठे के अग्रभाग अथवा धान की मञ्जरी के टूक के बराबर जो निर्गुण सर्वव्यापक आत्मा है, उसकी उपासना चित्तशुद्धि करने वाली है * ॥५६॥ 'मैं ब्रह्म हूँ' इसप्रकार के चिन्तवन से जो अखण्ड, सच्चिदानन्द, निर्गुण की श्रेष्ठ उपासना है, उससे तुरन्त कैवल्यमुक्ति प्राप्त होती है ॥५७॥ महावाक्यों के अर्थ जान लेने पर सब कुछ मिथ्या है इस प्रकार का दृढ़ निश्चय कर मुक्ति के लिये निराकार निर्गुण ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये ॥५८॥

* इस सिद्धान्त का समन्वय यह है कि सगुण उपासना के जो उन्नत भेद समूह हैं जिनमें से एक का वर्णन ऊपर आया है उसप्रकार की सगुण अवलम्बन की उपासनाएँ चित्तशुद्धि के लिये अवश्य ही करनी उचित हैं। और कामनारहित होकर केवल कर्त्तव्य बुद्धि से केवल भगवद्भक्ति की वृद्धि के लिये जो उपासना कीजाती है, वह आत्मज्ञान की सहायक होती है इसमें सन्देह नहीं।

उपासनं विना ज्ञानात्केवलाच्चेद्विमुक्तता ।
कन्यां विना विवाहः स्यात्केवलेन वरेण हि ॥५९॥
तादात्म्येन समीपे यज्जीवस्यैवासनं भवेत् ।
तदुपासनमित्युक्तं सर्वदुःखापहं नृणाम् ॥६०॥
यदुपास्तिरभेदेन पूर्णबोधस्वरूपदा ।
तामाश्रित्यैव सर्वेषामक्षयं सुखमुद्भवेत् ॥६१॥
देहात्मबुद्धिमाश्रित्य संसारे भ्रमतां नृणाम् ।
कथं भ्रमनिवृत्तिः स्याद्ब्रह्मात्मोपासनं विना॥६२॥
यस्यासावजडा संवित्स्वयं जीवेशसाक्षिणी ।
आविर्भूतानुसन्धानात्स एव ब्रह्मविद्भवेत् ॥६३॥

यदि कन्या के बिना अकेले वरसेही विवाह हो सकता हो, तो उपासना के विना अकेले ज्ञान से मुक्ति हो सकती है ॥ ५९ ॥ जीव और ब्रह्म के ऐक्य की भावना करते हुए जीव का स्थान जिससे ब्रह्म के निकट पहुँचता हो, उसी को उपासना कहते हैं और मनुष्यों के दुःखों को वही दूर करती है ॥ ६० ॥ जो उपासजा अभेद भावना के कारण पूर्ण ज्ञान स्वरूप बना देने वाली हो, उसका आश्रय करने से ही सबको अक्षय सुख प्राप्त होता है ॥ ६१ ॥ देह को ही आत्मा मानकर संसार में भ्रमने वाले मनुष्यों की भ्रम निवृत्ति ब्रह्म की उपासना के विना कैसे हो सकती है ? ॥ ६२ ॥ यह चेतन और अचेतन का पूर्ण ज्ञान-जो जीव और ईश्वर का साक्षी है-अनुसन्धान करने से जिसमें वह स्वयं प्रकट हो गया हो, वही ब्रह्मवेत्ता है ॥ ६३ ॥ यह ज्ञान ही पराशक्ति है और यही

संविदेव पराशक्तिस्तस्यैव ब्रह्म च निर्गुणम् ।
तस्मादपि पराचीनमवाङ्मनसगोचरम् ॥६४॥
अलक्षणमनिर्देश्यमरूपं नाममात्रवत् ।
अप्रष्टव्यं गुरौ साक्षान्मातिप्राक्षीरिति श्रुतेः ॥६५॥

इति तत्वसारायण उपासनाकाण्डस्य द्वितीयपादे सर्ववेदरहस्यार्थासु श्रीरामगीतासूपनिषत्सु ज्ञान-योगनिरूपणंनाम तृतीयोऽध्यायः ॥

निर्गुण ब्रह्म है* । इससे भी परे मन और वाणी से ज्ञात न होने वाला लक्षणहीन, चिन्हहीन, रूपहीन, केवल नाममात्र ब्रह्म है। जिसके सम्बन्ध में गुरु से भी जिज्ञासा नहीं करनी चाहिये और श्रुति में भी कहा है कि इस विषय में बारम्बार प्रश्न न करो ॥६४॥ ॥६५॥

इसप्रकार तत्त्वसारायण के अन्तर्गत उपासना काण्ड के द्वितीयपाद में कथित समस्त वेदों के अर्थो को प्रकाश करनेवाली श्रीरामगीता उपनिषद् का ज्ञानयोग निरूपण नामक तृतीय अध्याय समाप्त हुआ ॥

* ब्रह्मशक्ति 'अहम्ममेतिवत्' ब्रह्म से सम्बन्धयुक्त है। वही शक्ति व्यक्तावस्था में दो भावों को धारण करती है। उन्हीं दोनों को विद्या और अविद्या कहते हैं। अज्ञानमयी अविद्या वन्धन और द्वैतमय जगत् का कारण है। वह जीव को अपने वश में रखकर बन्धनदशा प्राप्त कराती है। दूसरी ज्ञानमयी विद्या जगत्कर्ता सगुण ब्रह्म के अधीन रहकर तत्त्वज्ञान द्वारा जीव को मुक्तिपथ में अग्रसर करती है। और पराशक्ति नित्य अद्वैतरूप से ब्रह्म में रहने वाली सच्चिदानन्द भाव को प्रकाश करने वाली है इसीको तुरीयाशक्ति भी कहते हैं। ये तीनों भाव एकही ब्रह्मशक्ति के अवस्थाभेदमात्र हैं। यही सब शास्त्रों का सिद्धान्त है।

जीवन्मुक्तिनिरूपणम्

हनूमानुवाच ।

सिद्धान्तवस्तुनः प्रश्नः कथं वा प्रतिषिध्यते ।
जीवन्मुक्तिर्मनुष्याणां यज्ज्ञानात्स्याद्रघूद्वह ॥१॥

श्रीरामचन्द्र उवाच ।

प्रश्नादिविषयस्सत्यस्सुखबोधैकलक्षणः ।
परात्मा परिपूर्णोसावापरोक्ष्येण सिद्धयति ॥२॥
वचसां मनसां यत्स्यात् शुद्धानां विषयः परम् ।
तद्ब्रह्म मध्यमं विद्धि तन्मे ब्रूहीति च श्रुतेः ॥३॥

श्री हनूमानजी बोलेः—हे रघुकुलश्रेष्ठ ! जिसके ज्ञान से मनुष्यों को जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है, उससिद्धान्तवस्तु का प्रश्न करनेसे मुझे आप क्यों रोकते हैं ? ॥१॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा :—जिसके सम्बन्ध में तुम प्रश्न करते हो, वह सच्चिदानन्द लक्षण परमात्मा प्रश्नआदिका विषय हो नहीं सकता क्योंकि वह परिपूर्ण होने के कारण प्रत्यक्ष ज्ञानसेही जाना जाता है ॥ २ ॥ जो परब्रह्म विशुद्ध वाणी और मन का विषय होता है, उसीको मध्यम ब्रम्ह जानो । श्रुति भी कहती है कि उसी ब्रम्ह का वर्णन मुझे सुनाओ* ॥ ३ ॥

* शास्त्रों में सगुणब्रह्म और निर्गुण तथा कार्यब्रह्म और कारणब्रह्म इसप्रकार से नाम पाये जाते हैं। निर्गुणब्रह्म और कारणब्रह्म एकही पद को कहते हैं। वह मन वाणी और बुद्धि से अगोचर है। सगुण ब्रह्म ही ईश्वर कहाता है। और कार्य-ब्रह्म ही विराटपुरुष कहाता है। वस्तुतः इसप्रकार से वेदोक्त विज्ञान के अनुसार ब्रह्म तीन भावों में वर्णन किये गये हैं। यथा निर्गुणब्रह्म, ईश्वर और विराट। निर्गुणब्रह्म बुद्धिसे अतीत हैं। इस कारण वाणी के विषय नहीं हैं। भगवान् का ईश्वररूप और विराटरूप ही नाना प्रकारसे शास्त्रों में वर्णित है। सगुण ईश्वर ही पञ्चोपासना और लीलाविग्रह उपासना में उपास्य हैं यही मध्यम ब्रह्म है।

तस्य व्युत्पाद्यमानत्वाद्रूपवत्त्वाच्च नित्यशः ।
ज्ञेयता ध्येयता च स्यात्तं बृहन्तमिति श्रुतेः ॥४॥
अथ संपत्स्य इति यदरूपस्याप्तिरुच्यते ।
तेन तस्य न शङ्क्यं स्याद्रूपवत्त्वममुख्यतः ॥५॥
जीवनजन्मादिहेतुत्वं शास्त्रयोनित्वमप्यथ ।
समन्वितश्रुतित्वं च मुख्यजिज्ञास्यवस्तुनि ॥६॥
अरूपे नैव ते धर्माः कथञ्चित्सम्भवन्त्यपि ।
अतश्च सूत्रकारेण स्वरूपं हि विचिन्तितम् ॥७॥

वह प्रतिपादन करने योग्य और रूपवान् होनेके कारण उसको सदा हम जान सकते और उसका ध्यान भी कर सकते हैं, श्रुतियोंने भी उसीको श्रेष्ठ कहा है ॥ ४ ॥ 'अब मैं प्राप्त करूंगा' इस प्रकार की श्रुति के द्वारा जो उस अरूप की भी प्राप्ति कही गई है, इससे उसके रूपवान् होने में सन्देह नहीं करना चाहिये क्योंकि उसकी अरूपता गौण है* ॥ ५ ॥ वह जानने योग्य वस्तु (ब्रह्म) जीवों के जन्म आदि का तथा शास्त्रों का आदिकारण है और उसीके प्रतिपादन में श्रुतियाँ लगी हुई हैं ॥ ६ ॥ अरूप में उन गुणों का होना कदापि सम्भव नहीं, इसीसे सूत्रकार ने स्वरूप का विचार किया है ॥ ७ ॥ मायारहित स्वतः नित्यसिद्ध अज्ञानरहित

* यह संसार नाम-रूपात्मक है; अर्थात् लौकिकसृष्टि और अलौकिक दैवीसृष्टि नाम-रूप से अतीत नहीं है । इसी कारण यह माननाही पड़ेगा कि जो स्वयं नाम-रूपात्मक है, उस जगत् या उस जीव के लिये, नामरूपरहीत निर्गुण ब्रह्म गौण विषय है इसमें सन्देह नहीं; क्योंकि नामरूप से उत्पन्न और नामरूप में ही रमा हुआ जीव नामरूपरहित निर्गुण ब्रह्मसत्ता का अनुभव करने में असमर्थ ही होगा, इसमें सन्देह क्या है ?

अमायिका नित्यसिद्धाः स्वतो नाविद्यकास्तथा ।
चिदानन्दादयो धर्मा निर्विशेषस्य विश्रुताः ॥८॥
नैतस्य निर्विशेषत्वं हीयेतासन्निरासतः ।
लीयन्ते रेणुवद्यद्यप्यथाप्यारब्धनिश्चिताः ॥९॥
असतस्सदनन्यत्वेऽप्यसतोऽन्यद्धि सद्भवेत् ।
असन्निरासकर्तृत्वं सतः स्यान्नेतरस्य तु ॥१०॥
सद्द्वैविध्यादिवादेन नवीनप्रकृतेन च ।
प्रसिद्धाद्द्वैतहानिः स्यादिति चेत्तन्न दूषणम् ॥११॥

चिदानन्दादि गुण उस निर्गुणब्रह्म के प्रसिद्ध हैं ॥ ८ ॥ असत् के नष्ट होने से उसका निर्गुणत्व नष्ट नहीं होता । यद्यपि उनका आरम्भ निश्चित है तो भी वे गुणब्रह्म में उसी तरह रहते हैं जैसे पुष्पों में पराग ॥ ९ ॥ असत् और सत् में कोई भेद न होनेपर भी असत् से जो भिन्न है वही सत् है। असत् को दूर करने की शक्ति सत् के अतिरिक्त और किसी में नहीं है ॥१०॥ इस नवीन प्रस्तुत सत् और असत् के वाद से प्रसिद्ध अद्वैत मत की हाँनि होती हो, तो भी यह दूषण की बात नहीं है * ॥ ११ ॥

* सत् चित् और आनन्दमय कारण ब्रह्मही जगतरूपसे भासमान होते हैं। जिस प्रकार सुवर्णही सुवर्ण का वलय बन जाता है, वलय में और सुवर्ण में भेद कुछ भी नहीं है; उसी प्रकार कारणब्रह्मरूपी ब्रह्म और कार्यब्रह्मरूपी जगत् में कोई भेद नहीं है, यही वेदान्त का सिद्धान्त है। ऊपर कथित सिद्धान्त ऊपर से सुननेमें अलग प्रतीत होने पर भी वास्तवमें वेदान्त के इस सिद्धान्त से ही मिलता हुआ है। जगत् को जड़, ब्रह्म को चेतन, जगत् को दृश्य, ब्रह्मको द्रष्टा, जगत् को असत् ब्रह्मको सत् इत्यादिरूप से कहकर जो ब्रह्मपद की ओर जिज्ञासु का लक्ष्य कराया जाता है, वह विज्ञानविरुद्ध नहीं है। वास्तव में जहाँ सृष्टि नहीं वहाँ अद्वैतपद है और जहाँ सृष्टि है वहाँ द्वैत होना स्वतः सिद्ध है, अस्तु द्वैत और अद्वैतवाद का झगड़ा भ्रममूलक है।

सामान्यत्वेन बाधः स्यादद्वैतस्य तु नान्यथा।
विशेषद्विविधोक्तेश्चेत्खद्योतेन रवेरपि ॥१२॥
अद्वैतब्रह्मवादो यः पूर्वकैस्सुप्रपञ्चितः।
परोक्षबोधहेतुत्वात्पूर्वपक्षगतो हि सः ॥१३॥
द्विविधब्रह्मवादोऽयं श्रुतिभिस्सुप्रपञ्चितः।
अपरोक्षनिदानत्वाद्व्रजेत्सिद्धान्तपक्षताम् ॥१४॥
ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं देहाध्यासं निवर्त्तयेत्।
यस्य नाहंकृतिर्देहे स जीवन्मुक्त इष्यते ॥१५॥
सत्यत्वं न दृढं यस्य नासत्यत्वं जगत्यपि।

क्योंकि इससे सामान्य विरोध आता है, अद्वैत का वास्तव में विरोध उपस्थित नहीं होता। यह विशेष द्वैत की उक्ति तो सूर्य के सामने जुगनू के बराबर है ॥ १२ ॥ अद्वैत ब्रह्मवाद पूर्वाचार्यों ने ही विस्तृत किया है। वह परोक्षज्ञान का कारण होनेसे पूर्वपक्ष में चला गया ॥ १३ ॥ दो प्रकारका ब्रह्मसम्बन्धी यह वाद वेदोंने प्रतिपादन किया है। यह अपरोक्षज्ञान कारण होने से इसीको सिद्धान्त पक्ष समझना चाहिये ॥ १४ ॥ ब्रह्म और आत्माकी एकता का ज्ञान, देह को ही आत्मा समझ लेने की बुद्धि को मिटाता है। जिसे देह के सम्बन्ध का अहङ्कार नहीं, वह जीवन्मुक्ति कहा जाता है * ॥ १५ ॥ जगत् की सत्यता अथवा असत्यता पर जिसकी दृढ़ता नहीं, अर्थात् जो जगत् को न सत्य समझता है न असत्य ही, वह तटस्थज्ञानसम्पन्न पुरुष

* शिव अर्थात् ब्रह्म देशकाल से अपरिच्छिन्न होनेके कारण व्यापक और अहङ्काररहित एवं जीव देशकाल से परिच्छन्न और क्षुद्र रहने के कारण अहङ्कारी जीवभाव है इस कारण देह आदिको आतमा माननेंवाले अहंकार का नाश होनें से जीव शिव हो जाता है।

तटस्थज्ञानवान् मर्त्यः स जीवन्मुक्त इष्यते ॥१६॥
स्वानुभूतिस्समाधौ स्यादुत्थानान्तरं ततः ।
स्वप्रज्ञामात्रवान्मर्त्यः स जीवन्मुक्त इष्यते ॥१७॥
साक्षिवृत्तेः पराचीनमखण्डैकरसस्थितेः ।
अर्वाचीनमवस्थानं स जीवन्मुक्त इष्यते ॥१८॥
अखण्डाकारवृत्तिः स्याच्चिन्मयी यस्य चेतसि ।
स सचित्तोप्यचित्तः स्यात्स जीवन्मुक्त इष्यते ॥१९॥

जीवन्मुक्त है * ॥ १६ ॥ समाधि अवस्था में जिसे आत्मा का अनुभव होता है और समाधि के पश्चात् भी जो केवल आत्मज्ञान-सम्पन्न हो, वह पुरुष जीवन्मुक्त है † ॥ १७ ॥ साक्षिवृत्ति से पराचीन और अखण्डैक रस स्थिति से अर्वाचीन अवस्था में जो स्थित है, वह जीवन्मुक्त है ॥ १८ ॥ जिसके चित्त में ज्ञानमयी अखण्डाकार वृत्ति का उदय हो गया हो, वह चित्तवान् होने पर भी चित्तशून्यही है और वह जीवन्मुक्त कहा जाता है ‡ ॥ १९ ॥

* माया से अतीत स्वस्वरूप का जिसे अनुभव हो जाता है उसको यह जगत् इन्द्रजालवत् एक खेलसा प्रतीत होता है, ऐसा समझकर जीवन्मुक्त जगत् से तटस्थ रहते हैं ।

† यहाँ समाधि से तात्पर्य स्वरूपदशा है । निर्विकल्प समाधि को प्राप्त करके जीवन्मुक्त सदा समाधि में ही रहते हैं: परन्तु स्वरूपदशा में उनको स्वस्वरूपका पूरा भान रहता है और जिस समय वे प्रपञ्च का कुछ कार्य करते हैं उस अभ्युत्थानदशा में विषय और इन्द्रियों के साथ उनका सम्बन्ध बना रहने पर भी उनका अद्वैतभान नष्ट नहीं होता, इस कारण द्वैतभावापन्न अभ्युत्थानदशा में भी उनका आत्मज्ञान कदापि नष्ट नहीं होता है ।

‡ जिस प्रकार भाड़ में भुना हुआ चना ऊपर की दृष्टि से चनाही प्रतीत होने पर भी उसमें अङ्कुरोत्पत्ति की शक्ति न होने से वह वास्तव में चना नहीं कहा सकता; ठीक उसी प्रकार से तत्त्वज्ञान से वासनाक्षय और मनोनाश होजाने से जीवन्मुक्त का चित्त व्युत्थान दशा में पूरा काम देने पर भी उसमें सृष्टि को स्थायी रखने की शक्ति नष्ट हो जाती है । अस्तु, ऐसा जीवन्मुक्त कर्म की दशा में पूरा कर्मी, उपासना की दशा में पूरा भक्त और योगी और ज्ञान की दशा में पूरा ज्ञानी दिखाई पड़ता है; क्योंकि उसमें ब्रह्मज्ञान के पूर्णस्वरूप का प्रकाश हो गया है ।

कर्मिवद्भक्तवच्चापि योगिवज्ज्ञानिवच्च यः ।
व्यवहारैकनिष्ठोऽस्ति स जीवन्मुक्त इष्यते ॥२०॥
देहोऽहमित्ययं बन्धः सदा ब्रह्माहमित्ययम् ।
मोक्षस्तस्मादहंबुद्धिं कुर्याद्ब्रह्मणि बुद्धिमान्॥२१॥
अहं ब्रह्मेति नियता बुद्धिः स्याद्यदि सत्तमा ।
तस्य भीतिः कुतो वा स्यात् सर्वत्राप्यभयश्रुतेः॥२२॥
यस्य देहात्मबुद्धिः स्यात् तस्य सर्वगतं भयम् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन त्यजेद्देहात्मभावनाम् ॥२३॥
जपाकुसुमसम्पर्कात्स्फटिको लोहितो यथा ।

कर्मी, भक्त, योगी और ज्ञानी पुरुष के समान जो व्यवहार में गड़ा हुआ है वह जीवन्मुक्त है ॥ २० ॥ 'मैं देह हूँ' यह बन्ध है और 'मैं निरन्तर ब्रह्म हूँ' यही मोक्ष है । इस लिये बुद्धिमान् पुरुष को ब्रह्म में ही 'अहं' बुद्धि रखनी चाहिये अर्थात् ब्रह्म मैं ही हूँ ऐसा समझना चाहिये * ॥ २१ ॥ 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार की श्रेष्ठ बुद्धि यदि दृढ़ हो जाय है तो उसे भय कहाँ ? वेदों ने भी कहा है कि वह सर्वत्र अभय हो जाता है ॥ २२ ॥ जिसकी देह में आत्मबुद्धि है अर्थात् जो देह को ही आत्मा समझता है, उसे सर्वत्र भय है । अतः सब प्रयत्नों से देह को आत्मा मानने की भावना का त्याग करना चाहिये ॥ २३ ॥ अढौल के पुष्प के संसर्ग से जिस प्रकार स्फटिक लाल देख पड़ता

* मै शरीर हूं, मैं गुणी हूं इत्यादि बन्धनकारी तामसिक अहङ्कार और मैं मुक्त हूं और मैं ब्रह्मा हूं इत्यादि मुक्तिप्रद सात्त्विक अहङ्कार है इस कारण तत्त्वज्ञानी में सात्त्विक अहङ्कार का उदय हो जाता है ।

गुणत्रयादिसम्पर्कात्तथात्मापि जडोभवेत् ॥२४॥
आत्मन्यनात्मतारोपाद्यथा जाड्यं प्रसिध्यति ।
अनात्मन्यात्मतारोपात्तथा जाड्यं हि सिध्यति॥२५॥
यथाग्नौ तत्त्वमौष्ण्यं स्यात्तथा चित्त्वं परात्मनि ।
चिदेकत्वपरिज्ञानात्सद्यः कैवल्यमश्नुते ॥२६॥
अखण्डोऽहमनन्तोऽहं परिपूर्णोऽहमद्वयः ।
इति ध्यानं भवेद्यस्य स जीवन्मुक्ततामियात् ॥२७॥
समाध्यभ्यासहीनश्चेद्दृष्टदुःखोपमर्दितः ।
आरब्धपातपर्यन्तं जगत्पश्यति सत्यवत् ॥२८॥

है, उसी प्रकार सत्त्व, रज, और तमोगुण के संसर्ग से आत्मा भी जड़ होता है ॥ २४ ॥ आत्मा में अनात्मता का आरोप करने से जिस प्रकार जड़ता प्रकट होती है, उसी प्रकार अनात्मा में आत्मताका आरोप करने से जड़ता सिद्ध होती है* ॥ २५ ॥ जिस प्रकार अग्नि में उष्णता है उसी प्रकार परब्रह्म में चित् है । चित् और ब्रह्म एकही है, इसका ज्ञान होते ही उसी समय मोक्ष प्राप्त होता है ॥ २६ ॥ मैं अखण्ड, अनन्त, परिपूर्ण और अद्वितीय हूँ इस प्रकार का जिसे ध्यान हो जाता है, वह जीवन्मुक्ति अवस्था को प्राप्त होता है ॥ २७ ॥ यदि प्रारब्ध दुःखों से पीड़ित व्यक्ति समाधि के अभ्यास से रहित हो तो शरीर का अन्त होने तक इस जगत् को सत्य के समान देखता है ॥ २८ ॥ इस जगत् के

* बन्धनप्राप्ति के दो लक्षण कहे जाते हैं। एक तो आत्मा को अनात्मवत् समझना जैसे काँचके सम्मुख लालवस्तु रहने से शुद्ध काँचको लालसमझलेना और दूसरालक्षण यह है कि अनात्माको आत्मा समझना । जैसे शरीर को चित्सत्तायुक्त जीव समझ लेना । ये दोनों ही भ्रम उत्पन्न करनेवाले हैं ।

पारमार्थिकसत्यत्वे प्रणष्टेऽस्य जगत्स्वपि ।
प्रतिभासिकसत्यत्वं सिद्धमारब्धयोगतः ॥२९॥
अस्य दग्धपटन्यायाद्देहादिप्रतिभानतः ।
दुःखं तात्कालिकं किञ्चिद्भवेन्न तु जनिः पुनः॥३०॥
गलितेषु समस्तेषु सञ्चितागामिकर्मसु ।
प्रारब्धमेकं जागर्ति जीवन्मुक्ते फलाय हि ॥३१॥
प्रारब्धकर्मजनितसुखदुःखवतोऽपि च ।
कैवल्यानुपरोधेन सतोऽप्येवास्य मुक्तता ॥३२॥

विषय में पारमार्थिक (यथार्थ) सत्यता का नाश हो जाने पर भी शरीर के कारण प्रतिभासिक (काल्पनिक) सत्यता का अस्तित्व रहेगा, यह बात सिद्ध होती है ॥ २९ ॥ जले हुए वस्त्र के समान इस शरीर आदि की दशा देखते हुए भी, यद्यपि उसे पुनः जन्म नहीं ग्रहण करना पड़ता तथापि जबतक वह (शरीर) है तब तक उसे कुछ दुःख भोगना ही पड़ता है* ॥ ३० ॥ जीवन्मुक्त के समस्त सञ्चित और आगामी कर्म नष्ट होजाने पर भी उसमें प्रारब्ध कर्म जाग्रत रहते हैं और उनके फल उसे भोगने पड़ते हैं ॥ ३१ ॥ प्रारब्ध कर्मों से उत्पन्न हुए सुखदुःखों से युक्त होने पर भी कैवल्यप्राप्ति में कोई बाधा उनसे नहीं होती, इससे उसकी मुक्ति उसी समय सिद्ध है ॥ ३२ ॥ देहादि

* तात्पर्य यह है कि जीवन्मुक्त पुरुष ब्रह्मस्वरूप ही हो जाने पर भी जबतक उनका शरीर रहता है तबतक उनके प्रारब्ध कर्मों के अनुसार उनको कुछ कर्म भी करना पड़ता है और कुछ भोगना भी पड़ता है और विशेष अवस्था में तो जीवन्मुक्त पुरुष भगवान् के प्रतिनिधि होकर जगत् का कार्य करते ही हैं ।

देहादिषु विकारेषु सदाऽहंभाववर्जिते ।
निर्विकारात्मबुद्धौ च मुक्तत्वं न विरुध्यते ॥३३॥
शुक्रशोणितमज्जास्थिरोमनाडीनखादिषु ।
अहंबुद्धिविहीनो यस्तस्य बन्धः कथं भवेत् ॥३४॥
वाक्पाणिपायुगुह्याङ्घ्रिष्वहंभावविवर्जितः ।
कर्मेन्द्रियेषु यो विद्वान् तस्य बन्धः कथं भवेत्॥३५॥
प्राणापानसमानाश्च व्यानोदानौ च वायवः ।
नाहमस्मीति यो वेद तस्य बन्धः कथं भवेत् ॥३६॥
नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः ।
एते नास्मीत्युपप्राणास्तस्य बन्धः कथं भवेत् ॥३७॥

विकारों में सदा जो अहम् (आत्मा) की भावना नहीं करता और जिसका आत्मज्ञान बिकाररहित है, उसकी मुक्तिका विरोध नहीं हो सकता ॥ ३३ ॥ वीर्य, रक्त, मज्जा, अस्थि, रोम, नाड़ी, नख आदि में अर्थात् स्थूलशरीर में जो 'अहम्' बुद्धि नहीं रखता उसका बन्ध क्यों हो ? ॥ ३४ ॥ जो विद्वान् वाणी, हाथ, गुदा, जननेन्द्रिय और पाद, इन पाँच कर्मेन्द्रियों में 'अहम्' भाव रहित हो उसका बन्ध क्यों कर हो ? ॥ ३५ ॥ प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान, ये पाँच वायु मैं नहीं हूँ, यह जो जानता है, उसका बन्ध क्यों कर हो ? ॥ ३६ ॥ नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय, ये पाँच उपप्राण मैं नहीं हूँ, यह जो समझ चुका है, उसका बन्ध कैसे हो ? ॥ ३७ ॥ कान,

श्रोत्रत्वङ्नेत्ररसनाघ्राणाख्यानीन्द्रियाणि च।
नाहमस्मीति विदुषः तस्य बन्धः कथं भवेत्॥३८॥
मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं चेति चतुष्टयम्।
यस्य नात्मतया भाति तस्य बन्धः कथं भवेत्॥३९॥
अव्यक्तमहदादीनि विक्षेपावरणानि च।
यस्यानात्मतया भान्ति तस्य बन्धः कथं भवेत्॥४०॥
अवस्थात्रितयादन्यत्तथा जीवत्रयादपि।
गुणत्रयाद्विदो ब्रह्म तस्य बन्धः कथं भवेत्॥४१॥
यस्य प्रज्ञास्त्यनुस्यूता परमात्मैकगोचरा।
सर्वत्र व्यवहारेऽपि तस्य बन्धः कथं भवेत्॥४२॥

त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका नामक इन्द्रियाँ मैं नहीं हूँ, यह बात जो जाने, उस विद्वान् का बन्ध क्यों कर हो?॥ ३८॥ मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त, इन चारों को जो आत्मा नहीं मानता, उसका बन्ध कैसे हो?* ॥ ३९॥ अव्यक्त (प्रकृति), महत् आदि तथा विक्षेप और आवरण, इन्हें जो आत्मा के रूप में नहीं देखता, उसका बन्ध कैसे हो?॥ ४०॥ तीन अवस्थाओं,[1] तीन जीवों[2] और तीन गुणों[3] से परे स्थित ब्रह्मको जो जानता है, उसका बन्ध कैसे हो? ॥४१॥ जिसकी प्रज्ञा सर्वत्र और व्यवहारदशामें भी केवल परमात्मा में ही ओतप्रोतरूप से लगी रहती है, उसका बन्ध कैसे हो?॥ ४२॥

* अन्तःकरण के चार भेद हैं। सङ्कल्प विकल्प करनेवाला मन, सदसत् निश्चय करने वाली बुद्धि, संस्कार को पकड़कर रखनेवाला चित्त और जीवत्वका अभिमान धारण करानेवाला अहङ्कार कहाता है।

१-जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति। २-स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीराभिमानी। ३-सत्त्व, रज और तम।

शान्तिदान्त्यादयो धर्मा यस्य विद्यासमुद्भवाः ।
सहजा भान्ति सततं स एव पुरुषोत्तमः ॥४३॥
कामक्रोधादयो धर्मा यस्याविद्यासमुद्भवाः ।
नष्टबीजा न शोभन्ते स एव पुरुषोत्तमः ॥४४॥
अत्याश्चर्यनिमित्तास्वप्यणिमाद्यासु सिद्धिषु ।
यस्य नाश्चर्यगन्धोऽपि स एव पुरुषोत्तमः ॥४५॥
विचित्ररचनाद्येषु पारमेश्वरकर्मसु ।
यस्य न स्मयलेशोऽपि स एव पुरुषोत्तमः ॥४६॥
चतुर्विधासु सालोक्याद्यासु मुक्तिषु यस्य च ।
स्वप्नेऽपि जायते नेच्छा स एव पुरुषोत्तमः ॥४७॥

विद्या से उत्पन्न हुए शान्ति, दान्ति आदि धर्म जिसके साथमें ही उत्पन्न हुएसे निरन्तर शोभा देते हैं, वही उत्तम पुरुष है ॥ ४३ ॥ अविद्या से उत्पन्न काम क्रोध आदि धर्मों का बीज नष्ट होजाने के कारण जिसमें वे धर्म शोभाको नहीं प्राप्त होते, वही उत्तम पुरुष है ॥ ४४ ॥ अत्यन्त आश्चर्य की कारण-स्वरूप अणिमादि सिद्धियों के विषय में भी जिसे लवमात्र आश्चर्य प्रतीत नहीं होता, वह उत्तम पुरुप है* ॥ ४५ ॥ जिनमें सृष्टिकी विचित्र रचना आदि हैं उन परमेश्वर के कार्यों के विषय में जिसे लवमात्र आश्चर्य प्रतीत नहीं होता, वह उत्तम पुरुष है ॥ ४६ ॥ सालोक्य सारूप्य आदि चार प्रकार की मुक्तियों की जिसे स्वप्न में भी इच्छा नहीं होती, वह उत्तम पुरुष है ॥ ४७ ॥

* जैसी धनादिक लौकिक सिद्धियाँ हैं, वैसी अणिमादिक अलौकिक सिद्धियाँ हैं। ज्ञानी के निकट दोनों ही हैं।

जीवन्मुक्तस्य माहात्म्यं तादृशं पवनात्मज ।
कोऽपि वर्णयितुं शक्तो नादिशेषोप्यसंशयम् ॥४८॥
यज्जन्मनाशविनिहन्तृ समस्तशोक-
मोहादिनाशकरमात्मसुखैकबीजम् ।
सर्वश्रुतिस्मृतिपुराणवचःप्रसिद्धं
जीवद्विमुक्तिपदमत्र सुदुर्ल्लभं स्यात् ॥४९॥
बाह्यान्तराऽखिलविकारविलापनेन
शिष्टे परत्र विगुणे परिपूर्णबोधे ।
सद्ब्रह्मणि स्थिरमनाः पवनात्मज त्वं
जीवद्विमुक्तिपदमत्र लभस्व शीघ्रम् ॥५०॥

इति तत्त्वसारायण उपासनाकाण्डस्य द्वितीयपादे सर्ववेद-रहस्यार्थासु श्रीरामगीतासूपनिषत्सु जीवन्मुक्ति-निरूपणं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

हे वायुपुत्र ! जीवन्मुक्त का यथार्थ माहात्म्य कोई भी--शेषनाग भी-वर्णन करने में असमर्थ है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ ४८ ॥ जो जन्ममरण के चक्रसे छुड़ाता है, जो समस्त शोक मोह आदि का नाश करता है, जो आत्मानन्द का एकमात्र बीजस्वरूप है और जो सब श्रुति स्मृति पुराणों के वचनों से प्रसिद्ध है, वह जीवन्मुक्त पद इस संसार में अत्यन्त दुर्लभ है ॥४९॥ हे वायुपुत्र ! बाह्य और आन्तरिक सब विकारोंको दूरकर अवशिष्ट, श्रेष्ठ, त्रिगुणातीत, परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप, उत्तम ब्रह्म में मनको स्थिर करते हुए तुम इस संसार में शीघ्र ही जीवन्मुक्त पद को प्राप्त करो ॥ ५० ॥

इस प्रकार तत्त्वसारायण के अन्तर्गत उपासनाकाण्डके द्वितीय पादमें कथित समस्तवेदों के अर्थों को प्रकाश करनेवाली श्रीरामगीता उपनिषद् का जीवन्मुक्ति-निरूपण नामक चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ ॥

विदेहमुक्तिनिरूपणम् ।

श्रीहनूमानुवाच ।

भगवन्सर्वलोकेश वेदार्थज्ञानसागर ।
श्रीराम निखलाराम भक्तवत्सल राघव ॥ १ ॥
त्वन्मुखाम्बुजनिष्यन्दज्जीवन्मुक्तकथामृतम् ।
कर्णाभ्यामागलं पीत्वा नित्यतृप्तोस्म्यसंशयम् ॥२॥
तथापि संशयः कश्चिन्मनस्याविर्भवत्यहो ।
कथं विदेहमुक्तिः स्याद्देहे प्रारब्धजे सति ॥ ३ ॥
जीवन्मुक्तस्य देहान्ते वैदेही मुक्तिरित्यमुम् ।
प्रसिद्धार्थं विहायात्र भवताप्युच्यतेऽन्यथा ॥४॥
देहात्मबुद्धिहीनत्वाद्विदेह इति चेदिह ।
जीवन्मुक्तसमानत्वान्न विशेषोऽत्र सिध्यति ॥५॥

श्रीहनूमानजी ने कहाः हे भगवन् ! हे चतुर्दश लोकों के स्वामी ! हे वेदार्थरूपी ज्ञानके समुद्र ! हे प्राणिमात्र के विश्राम-स्थान ! हे भक्तों पर कृपाकरनेवाले ! हे राघव ! हे श्रीरामचन्द्र ! ॥१॥ आपके मुखकमलसे निकला हुआ जीवन्मुक्त की कथारूपी अमृत कर्णों के द्वारा आकण्ठ पान कर निःसन्देह मैं सदा के लिये तृप्त हो गया हूँ ॥ २ ॥ अहो ! तिसपर भी मेरे मनमें कुछ सन्देह उठता है। प्रारब्ध से प्राप्त हुए देह के रहते विदेहमुक्ति कैसे हो सकती है ? ॥ ३ ॥ जीवन्मुक्तकी देहान्त होजाने पर विदेहमुक्ति होतीं है, इस प्रसिद्ध अर्थ को छोड़कर आप इससमय दूसरे प्रकार से क्यों कहते हैं ? ॥ ४ ॥ देह में आत्मबुद्धि न होने से ही विदेहावस्था की प्राप्ति होती

देहविस्मृतिमत्त्वेन वैलक्षण्यं विदेहिनः।
इति चेदर्थवादोऽयं न तु साक्षाद्विदेहता ॥ ६ ॥
देहमिथ्यामतेर्यस्य विस्मृतात्मतनोश्च वा।
यदात्र प्रपतेद्देहस्तदैवेति मतिर्मम ॥ ७ ॥
श्रीराम उवाच।
प्रारब्धकार्यभूतेस्मिदेहे सत्यपि मारुते।
विदेहमुक्त एवासौ येन देहोत्र विस्मृतः ॥ ८ ॥
सर्वोपनिषदामेष रहस्याऽर्थो यथार्थतः।
तुभ्यं हि कपिशार्दूल मयोक्तो नान्यथा भवेत् ॥९॥

है, ऐसा यदि कहें तो वह जीन्मुक्तावस्था के समान होने से विदेहावस्था और जीवन्मुक्तावस्था में कोई विशेषता नहीं रह जाएगी ॥ ५ ॥ देह का विस्मरण हो जाना ही विदेही की विशेषता है, ऐसा यदि माना जाय तो यह अर्थवाद हुआ, प्रत्यक्ष विदेहता नही हुई ॥ ६ ॥ देहको मिथ्या माननेवाले और जिन्हें अपने शरीर का विस्मरण होगया है, उनका जब देह छूटजाय, तभी मेरी समझ से उनकी विदेहमुक्ति होगी ॥ ७ ॥ श्रीरामचन्द्रजीने कहाः—हे वायुपुत्र! प्रारब्ध—कर्मस्वरूप इस देह के रहते हुए भी जिसे इस देह का विस्मरण हो गया हो, वह विदेहमुक्त ही है ॥ ८ ॥ सब उपनिषदों का यह यथार्थ गुह्यतत्त्व है, हे कपिश्रेष्ठ! जो मैंने तुमसे कहा है और जो कभी अन्यथा नहीं हो सकता ॥ ९ ॥ बन्ध मोक्षसे परे स्थित रूप—शून्य वस्तु के समान देह के अत्यन्त रूप से नाश होने पर

अत्यन्तदेहपाते तत्प्रसिद्धिरविचारतः ।
बन्धमोक्षविदूरस्य विरूपस्यैव वस्तुनः ॥ १० ॥
सरूपनष्टचित्तासुरखण्डाकारवृत्तिमान् ।
जीवन्मुक्त इति प्रोक्तस्सर्वमिथ्यात्वनिश्चयात्॥११॥
अरूपनष्टचित्तासुरखण्डैकरसात्मवान् ।
विदेहमुक्तस्संप्रोक्तः सर्वविस्मृतिमत्त्वतः ॥१२॥
शिष्योत्तमाय भक्ताय परप्रेमास्पदाय ते ।
अर्थवादवचस्सत्यमहं ब्रूयां किमादरात् ॥ १३ ॥
विदेहमुक्त्यतीतान्तां देहपातोत्तरोद्भवाम् ।
नावस्थां विद्धि मुक्तिन्त्वमवाङ्मनसगोचराम्॥१४॥

जो विदेहमुक्ति की प्रसिद्धि है वह अविचार से है ॥ १० ॥ जिसने सरूप अर्थात् शरीर का भान रहते हुए अपने चित्त और प्राणों की चञ्चलता को नष्ट कर दिया है, जिसकी वृत्ति अखण्डाकार है, सब कुछ मिथ्या है ऐसा उसे निश्चय होजाने के कारण वह जीवन्मुक्त कहागया है ॥ ११ ॥ जिसने अरूप अर्थात् शरीर के भान से रहित होकर चित्त और प्राणों की चञ्चलता को नष्ट कर दिया है, जो अखण्ड और एकरसात्मक है, सब कुछ भूल जाने के कारण वह विदेहमुक्त कहा गया है ॥ १२ ॥ हे हनूमान् ! तुम मेरे उत्तम शिष्य, भक्त और श्रेष्ठ प्रेमपात्र हो, मैं तुमको आदरपूर्वक सत्य वचन को बढ़ाकर क्या कहूँ ? अर्थात् मैं कहता हूँ सो सत्य है, इसे बढ़ाकर कही हुई बात न समझो ॥ १३ ॥ विदेहमुक्ति से परे जो मुक्ति देहान्त के पश्चात् उत्पन्न होती है, वह कोई अवस्था कही नहीं जा सकती, क्योंकि वह वाणी और मन से अगोचर है ॥ १४ ॥

यस्य वर्णाश्रमाचारः सुप्तहस्तस्थपुष्पवत् ।
गलितस्स्वयमेवात्र विदेहो मुक्त एव सः ॥ १५ ॥
सज्जनैः पूजिते देहे दुर्जनैः पीडितेऽपि वा ।
सुखदुःखे न यस्योस्तो विदेहो मुक्त एव सः ॥१६॥

सोते हुए मनुष्य के हाथ के पुष्पके समान जिसके वर्ण और आश्रमोंके आचार आपही आप यहीं छूट जाते हैं, वही विदेहमुक्त है* ॥ १५ ॥ सज्जनों द्वारा देहकापूजन होनेपर जिसे सुख नहीं होता और दुर्जनों द्वारा देह का पीड़न होने पर जिसे दुःख नहीं होता, वही विदेहमुक्त है ॥ १६ ॥ जिसकी चेष्टा बालक के, उन्मत्तके और पिशाच आदिके

* कर्म तीन प्रकार का है, सञ्चित, क्रियमाण और प्रारब्ध। अनेक जन्मों के कर्मराशि जो चित्तमें बीजरूप से रहते हैं, वे सञ्चित कहाते हैं। इस जन्ममें जो नये कर्म संग्रह होते जाते हैं, वे क्रियमाण कहाते हैं और पुराने सञ्चितमें से जो कर्म आगे बढ़कर बीज से अङ्कुरोत्पत्ति की दशामें परिणत होकर इस शरीर को उत्पन्न कर देते हैं, वे प्रारब्ध कहाते हैं। पहले दोनों कर्म बीजदशा में रहते हैं और प्रारब्ध कर्म अंकुरित हो जाता है। तत्त्वज्ञान के उदय होतेही जब ज्ञानी जान जाता है कि मैं अन्तःकरण का द्रष्टा आतमा हूं तो स्वतः ही अन्तःकरण में रहा हुआ सञ्चित कर्म वहीं रह जाता है और वह ज्ञानी को बन्धन नही करता ! जब आत्मज्ञानी जीवन्मुक्त वासनाका नाश कर देता है तो नये क्रियमाण कर्म उसको बांधने में असमर्थ होते हैं; परन्तु अङ्कुरोत्पत्तिको प्राप्त हुए प्रारब्ध कर्म भोग करने के लिये जीवन्मुक्त को जो रहना पड़ता है, उसी दशा का नाम जीवन्मुक्त है। इस दशामें शरीरधारी होकर वह स्थूलरूपमें दिखाई देताहै इस कारण रूपधारी है, मनोनाश होजाने से वह नष्ट चित्त कहाता है और मनोनाश होजानेसे चाञ्चल्यरहीत होकर वह प्राणचाञ्चल्यरहित रहता है। इसी जीवन्मुक्त दशाके ही ग्रन्थकारने दो स्वतन्त्र लक्षण किये हैं। पहली दशा में उसको अपने शरीर के प्रति विचार रहता है और दूसरी विदेहमुक्तदशामें उसको शरीर का भान नहीं रहता। पहली दशा जीवन्मुक्तकी कहाती है और ग्रन्थकारके मतानुसार दूसरी दशा विदेहमुक्तकी कहाती है। तात्पर्य यह है कि तत्त्वज्ञान के उदयसे वासनाक्षय और मनोनाश हो जाता है उस समय स्वतः ही आत्मज्ञानी महापुरुष सब बन्धनोंसे छूटकर मुक्त हो जाता है। इसी दशा की प्रथमावस्था को ग्रन्थकारने जीवन्मुक्तदशा और दूसरी अवस्थाको विदेहमुक्तदशा करके वर्णन किया है। वास्तवमें दोनों दशाएँ एकही हैं, केवल आगे पीछे का भेद भाव है। जीवन्मुक्त दशामें ग्रन्थकारके लक्षणानुसार अन्तःकरण की व्युत्थानदशा का बीचमें बना रहना पाया जाता है और ग्रन्थकार विदेहमुक्त उस दशाको कहते हैं कि जब उनमें व्युत्थानदशा होती ही नहीं और सदा अद्वैत दृष्टि, अद्वैत भावना, और अद्वैत रसात्मिका अवस्था उनमें अविच्छिन्न बनी रहती है और। इसके लक्षण आगे कहे जाते हैं।

बालोन्मत्तपिशाचादिचर्यावान्योगिनां वरः ।
सर्वतापविनिर्मुक्तो विदेहो मुक्त एव सः ॥१७॥
इदंभावविहीनो योऽस्त्यहंभावविवर्जितः ।
तत्त्वंभावविहीनश्च विदेहो मुक्त एव सः ॥१८॥
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यश्शूद्रश्चेति भिदामतिः ।
न जायते कदाप्यत्र विदेहो मुक्त एव सः ॥१९॥
यथा बधिरमूकान्धपङ्गुषण्ढादयः स्थिताः ।
तथा निरिन्द्रियो विद्वान्विदेहो मुक्त एव सः॥२०॥
व्यवहारदशा यस्य नैव भाति कदाचन ।
जाग्रदादिविनिर्मुक्तो विदेहो मुक्त एव सः ॥२१॥
द्रष्टृदर्शनदृश्यादिभेदः प्रातीतिकोऽपि वा ।
यस्य नोदेति पूर्णात्मा विदेहो मुक्त एव सः ॥२२॥

समान हो, जो सब प्रकार के तापों से छुटकारा पा गया हो, वही श्रेष्ठ योगी विदेहमुक्त है ॥१७॥ जो 'इदं' (यह) 'अहं' (मैं) और 'तत्त्वं' (वह तुम) इनभावोंसे रहित हो, वही विदेहमुक्त है ॥१८॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इनमें जिसकी कभी भेदबुद्धि नहीं होती, वही विदेहमुक्त है ॥१९॥ जिस प्रकार बहिरे, गूँगे, अन्धे, पङ्गु और नपुंसक होते हैं, उसी प्रकार जो विद्वान् इन्द्रियरहित हो गया हो, वही विदेह मुक्त है ॥२०॥ जिसे व्यवहार सम्बन्धी दशा अनुभव में नहीं आती और जो जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं से मुक्त हो, वही विदेहमुक्त है ॥ २१ ॥ द्रष्टा (देखने वाला) दर्शन (देखना) दृश्य (देखने की वस्तु) इन भेदों की प्रतीति भी जिसमें उत्पन्न नहीं होती, वही पूर्णात्मा विदेहमुक्त है ॥ २२ ॥

पशुपक्षिमृगा यस्मान्नोद्विजन्तेऽपि यस्तथा ।
तेभ्यो नोद्विजते नित्यं विदेहो मुक्त एव सः ॥२३॥
अखण्डैकरसाकारमखण्डैकरसाशनम् ।
अखण्डैकरसासीनं विषया न स्पृशन्ति तम् ॥२४॥
अखण्डैकरसाचारमखण्डैकरसाश्रयम् ।
अखण्डैकरसे मग्नं विबुधाः पूजयन्ति तम् ॥२५॥
अखण्डैकरसोल्लासमखण्डैकरसोन्मुखम् ।
अखण्डैकरसे लीनं वेदान्ता घोषयन्ति तम् ॥२६॥
अखण्डैकरसादन्यदणुमात्रमपि क्षणम् ।
यस्य स्फुरति नैवात्र स्थितप्रज्ञस्स उच्यते ॥२७॥

जिससे पशु पक्षि मृग आदि भी भय नहीं करते और जो निरन्तर उनसे नहीं डरता वही विदेहमुक्त है ॥ २३ ॥ जो अखण्डैकरसाकार है, अखण्डैकरस ही जिसका भोज्य है, जो अखण्डैकरस में ही स्थित है, उसको विषय स्पर्श नहीं करते ॥ २४ ॥ अखण्डैकरस ही जिसका आचार है, अखण्डैकरस हीं जिसका आश्रय है, जो अखण्डैकरस में मग्न है, उसको देवगण पूजते हैं ॥ २५ ॥ अखण्डैकरस में ही जो क्रीड़ा करता है, जो अखण्डैकरस की ओर ही लगा हुआ है, जो अखण्डैकरस में लीन है, उसकी वेदान्त भी प्रशंसा करते हैं ॥ २६ ॥ अखण्डैकरस के विना और किसी बात काणुमात्र भी एक क्षणभर जिसे स्फुरण नहीं होता, वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ॥ २७ ॥ तरङ्गों से शून्य समुद्र के समान जो अत्यन्त गम्भीर है और जिसे कभी क्षोभ नहीं होता, जो चेष्टा-

अक्षोभ्यश्चातिगम्भीरो निस्तरङ्गसमुद्रवत् ।
निश्चेष्टो निर्विकारश्च स्थितप्रज्ञस्स उच्यते ॥२८॥
यस्याजगरवन्निष्ठा मेरुवच्च विनिश्चला ।
सर्ववृत्तिविनिर्मुक्तः स्थितप्रज्ञस्स उच्यते ॥२९॥
विदेहोऽस्मीति च प्रज्ञा यस्य नैव प्रजायते ।
सदेहोऽपि विदेहो यः स्थितप्रज्ञस्स उच्यते ॥३०॥

श्रीहनूमानुवाच ।

स्वामिन्नमस्ते क्षन्तव्यो मेऽपराधो रघूद्वह ।
प्रष्टव्यं मे ह्यभूद्भूरि श्रवणादुत्तरोत्तरम् ॥ ३१ ॥
अखण्डैकरसादन्यदणुमात्रं न विद्यते ।

रहित और निर्विकार है, वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ॥ २८ ॥ जिसकी निष्ठा अजगर तथा मेरु पर्वत के समान अचल है और जो सब वृत्तियों से मुक्त है, वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है❀ ॥ २९॥ "मैं विदेह हूँ" इस प्रकार की प्रज्ञा जिसमें उत्पन्न नहीं होती, देहयुक्त होनेपर भी जो विदेह है और वहीं स्थितप्रज्ञ कहा जाता है❀ ॥३०॥ श्रीहनूमान्‌जी बोलेः—हे रघुवर, हे स्वामिन्! मैं आपको प्रणाम करता हूँ, आप मेरे अपराधको क्षमाकरें। उत्तरोत्तर (उपदेश) सुनने से मेरें (मनमें) अनेक प्रश्न उत्पन्न हुए हैं ॥ ३१ ॥ जो आपने यह कहा कि (विदेहमुक्त में) अखण्डैकरस के बिना और कुछ अणुमात्र भी नहीं रहता, इस सम्बन्ध में मुझे बड़ा सन्देह है

❀ अहङ्कार की त्रिगुण भेद से तीन श्रेणियाँ हैं। मैं देही हूं इत्यादि अहङ्कार तामसिक है। मैं विद्वान् आदि हूं यह अहङ्कार राजसिक है। मैं ब्रह्म हूं। इस प्रकार का अहङ्कार सात्त्विक है। यह सात्त्विक अहङ्कार भी जिसमें नहीं रहेगा, वही ब्रह्म-सद्भावयुक्त कहाता है।

इति यद्भवता प्रोक्तं तत्र मे संशयो महान् ॥३२॥
लब्धलब्यता श्रुतिप्रोक्ता रसस्यैव यतस्ततः।
लब्धादिभेदसंसिद्धौ कथमद्वैतसंस्थितिः ॥३३॥
खण्डद्वैतरसापेक्षो ह्यखण्डैकरसो भवेत्।
निरपेक्षमुदासीनमद्वैतं ब्रह्म विश्रुतम् ॥३४॥
तादात्म्यंसततं प्राप्तोऽव्यवहार्यश्च निर्गुणः।
व्यवहार्यो भवच्छब्दैरखण्डैकरसादिभिः ॥३५॥
उत्पाद्यत्वं विकार्यत्वं संस्कार्यत्वमथाणुता।
एते हि ब्रह्मणो धर्माः प्रतिषिद्धा बुधैरपि ॥३६॥

॥३२॥ जब कि रसकी ही प्राप्ति के लिये वेदों ने कहा है तब रसको प्राप्त करनेवाला, देनेवाला आदि प्रकार के भेद हो जायँगे और ऐसे भेद सिद्ध हो जाने पर अद्वैत की स्थिति कैसे होगी? ॥३३॥ अख-ण्डैकरस खण्ड द्वैत रसकी अपेक्षा करता है, परन्तु यह प्रसिद्ध है कि ब्रह्म निरपेक्ष, उदासीन और अद्वैतरूप है ॥३४॥ निरन्तर तादात्म्य को प्राप्त हुआ ब्रह्म निगुण और अव्यवहार्य होने पर भी आपके 'अ खण्डैकरस' आदि शब्दों से व्यवहार्य होगया ॥ ३५ ॥ ब्रह्मके उत्पाद कता, विकारिता, संस्कारिता, अणुता आदि धर्म विद्वान् पुरुषोंने भी नहीं माने हैं ॥ ३६ ॥ इस कारण जीवन्मुक्त पुरुष की, देहान्त होने पर

* एक अद्वितीय सच्चिदामय ब्रह्म अपने ही अखण्डरसात्मक भावको विशेषरूप से प्रकट करने के अर्थ अपने सत् और चित्भावसे स्वयम् ही प्रकृति और पुरुषभाव में परिणत होकर विश्व ब्रह्माण्ड की सृष्टि करते हैं, वह सृष्टिप्रवाह उन्हीं में प्रकट होता है और उन्हीं में लय हो जाता है। उसी प्रकार जीवन्मुक्त महापुरुष अथवा विदेहमुक्त ब्रह्मस्वरूप व्यक्ति में द्वैतभान का अनुभव उदित होता है और पुनः अपने आप ही स्वस्वरूप में लय हो जाता है। उस उन्नतदशा में स्वस्वरूप भान इतना दृढ़ हो जाता है कि अद्वैत दशा का अखण्डब्रह्मसद्भाव सदा बना रहता है। उन्नत विदेहमुक्त दशा में यह भाव इतना स्थिर हो जाता है कि उसमें कोई बाधा होने की सम्भावना ही नहीं रहती। जैसे प्रपञ्चमयी यह सृष्टिलीला ब्रह्मसे ही ब्रह्म में प्रकट होकर ब्रह्म में ही स्वतः ही लय हो जाती है, उसी प्रकार ब्रह्मसद्भावप्राप्त विदेहमुक्त महापुरुषमें भी सृष्टिदशा की द्वैतवृत्ति रहने नहीं पाती, अतः जैसे ब्रह्म में सृष्टि का लय सम्भव है, उसी प्रकार स्वस्वरूप प्राप्त विदेहमुक्तमें भी द्वैत प्रपञ्च का लय स्वतः सिद्ध है।

तस्माज्जीवन्विमुक्तस्य प्रयत्नेन विना स्वयम् ।
विदेहमुक्तिर्देहान्ते भवेन्न तु समाधिभिः ॥३७॥
जीवन्मुक्तिपदञ्चैवं सति प्राप्यं समाधिभिः ।
सगुणं पूर्वपक्षत्वाद्धेयत्वाच्चेति मे मतिः ॥३८॥

श्रीराम उवाच ।

प्रवृद्धिस्संशयस्यात्र क्षेमायैव महामते ।
यतस्साधुर्दृढतरो निश्चयस्ते भविष्यति ॥३९॥
न च मे क्रोधहेतुः स्यात्प्रश्नोयं बहुलोपि वा ।
याज्ञवल्क्यादयः क्रुद्धाः श्नान्नैवंविधाच्छ्रुतौ॥४०।
कथमद्वैतहानिः स्याल्लब्धव्यत्वे रसात्मनः ।
तरणौ तरुणे वृद्धिस्तमसः केन दृश्यते ॥४१॥

अनायास विदेहमुक्ति स्वयं होजाती है, समाधियोंसे नहीं होती ॥३७॥ ऐसा होनेपर समाधियों के द्वारा प्राप्त होनेवाला जीवन्मुक्ति पद पूर्वपक्ष और हेय होने से मेरी समझ से सगुण है ॥ ३८ ॥ श्रीरामचन्द्रजीने कहाः— हे महामते ! इस विषय में तुम्हारा जो सन्देह बढ़ रहा है, जो तुम्हारे लिये कल्याणकारी हैं क्योंकि इस सन्देह से तुम्हें उत्तम और अत्यन्त दृढ़ निश्चय हो जायगा ॥३९॥ यह तुम्हारा प्रश्न विस्तृत होने पर भी मेरे क्रोध का कारण नहीं बन सकता । वेदों के विषय में इस प्रकार के किये हुए प्रश्नों से याज्ञवल्क्य आदि महर्षियों ने कभी क्रोध नहीं किया है ॥ ४० ॥ रसस्वरूप के लब्धव्य होने से अद्वैत की कैसे हानि हो सकती है सूर्य के मध्यान्हकाल पूर्णतया प्रकाशित हो जाने पर क्या किसी को कभी अन्धकार की वृद्धि देख पड़ेगी ? ॥ ४१ ॥ स्वयं निवर्त्तक निवर्त्त्य की अपेक्षा कहीं नहीं रखता

क्व वा निवर्त्यसापेक्षः स्वयमस्ति निवर्तकः।
अतो निवर्तकाद्वैतं निवर्त्यद्वैतकांक्षि नो ॥४२॥
नैरपेक्ष्यादिकं सिद्धमेवं सति परात्मनः।
व्यवहार्यत्वमप्यस्य श्रुतिशब्दैस्तथाप्यता ॥४३॥
यदन्यत्पूर्वमुदितमवाङ्मनसगोचरम्।
अष्टव्यं भवेयुस्ते तत्र नोत्पाद्यतादयः ॥४४॥
निर्गुणब्रह्मरूपत्वाद्द्वयोर्मुक्त्योश्च साधनैः।
समाधिभिः क्रमेणात्र प्राप्यता न विरुध्यते ॥४५॥

इस लिये निवर्त्त अद्वैत निवर्त्त्य द्वैत की आकांक्षा करनेवाला नही होता है अर्थात् वहां द्वैतकी शङ्का हो ही नहीं सकती ॥४२॥ ऐसी अवस्थामें श्रुतिवाक्यों से परमात्मा के निरपेक्षता आदि गुण, व्यवहार्यत्व तथा प्रप्यत्व सिद्ध होते* ॥ ४३ ॥ इसके अतिरिक्त जो मैंने पहिले कहा कि वह वाणी और मनसे जाना नहीं जा सकता इस कारण उसके सम्बन्ध में प्रश्न नहीं करना चाहिये क्योंकि उसमें उत्पाद्यता आदि गुण नहीं हैं ॥४४॥ उसके निर्गुण ब्रह्मस्वरूप होनेसे दोनों मुक्तियों की साधनस्वरूप समाधिद्वारा उसकी प्राप्ति हो सकती है इसमें किसी का विरोध नहीं है* ॥४५॥ जीवन्मुक्तिकी न सगुणता और न हेयता मानी गई है क्योंकि वह जीवन्मुक्ति माया के गुणों से विनाही मुमुक्षुके द्वारा प्रार्थनीय होती है अर्थात् मायाके गुणों

* दोनों समाधि, यथा -जीवन्मुक्त व्यक्ति की समाधि और विदेहमुक्त व्यक्ति की समाधि।

जीवन्मुक्तेर्न हेयत्वं सगुणत्वञ्च सम्मतम् ।
मायागुणविहीनेन प्रार्थ्यत्वात्तन्मुमुक्षुणा ॥४६॥
मारुते त्वम्मदुक्तार्थमूहापोहविचक्षण ।
सम्यगालोच्य मनसि स्थिरमेवावधारय ॥४७॥
विदेहमुक्तिं सम्प्राप्ता माण्डव्यजनकादयः ।
बहवः श्रुतिभिः प्रोक्ताः तन्मा कुर्वत्र संशयम् ॥४८॥
अखण्डैकरसे ब्रह्मण्यनुस्यूततया भृशम् ।
अभिध्याते मनोनाशः समूलो भवति ध्रुवम् ॥४९॥
विरूपाख्ये मनोनाशे प्राप्ते तु विषयैः सह ।

का सम्पर्क रहते हुए मुक्तिकी इच्छा नहीं होती + ॥ ४६ ॥ हे ऊहापोह करने में चतुर हनूमान्! तुम मेरी उक्तियों के अर्थों का भलीभाँति विचार करके अपने मनमें स्थिर वस्तु की ही धारणा करो ॥ ४७ ॥ माण्डव्य, जनक आदि अनेक महात्मा विदेहमुक्ति को प्राप्त हुए हैं ऐसा श्रुतियों ने कहा है, अतः इस सम्बन्ध में तुम सन्देह न करो ॥ ४८ ॥ अखण्ड एकरस ब्रह्म निष्ठ होकर, अत्यन्त ध्यान लगाने से निःसन्देह समूल मनोनाश होता है ॥ ४९ ॥ विषयों के साथही साथ

+ जैसे ईश्वरभाव और ब्रह्मभाव दोनों एक ही हैं, केवल माया के वैभव से ईश्वर सगुण प्रतीत होते हैं ब्रह्म में माया के लय होजाने से ब्रह्म सगुण नहीं प्रतीत होते हैं। वास्तव में माया के वैभव से ही एकही ब्रह्म सगुण और निर्गुण रूपसे ईश्वर और ब्रह्मरूप में प्रतीत होते हैं; ठींक उसी प्रकार से मुक्तात्मा व्यक्ति भी जीवन्मुक्त रूप से और विदेहमुक्त रूप से अलग प्रतीत होते हैं। इसदशा के ज्ञानी जीवन्मुक्त कहाते हैं और ब्रह्मदशा के ज्ञानी विदेहमुक्त कहाते हैं। ईश्वर जिस प्रकार माया के वैभवरूपी जगत् की सृष्टिस्थितिलय क्रिया को जिस प्रकार प्रकृति अपने त्रिगुणमय नृत्य को दिखाती है, परन्तु ईश्वर उसमें फँसते नहीं हैं, ठीक उसी प्रकार जीवन्मुक्त व्यति सगुण होकर जगत्में रहकर भी और जगत् का कार्य करते हुए भी जगत् में नहीं फँसते हैं एवं जिस प्रकार ब्रह्मदशा में न प्रकृति रहती है, न जगत् रहता है; ठीक उसी प्रकार विदेहमुक्त दशा गुणसे अतीत कही जाती है।

सद्यो विदेहकैवल्यं प्राप्नुयादुक्तलक्षणम् ॥५०॥
भाविभोगविरक्ता हि जीवन्मुक्त्यधिकारिणः ।
भव्यभोगविरक्तास्तु वैदेह्यामधिकारिणः ॥५१॥
वनेषु पृथ्वीधरकन्दरेषु
ये नित्यबोधामृतलीनचित्ताः ।
संशेरते पक्षिकृतात्मनीड—
तर्णोत्तमाङ्गा नम एव तेभ्यः ॥५२॥
अनन्यरूपैर्गतसर्वबन्धैः

विरूपनामक मनोनाश होनेपर उक्त प्रकार की विदेहमुक्ति शीघ्रही प्राप्त होती है ॥५०॥ भावि भोग से जो विरक्त हों, वे जीवन्मुक्ति के और भव्यभोग से जो विरक्त हों, वे विदेहमुक्ति के अधिकारी हैं* ॥५१॥ वनों और पर्वतों की गुहाओं में रहकर जिनका चित्त निरन्तर ज्ञानसुधा में लीन हो रहा है और जिनके शिरकी जटाओं में पक्षियों के बनाये हुए अपने घोसलों में पक्षिशावक निवास करते हैं उन सिद्ध पुरुषों को प्रणाम है ॥५२॥ जिनका ब्रह्म के अतिरिक्त कोई स्वरूप नहीं, जो सब प्रकार के बन्धनों से दूर हैं, जो अखण्ड ज्ञान और

* भाविभोग से विरक्त अर्थात् आगामी भोगमें विरक्त और भव्यभोग से विरक्त अर्थात् वर्त्तमान भोगसे विरक्त। ईश्वर कोटि के ज्ञानीव्यक्ति जीवन्मुक्त कहाते हैं। उनके चित्ताका सम्बन्ध आगामी समष्टि कर्म अर्थात् जगत् के कल्याण की ओर रहता है और जो ब्रह्मकोटि के ज्ञानी व्यक्ति हैं, विदेहमुक्तावस्था में उनकी पूर्वापर कर्मसम्बन्धके ऊपर रहनेवाली दृष्टि हट जाने से वे वस्तुतः भव्यभोग की इच्छा से रहित होजाते हैं; अर्थात् जगत् के साथका सम्बन्ध नष्ट होजाने से उनकी आगे की ओर पीछे की दोनों दृष्टियाँ हट जाती है। इस सिद्धान्त का सारांश यह है कि जीवन्मुक्त व्यक्ति यद्यपि अपने को भूल जाता है, परन्तु वह ईश्वरकोटि को पहुँच-कर जगत् को देखता रहता है और उसको नहीं भूलता है। किन्तु विदेहमुक्त व्यक्ति जगत् को भी भूल जाता है!

अखण्डबोधैकरसात्मनिष्ठैः ।
व्युत्थानहीनैः पुरुषोत्तमैस्तैः
क्षणन्निवासोऽत्र सुदुर्ल्लभो हि ॥५३॥
कश्चिन्मुमुक्षुर्नरकोटिषु स्यात्
तेषामनेकेषु परात्मवेत्ता ।
कश्चिच्च तेषामपि जीवमुक्तः
तेषामनेकेषु विदेहमुक्तः ॥ ५४ ॥
विदेहमुक्तस्य तु तां स्वनिष्ठां
सहस्रवक्त्रश्चतुराननो वा ।
षडाननः पञ्चमुखोऽपि शक्तो
न वेदितुं वेत्ति स एव साक्षात् ॥५५॥

इति तत्त्वसारायण उपासनाकाण्डस्य द्वितीयपादे सर्ववेद-रहस्यार्थासु श्रीरामगीतासूपनिषत्सु विदेमुक्ति-निरूपणं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥

एकरस आत्मा में रममाण हैं तथा जो निरन्तर समाधि में मग्न हैं, ऐसे श्रेष्ठ पुरुषों का यहाँ (सामान्य लोगों के साथ) क्षणभर भी निवास होना दुर्लभ है ॥ ५३ ॥ करोड़ मनुष्यों में कोई एक ही मोक्ष चाहता है, अनेक मुमुक्षुओं में कोई एक परात्मज्ञानी होता है, उन ज्ञानियों में भी कोई एक जीवन्मुक्त और वैसे अनेक जीवन्मुक्तों में कोई एक विदेहमुक्त होता है ॥ ५४ ॥ विदेहमुक्त की वह आत्म-निष्ठा शेषनाग, ब्रह्मा, कार्तिकेय वा शिवजी भी नहीं जान सकते उसका स्वरूप वही स्वयं जनता है ॥ ५५ ॥
इस प्रकार तत्त्वसाराण के अन्तर्गत उपासनाकाण्ड के द्वितीयपाद में कथित समस्त वेदों के अर्थों को प्रकाश कहनेवाली श्रीरामगीता उप-निषद्का विदेहमुक्ति निरूपण नामक पञ्चम अध्याय समाप्त हुआ ।

वासनात्तयादिनिरुपणम् ।

श्रीहनूमानुवाच ।

सर्वज्ञ करुणासिन्धो रघुनायक साध्वहम् ।
सर्ववेदान्तसारांशं जानामि त्वदनुग्रहात् ॥१॥
तथापि विषयेष्वेतानीन्द्रयाणि पतन्ति मे ।
मत्तेभगन्डतलयोः भ्रमरा इव वेगतः ॥२॥
विषया सक्त मनसो मम निर्विषये रतिः ।
कथं स्यादिति चिन्ताग्निर्मा दहत्यधिकं विभो ॥३॥
येनेन्द्रियाणां विषयेष्वेतेषामरतिर्भवेत् ।
तमुपायं वदत्तिप्रं मयि ते करुणास्ति चेत ॥ ४ ॥

श्रीराम उवाच ।

मारुते तव वद्यामि सावधानमनाश्शृणु ।

श्रीहनूमानजी बोलेः—हे सर्वज्ञ दयासागर रघुनायक ! आपकी कृपा से सम्पूर्ण वेदान्त के सारांश को मैं भली भाँति जानता हूँ ॥ १ ॥ तौभी मेरी ये इन्द्रियाँ विषयों पर इस प्रकार गिरती हैं जैसे कि मतवाले हाथी के कपोलों पर भ्रमर वेग से आ गिरते हैं ॥ २ ॥ मेरा मन विषयों में आसक्त है, मेरी प्रीति निर्विषय (ब्रह्म) में कैसे हो, यही चिन्तारूपी अग्नि, हे नाथ ! मुझे अधिक जला रही है ॥ ३ ॥ यदि मुझ पर आपकी करुणा है, तो उस उपाय को शीघ्र कहिये, जिससे इन इन्द्रियों की विषयों में आसक्ति न हो ॥ ४ ॥ श्रीरामचन्द्रजी बोलेः--हे वायुपुत्र ! विषयों में अनासक्ति होने का उपाय मैं तुमसे कहता हूँ, चित्त को

महद्भिस्सं श्रितं नित्यं विषयाऽरतिकारणम् ॥५॥
वासनाक्षयविज्ञानमनोनाशाभिधं त्रयम् ।
समकालं समभ्यस्तं येनैव विषया जिताः ॥६॥
एकैकशो निषेव्यन्ते यद्येते चिरमप्यलन्
तन्न सिद्धिं प्रयच्छन्ति मन्त्रास्सङ्कीर्णिता इव ॥७॥
वासनासम्परित्यागे यदि यत्नं करोषि भोः ।
यावद्विलीनं न मनो न तावद्वासनाक्षयः ॥८॥
न क्षीणा वासना यावच्चित्तं तावन्न शाम्यति ।
यावन्न तत्त्वविज्ञानं तावच्चित्तशमः कुतः ॥९॥

सावधान करके सुनो, इस उपाय का श्रेष्ठ पुरुष निरन्तर आश्रय करते हैं ॥ ५ ॥ वासनाओं का क्षय, तत्त्वज्ञान और मनोनाश इन तीनों साधनों का जिसने एक साथ ही भली भाँति अभ्यास किया हो, उसने ही विषयों को जीतलिया है ॥ ६ ॥ इन तीनों में से एक एक का अलग अलग बहुत समय तक भी यदि अच्छीतरह अभ्यास किया जाय तो कोई फल न होगा, जैसा कि मन्त्रों के खण्डों का जप करने से फल नहीं होता ॥ ७ ॥ हे वायुपुत्र ! यदि तुम बासना को छोड़ देने का यत्न करोगे, तो (यह निश्चय समझो कि) जब तक मन विलीन नहीं होगा, तब तक बासनाक्षय नहीं हो सकता ॥ ८ ॥ जब तक वासना क्षीण न हो, तब तक चित्त शान्त नहीं होता और जब तक तत्त्वज्ञान नहीं प्राप्त हुआ हो, तब तक चित्त कैसे शान्त हो सकता है ? ॥ ९ ॥ जब तक चित्त

यावन्न चित्तोपशमो न तावत्तत्त्ववेदनम् ।
यावन्न वासनानाशः तावत्तत्त्वागमः कुतः ॥१०॥
यावन्न तत्त्वसम्प्राप्तिर्न तावद्वासनाक्षयः ।
तत्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय एव च ॥११॥
मिथः कारणतां गत्वा दुस्साध्यानि स्थितान्यतः ।
भोगेच्छां दूरतस्त्यक्त्वा त्रयमेतत्समाचर ॥१२॥
विदेहमुक्तिकामस्य पूर्वोक्तं साधनत्रयम् ।
अवश्यं साधनीयं यन्मारुते नान्यथा हि सा ॥१३॥

श्रीहनूमानुवाच ।

जीवन्मुक्तस्य भगवन् ब्रह्मात्मैक्यं प्रपश्यतः ।
सर्वानर्थनिवृत्तिः स्यादानन्दावाप्ति रेव च ॥१४॥

स्थिर न हो, तब तक तत्त्वज्ञान नहीं होता और जब तक वासना का क्षय न हो, तब तक तत्त्वज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता है? ॥ १० ॥ जब तक तत्त्वज्ञान की प्राप्ति नहीं होगी, तब तक वासना का क्षय भी नहीं होगा। तत्त्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय ये तीनों ही एक दूसरे के कारण बनकर दुःसाध्य, (कष्ट से प्राप्त होने वाले) हो रहे हैं, अतः भोगों की इच्छा को दूर से ही त्याग कर उक्त तीनों साधनों का एक साथ ही अभ्यासकरो ॥ ११-१२ ॥ विदेह-मुक्ति चाहने वाले को पूर्वोक्त तीनों साधनों का अवश्य अभ्यास करना चाहिये क्योंकि हे मारुते! अन्यथा करने से विदेह मुक्ति की प्राप्ति ही नहीं होगी ॥ १३ ॥ श्रीहनूमान्जीने कहाः हे भगवन्! ब्रह्म और आत्मा का ऐक्य देखने वाले जीवन्मुक्त के सब अनर्थों की निवृत्ति हो जाती है और उसे आनन्दकी प्राप्ति भी होती है ॥१४॥

इमास्तस्य भवेयुश्चेन्महाविषयवासनाः ।
मुक्तत्वं नैव तस्यात्र वक्तुं शक्यं कथञ्चन ॥१५॥
विज्ञानवत्त्वमप्यस्य प्रसिद्धं चामनस्कता ।
अज्ञस्य समनस्कत्वात्संसारित्वं स्फुटं भुवि ॥१६॥
समकालं त्रयाणाञ्च कः क्षमोऽभ्यासकर्मणि ।
एकैकस्याप्यहं मन्ये सेवनं दुर्ल्लभं प्रभो ॥१७॥

श्रीराम उवाच ।

प्रारब्धव्यतिरिक्ता ये सञ्चितागामिरूपिणः ।
अनर्थाः कर्मसंज्ञास्ते जीवन्मुक्ते निवर्तिताः॥१८॥

परन्तु उसमे यदि ये महान् विषयवासनाएँ हों, तो वह मुक्त है, ऐसा कदापि नहीं कहा जा सकता ॥ १५ ॥ जीवन्मुक्त का ज्ञानी और शान्तचित्त होना भी प्रसिद्ध है और अज्ञानी का चित्त शान्त न रहने के कारण वह संसार में संसारी कहा जाता है ॥ १६ ॥ तीनों साधनों का एक साथ अभ्यास करने में कौन समर्थ है ? हे प्रभो ! मैं तो एक एक का भी सेवन दुर्लभ समझता हूँ ॥ १७ ॥ श्रीरामचन्द्रजी बोलेः—प्रारब्ध कर्मों को छोड़कर सञ्चित और आगामी रूपी कर्म के नाम से प्रसिद्ध जो अनर्थ हैं उनसे जीवन्मुक्त पुरुष निवृत्त रहता है* ॥ १८ ॥ दृष्टदुःख अर्थात् प्रारब्धकर्मों से

* जब सञ्चित और क्रियमाण दोनों से जीवन्मुक्त भी बच जाता है तब विदेहमुक्त तो अवश्य ही बच जाता है । वस्तुतः दोनोंही का इन दोनों प्रकार के कर्मों से बचना सिद्ध है । परन्तु केवल प्रारब्ध कर्मभोग की शैलीके अनुसार जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त दोनों का पार्थक्य निरूपण किया जाता है । सो यह है—जीवन्मुक्त व्यक्ति प्रारब्धकर्म का जो भोग करता है इस समय वह उससे सावधान होनेका प्रयत्न रखता है; परन्तु वह प्रयत्न विदेहमुक्त नहीं रखता । यह पहिलेही कह चुके हैं कि जीवन्मुक्त व्यक्तिका सम्बन्ध जगत्के साथ रहता है और विदेहमुक्तका सम्बन्ध जगत् के साथ नहीं रहता । इसी कारण जगत् से सम्बन्धयुक्त रहने के कारण जगत् के सम्बन्ध से सदसत् का विचार रहने से जीवन्मुक्त में सांकुश भाव का उदय रहना स्वतः सिद्ध है । परन्तु विदेहमुक्त में वैसा न होना भी स्वतः सिद्ध है ! यही विदेहमुक्त की आनन्द-प्राप्ति में निरंकुशता है ।

दृष्टदुःखसमेतत्वादानन्दावाप्तिरस्य च ।
सांकुशैव तदन्यस्य त्वदेहस्य निरंकुशा ॥१९॥
आरब्धवासना एता अयथापूर्वलक्षणाः ।
जीवन्मुक्तिविरोधिन्यो न भवेयुः कथञ्चन ॥२०॥
सम्यग्ज्ञानित्वमस्य स्यान्नैकात्म्यज्ञानिता तथा।
सरूपनष्टचित्तत्वञ्च त्वरूपमनस्कता ॥२१॥
समकालं त्रयाभ्यासे क्षमः स्यात्त्वादृशो भुवि ।

युक्त होनेके कारण जीवन्मुक्त को आनन्दकी प्राप्ति सांकुश ही होती है और विदेहमुक्त को तो निरंकुशहुआ करती है ॥ १९ ॥ प्रारब्धकर्म सम्बन्धी वासनाएँ, जो सञ्चितादि कर्मसम्बन्धी वासनाओं के समान नहीं हैं कदापि जीवन्मुक्ति की विरोधिनी नहीं हो सकतीं ॥ २० ॥ जीवन्मुक्त को सम्यग्ज्ञान तो होजाता है परन्तु ऐकात्म्यज्ञान नहीं होता, क्योंकि उसका सरूप चित्त नष्ट होजाने पर भी अरूप चित्त नष्ट नहीं हुआ करता * ॥ २१ ॥ इस धरातल में तुम्हारे समान व्यक्ति वासनाक्षय, तत्त्वज्ञान और मनोनाश, इन तीनों का एक साथ अभ्यास करने में समर्थ हो सकता है। तुम सदा गतिशील अर्थात् चञ्चलप्रकृतिवाले वायुदेव के पुत्र

* जीवन्मुक्त व्यक्ति और विदेहमुक्त व्यक्ति इन दोनोंके अन्तःकरणोंके स्वस्वरूप अनुभव की दशाओं का वर्णन कर रहे हैं। जीवन्मुक्त महापुरुष यद्यपि विचार द्वारा अद्वैत भाव का अनुभव करलेते हैं, परन्तु जगत् की ओर उनकी दृष्टि बनी रहने से और प्रारब्ध के वेग से जगत् की ओर उन के चित्त का आकर्षण वेगवान् रहने से उनमें स्वस्वरूप का सम्यग्ज्ञान तो विचार द्वारा होजाता है परन्तु सब समय अखण्डरूपसे उनमें ऐकात्म्यज्ञान का अनुभव नहीं रह सकता। उनमें व्युत्थान दशा और स्वरूपदशा का होना पर्याय से बार बार बना रहता है। विदेहमुक्त में यह बात नहीं होती है, उनमें प्रारब्ध का वेग सर्वथा शिथिल और उनका चित्त जगत्सम्बन्ध से रहित होजाने से उनमें ब्रह्मज्ञान की एकतानता और स्वरूपज्ञान की एकात्मता सदा बनी रहती है।

सदागतिसुतोपि त्वमसङ्गसुत एव हि ॥२२॥
सङ्गस्ते विषयैरेतैर्गन्धमात्रोपि मारुते ।
न भवेदिति सम्मन्ये सुलभं त्रयसेवनम् ॥२३॥
त्रय एते समा यावन्नाभ्यस्ताश्च पुनः पुनः ।
तावन्न पदसम्प्राप्तिर्भवत्यपि समाः शतैः ॥२४॥
त्रिभिरेतैश्चिराभ्यस्तैर्हृदयग्रन्थयो दृढाः ।
निश्शङ्कमेव त्रुट्यन्ति बिसच्छेदाद्गुणा इव ॥२५॥
जन्मान्तरशताभ्यस्ता मिथ्या संसारवासना ।
सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित् ॥२६॥

होने पर भी उन्हीं वायुदेव के कुमार ही तो हो जो असङ्ग अर्थात् सङ्ग रहित हैं ॥ २२ ॥ इस कारण हे मारुते ! तुम में इन विषयों के सङ्ग का गन्ध मात्र भी नहीं है और इसीसे मैं समझता हूँ कि तुम्हारे लिये इन तीनों (वासनाक्षय, तत्त्वज्ञान और मनोनाश) का एक साथ अभ्यास सुलभ होगा ॥ २३ ॥ इन तीनों का एक साथ पुनः पुनः अभ्यास न करने से सैकड़ों वर्षों तक उस पदकी प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ २४ ॥ इन तीनों का चिरकाल तक अभ्यास करने से हृदय की दृढ़ ग्रन्थियाँ (अज्ञान) निस्सन्देह ही उसी तरह टूट जायँगीं, जिस तरह कमल के नाल को तोड़ देने से उसके तन्तु भी आप ही आप टूट जाते हैं ॥ २५ ॥ सैकड़ों जन्मों की अभ्यस्त मिथ्या संसारवासना, तीनों का एक साथ बहुत समय तक अभ्यास किये विना कभी क्षीण न होगी ॥ २६ ॥ लोकवासना के, शास्त्र

लोकवासनया जन्तोश्शास्त्रवासनयापि च।
देहवासनया ज्ञानं यथावन्नैव जायते ॥२७॥
द्विविधो वासनाव्यूहश्शुभश्चैवाशुभश्च ते।
वासनौघेन शुद्धेन तत्र चेदनुनीयसे ॥२८॥
तत्क्रमेणाशु तेनैव मामकं पदमाप्नुहि।
अशुभव्यूहनाशाच्च सद्यस्तृप्तिर्निरङ्कुशा ॥२९॥
अथ चेदशुभो भावस्त्वां योजयति सङ्कटे।
प्राक्तनस्तदसौ यत्नाज्जेतव्यो भवता कपे ॥३०॥
शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासनासरित्।
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि ॥३१॥

वासना के और देहवासना के कारण जीव को यथार्थ ज्ञान नहीं होता ॥ २७ ॥ तुम्हारी वासनाओं का व्यूह दो प्रकार का है, एक शुभ और दूसरा अशुभ। यदि तुम शुद्ध (शुभ) वासना के प्रवाह से चलोगे, तो उसीके द्वारा क्रमशः शीघ्रही मेरे पद को प्राप्त होगे। अशुभवासनाओं के व्यूह का नाश होजाने पर उसी समय निरंकुश तृप्ति (निर्बाध आनन्द) प्राप्त होती है * ॥२८ २९॥ यदि तुम्हें अशुभ भाव (वासना) सङ्कट में डाले तो, हे कपे! यत्न के साथ उसको जय करना चाहिये क्योंकि वह भाव पूर्व-सञ्चित कर्मों का है॥ ३० ॥ शुभ और अशुभ मार्गों से बहने वाली बासनारूपी नदी को (नदी के प्रवाह को) पुरुषार्थ और प्रयत्न से शुभमार्ग की ओर लेजाना चाहिये ॥ ३१ ॥ अशुभमार्ग में

* तत्त्वज्ञान, वासनाक्षय और मनोनाश इन तीनों के साधन करने के लिये सबसे पहिला उपाय बता रहे हैं, वह यह है।

अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवावतारयेत् ।
अशुभाच्चालितं याति शुभं तस्मादपीतरत् ॥३२॥
पौरुषेण प्रयत्नेन लालयेच्चित्तबालकम् ।
तदभीष्टप्रदानेषु प्रवृत्त इव संस्थितः ॥३३॥
द्रागभ्यासवशाद्याति यदा ते वासनोदयः ।
तदाभ्यासस्य साफल्यं विद्धि त्वमरिमर्द्दन ॥३४॥
सन्दिग्धायामपि भृशं शुभामेव समाचर ।
शुभायां वासनावृद्धौ न दोषोस्ति मरुत्सुत ॥३५॥
अशुभैर्वासनाव्यूहैर्मनो बद्धं विदुर्बुधाः ।

प्रवृत्त हुए मनको शुभमार्ग की ओरही ले जाना चाहिये। अशुभ मार्गसे चालित होने पर वह शुभमार्ग की ओर अग्रसर होता है और उस शुभमार्गसे भी चालित होने पर अन्य शुभाशुभविहीन मार्ग (मोक्ष) को प्राप्त होता है * ॥ ३२ ॥ चित्तरूपी बालक कीं पुरुषार्थ और प्रयत्न से ऐसी सँभाल करनी चाहिये, मानो उसका अभीष्ट प्रदान करने में तुम प्रवृत्त हुए हो ॥ ३३ ॥ जब तुम्हारी वासनाओं का उदय शीघ्रही अभ्यास के वशीभूत हो जाय, तब हे शत्रुओं के नाश करनेवाले ! तुम समझलो कि अभ्यास सफल होगया ॥ ३४ ॥ यदि शुभ वासना कुछ सन्दिग्ध हो, तौभी निश्चितरूप से उसी का अवलम्ब करो। हे वायुपुत्र ! यदि शुभ वासनाओं की वृद्धि हो तो उसमें कोई दोष नहीं है ॥ ३५ ॥ विद्वज्जन मन को अशुभ-वासनाओं के व्यूह से बद्ध समझते हैं। वही मन जब वासनाओं

* आत्मज्ञान के अनुकूल शुभ और उसके प्रतिकूल वासनाएँ अशुभ कहाती हैं।

सम्यग्वासनया त्यक्तं मुक्तमित्यभिधीयते ॥३६॥
मनोनिर्वासनीभावमाचराऽऽशु महाकपे ।
सम्यगालोकनात्सत्याद्वासना प्रविलीयते ॥३७॥
अखण्डाकारवृत्त्या च द्विधाऽखण्डरसेन च ।
वासनाविलये चेतश्शममायाति दीपवत् ॥३८॥
वासनां सम्परित्यज्य मयि चिन्मात्रविग्रहे ।
यस्तिष्ठति गतस्नेहस्सोऽहं सच्चित्सुखात्मकः ॥३९॥
समाधिमथ कर्माणि मा करोतु करोतु वा ।
हृदयेनात्तसर्वेहो मुक्त एवोत्तमाशयः ॥४०॥

से भलीभांति रहित हो जाता है, तब वह मुक्त कहा जाता है* ॥ ३६ ॥ हे कपिवर ! तुम अपने मन को शीघ्र वासनारहित बनाओ। सत्य (आत्मा) को ठीक तरह देखने से अर्थात् आत्मा का यथार्थ ज्ञान होने से वासना का लय हो जाता है ॥ ३७ ॥ अखण्डाकार वृत्ति और अखण्डरस इन दो साधनों से वासना का लय होने पर चित्त दीपक के समान शान्ति को प्राप्त होता है ॥ ३८ ॥ वासना को छोड़ कर संसारिक स्नेह से रहित हो मेरे केवल चिन्मय शरीर में ही जो रहता है सच्चिदानन्दमय वही मैं ॥ ३९ ॥ हृदय से जिसने सब वासनाओं को दूर कर दिया है, जिसके विचार विशुद्ध हैं, वह मुक्तही है, चाहे वह समाधि अथवा कर्माचरण करे या न करे ॥ ४० ॥ ब्रह्माविदादि अर्थात्

* यह दूसरा अधिकार है। प्रथम अशुभ वासनाओं का त्याग होता है और और अन्त में शुभ अशुभ दोनों वासनाओं का त्याग हो जाता है।

सद्यो मुक्ताश्च चत्वारो नूनं ब्रह्मविदादयः।
तथापि तारतम्येन दृष्टदुःखं हि सिध्यति ॥४१॥
तस्मात्समाधींश्चतुरो निर्विकल्पादिकान् क्रमात्।
कर्माण्यपि च नित्यानि कुर्यादेव महामतिः ॥४२॥
नैष्कर्म्येण न तस्यार्थस्तस्यार्थोऽस्ति न कर्मभिः।
न समाधानजप्याभ्यां यस्य निर्वासनं मनः ॥४३॥
दृष्टदुःखनिवृत्त्यर्थं लोकक्षेमार्थमेव वा।
नैष्कर्म्यादिकमात्मज्ञश्शुभं नित्यं समाचरेत् ॥४४॥
संत्यक्तवासनान्मौनादृते नास्त्युत्तमं पदम्।

ब्रह्मविद्, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वर्य और ब्रह्मविद्वरिष्ठ, ये चारों ही यद्यपि सद्योमुक्त हैं, तथापि उन्हे तारतम्य से दृष्टदुःख भोगने ही पड़ते हैं ॥ ४१ ॥ इसकारण बुद्धिमान् पुरुष को क्रमशः निर्विकल्प आदि चार प्रकार की समाधियां और नित्यकर्म करने ही चाहिये ॥ ४२ ॥ जिसका मन वासनारहित हो गया है, उसे न तो नैष्कर्म्य से प्रयोजन है, न कर्मों से, न चित्त की एकाग्रता से और न जप आदि से ही; परन्तु उस आत्मज्ञानी पुरुष को दृष्टदुःखों की निवृत्ति और लोककल्याण के लिये ही नैष्कर्म्यादि शुभ कर्म नित्य करने चाहिये * ॥४३---४४॥ वासनात्यागपूर्वक मौनावलम्बन † किये बिना वह उत्तम पद प्राप्त नहीं हो सकता।

* ऊपर लिखित चार अवस्थाओं का और समाधियों के प्रकरणों का वर्णन आगे आवेगा।

† मन को विषयों में न लगने देने को मौन कहते हैं। मौन प्रकारान्तर से प्रत्याहार साधन को कहते हैं।

अशुभा वासनाश्छिन्धिगृहाण शुभवासनाः ॥४५॥
वासनाहीनमप्येतच्चक्षुरादीन्द्रियं स्वतः।
प्रवर्तते बहिः स्वार्थे वासनामात्रकारणम् ॥४६॥
अयत्नोपनतेष्वक्षि दृग्द्रव्येषु यथा पुनः।
नीरागमेव पतति तद्वत्कार्येषु धीरधीः ॥४७॥
भावसंवित्प्रकटितामनुरूपाञ्च मारुते।
चित्तस्योत्पत्तिपरमां वासनां मुनयो विदुः ॥४८॥

इसलिये अशुभ वासनाओं को तोड़ो और शुभ वासनाओंको ग्रहण करो ॥ ४५ ॥ वासनारहित होने पर भी चक्षु आदि इन्द्रियाँ आप ही अपने स्वार्थ में बहिर्मुख होकर प्रवृत्त होती हैं, परन्तु इसमें उन इन्द्रियों को धारण करनेवाले व्यक्ति की (पूर्व) वासनाही कारण है ॥ ४६ ॥ पुनः विना यत्न के प्राप्त दृष्टिगोचर होनेवाले पदार्थों पर जिस प्रकार आंखें नीराग (आसक्तिरहित) ही रहती हैं, उसी प्रकार दृढ़चेता (कर्मवीर) कर्मकरते हुए भी आसक्तिशून्य हुआ करते हैं * ॥ ४७॥ भावज्ञान से प्रकट होनेवाली, अपने अनुकूल और जो चित्तसंस्कार की उत्पत्ति करने में दक्ष हो, हे मारुते! उसको मुनिगण वासना कहते हैं ॥ ४८ ॥ दृढ़रूप से अभ्यस्त हुए पदार्थों की निरन्तर भावना करते रहने से चित्त

* जनसमुदाय में रहनेवाले व्यक्ति की दृष्टि स्वभाव से ही सब प्रकार के दृश्यों पर पड़ती रहती है; परन्तु वह दृष्टि पड़ना ही सब जगह उसको आसक्त नहीं करता। दिन में आकाश की प्रशान्त नीलिमा या रात्रि की अन्धकारमयी गम्भीरता जैसे स्वाभाविक द्रष्टा को आसक्त नहीं करती, ठीक उसी प्रकार जीवन्मुक्त व्यक्ति जगत्कल्याण का कार्य करते रहने पर भी निरासक्त रहते हैं।

दृढाभ्यस्तपदार्थैकभावनादतिचञ्चलम् ।
चित्तं सञ्जायते जन्मजरामरणकारणम् ॥४९॥
वासनावशतः प्राणः स्पन्दते न च वासना ।
क्रियते चित्तबीजस्य तेन बीजाङ्कुरक्रमः ॥५०॥
द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य प्राणस्पन्दनवासने ।
एकस्मिंश्च तयोः क्षीणे क्षिप्रं द्वे च विनश्यतः ॥५१॥
असङ्गव्यवहारत्वाद्भवभावनवर्जनात् ।
शरीरनाशदर्शित्वाद्वासना न प्रवर्तते ॥ ५२ ॥
वासनासम्परित्यागाच्चित्तं गच्छत्यचित्तताम् ।
अवासनत्वात्सततं यदा न मनुते मनः ॥५३॥

अत्यन्त चञ्चल होजाता है और वही जन्म, वृद्धावस्था तथा मरण का कारण होता है ॥ ४९ ॥ वासना के कारण वही प्राणों में स्पन्दन होता है, किन्तु वासना स्पन्दशून्यही रहती है, वही प्राणों का स्पन्दन चित्तबीज को बीजाङ्कुरक्रम में परिणत करता है ॥ ५० ॥ चित्तरूपी वृक्ष के दो बीज हैं, एक प्राणों का स्पन्दन और दूसरा वासना। इन दोनों मेंसे किसी एक के भी क्षीण होने से दोनों का शीघ्रही नाश होजाता है ॥ ५१ ॥ निसङ्ग (आसक्तिरहित) व्यवहार करने से, जगत्-सम्बन्धी भावनाओं को छोड़ने से और शरीर नाशमान है इसको देख लेने से वासना उत्पन्न नहीं होती ॥ ५२ ॥ वासना के सम्यक् त्याग से चित्त अचित्तता को प्राप्त होता है और निरन्तर वासनारहित होनेसे जब मन कुछ नहीं चाहता ॥ ५३ ॥ तब अमनस्त दशा का उदय होता है, अर्थात् इस दशा में

अमनस्ता तदोदेति परमोपशमप्रदा ।
विज्ञानञ्च प्रवर्द्धेत सद्यः कैवल्यकारणम् ॥५४॥
अव्युत्पन्नमना यावद्भवानज्ञाततत्पदः ।
गुरुशास्त्रप्रमाणैस्तु निर्णीतं तावदाचर ॥५५॥
ततः पक्वकषायेण नूनं विज्ञातवस्तुना ।
शुभोप्यसौ त्वया त्यक्तो वासनौघो भवेत्स्वयम्॥५६॥
द्विविधश्चित्तनाशोस्ति सरूपोऽरूप एव च ।

मनका अस्तित्व ही नहीं रहता, यह दशा परम शान्ति को प्रदान करनेवाली है, इससे विज्ञान की वृद्धि होती है, जो सद्यः (तुरन्त) कैवल्यमुक्ति का कारण है ॥५४॥ जब तक तुम्हारा मन व्युत्पन्न (सुसंस्कृत) नहीं हुआ है और जब तक तुमने उस परमपद को नहीं जान लिया है, जब तक तुम गुरुवाक्य और शास्त्र-प्रमाणों से जो निश्चित है, उसी का आचरण करो ॥ ५५ ॥ तत्पश्चात् विशेषरूपसे जानली हुई वस्तु के द्वाराही दृढ़ अनुभव होजाने के कारण इस शुभ वासनाओं के समूह को भी आपही आप तुम त्याग दोगे * ॥ ५६ ॥ चित्त का नाश दो प्रकार का होता है, एक सरूप चित्तनाश और दूसरा अरूप चित्तनाश । जीवन्मुक्तावस्था में सरूप चित्तनाश और विदेहमुक्तावस्था में

* यह साधन-क्रम बताया गया । गुरूपदिष्ट उपाय द्वारा अशुभ वासनाओं का त्याग और शुभ वासनाओं का संग्रह प्रथम किया जाता है । उसके अनन्तर तत्त्वज्ञान की प्राप्ति से शुभवासना भी नहीं उठती, यही वासनाक्षय है और उसके बाद स्वतः ही मन निश्चल हो जाता है, यही मनोनाश है ।

जीवन्मुक्तो सरूपः स्यादरूपो देहमुक्तिगः ॥५७॥
अस्य नाशमिदानीं त्वं पावने शृणु सादरम् ।
चित्तनाशाभिधानं हि यदा ते विद्यते पुनः ॥५८॥
मैत्र्यादिभिर्गुणैर्युक्तं शान्तिमेति न संशयः ।
भूयोजन्मविनिर्मुक्तं जीवन्मुक्तस्य तन्मनः ॥५९॥
सहस्राङ्कुरशाखाग्रफलपल्लवशालिनः ।
अस्य संसारवृक्षस्य मनो मूलमिदं स्थितम् ॥६०॥
सङ्कल्प एव तन्मन्ये सङ्कल्पोपशमेन तत् ।
शोषयाशु यथा शोषमेति संसारपादपः ॥६१॥

अरुप चित्त नाश होता है* ॥ ५७ ॥ जब तुम चित्तनाशस्वरूपही हो तो हे पवनपुत्र! अब तुम पुनः आदर के साथ चित्तनाश को सुनो ॥ ५८ ॥ मैत्री आदि गुणों से युक्त जीवन्मुक्त पुरुष का वह मन शान्ति को प्राप्त होता और पुनः उसका जन्म नहीं होता, इसमें कोई सन्देह नहीं है† ॥ ५९ ॥ हजारों अङ्कुर, शाखा और शाखाओं के अग्रभागों में लदे हुए फल पत्ते आदि से युक्त इस संसाररूपी वृक्षका मूल यह मनही है ॥६०॥ मैं समझताहूँ वही मन सङ्कल्प-रूप है इसलिये तुम सङ्कल्पोंकाही उपशमन करके मनको शीघ्र शुष्क करदो जिससे संसाररूपी वृक्ष आपही सूख जायगा ॥ ६१ ॥

* ये दोनों मनोनाश की दो अवस्थाएँ है। पहिली अवस्था जीवन्मुक्त में और दूसरी विदेहमुक्त में होती है।

† पुण्यात्मा में मैत्री, पापी में उपेक्षा, सुखी को देखकर आनन्द और दुखी को देखकर करुणा ये चार वृत्तियाँ चित्त को समाधि देनेवाली है।

निस्सङ्कल्पसमाध्याख्यस्सर्वसङ्कल्पशोषणः ।
उपाय एक एवास्ति मनसस्स्वस्य निग्रहे ॥६२॥
मनसोऽभ्युदयो नाशो मनोनाशो महोदयः ।
ज्ञो मनोनाशमभ्येति मनोज्ञस्य हि शृङ्खला ॥६३॥
यस्य निर्वासनो चित्तो बोधस्स ज्ञानिनां वरः ।
सवासनस्सचित्तस्तु सुलभो निष्प्रयोजनः ॥६४॥
आहुश्शुभेच्छादिसमाह्वयाश्शुभाः
श्रुत्यन्तसिद्धाः खलु सप्तभूमिकाः ।
एकैककस्यैतदनुव्रज त्रये

निःसङ्कल्पनामक समाधि सब सङ्कल्पों को सुखाती है। अपने मनका निग्रह करने के लिये निःसङ्कल्प समाधि का अभ्यास करना ही एकमात्र उपाय है ॥ ६२ ॥ मनका अभ्युदय हीं नाशरूप है और मनोनाश ही महान् अभ्युदय है। ज्ञानी मनोनाश को प्राप्त होते हैं और मनोज्ञ [अज्ञानी] ही बद्ध होते हैं ॥ ६३ ॥ जिनका चित्त वासनारहित होगया हो, वह ज्ञानस्वरूप व्यक्ति ज्ञानियों में श्रेष्ठ है। वासनावान् और चित्तवान् होना सुलभ होने पर भी निष्प्रयोजनीय ही है अर्थात् यह दशा त्याग करने योग्य है ॥ ६४ ॥ वेदान्तसे सिद्ध शुभेच्छा आदि नामों से प्रसिद्ध जो शुभ सप्तभूमिकाएँ कही गईं हैं, उनका एक एक करके अभ्यास करो और फिर तत्त्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षयकी ओर अग्रसर हो-जाओ। ऐसा करते हुए भी पहिले कही हुई सात सात भूमिकाओं

चिन्त्याः पुरोक्ता अपि सप्त सप्त ताः ॥ ६५ ॥

पुण्यैर्महद्भिर्जननान्तरोद्भवै-
स्सम्प्रापणीया यत आद्यभूमिका ।
आरूढ एनामपि नैव संसृतौ
वसन् प्रपञ्चात्प्रभवेद्विलक्षणः ॥६६॥

इति तत्त्वसारायण उपासनाकाण्डस्य द्वितीयपादे सर्ववेद-रहस्यार्थासु श्रीरामगीतासूपनिषत्सु वासनाक्षयादि-निरूपणं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

का चिन्तन बराबर किया करो* ॥६५॥ पूर्व जन्मोंके महत् पुण्यों से उक्त सात भूमिकाओं में से प्रथम भूमिका की प्राप्ति होती है। इस भूमिका में आरूढ़ होनेपर संसार में रहकर भी वह विलक्षण पुरुष प्रपञ्च से अलिप्त ही रहता है ॥ ६६ ॥

इस प्रकार तत्त्वसारायण के अन्तर्गत उपासनाकाण्ड के द्वितीय पाद में कथित समस्तवेदों के अर्थों को प्रकाश करनेवाली श्रीरामगीताउपनिषद् का वासनाक्षयादिनिरूपण नामक छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

* ये सात भूमिकाएँ कर्मयोग की भूमिकाएं हैं जिनको ज्ञानीगण तत्त्वज्ञान के साथही साथ उत्तरोत्तर अपने अन्तःकरण में लाभ किया करते हैं। राजयोग संहिता में सात कर्मयोगभूमि, सात भक्तियोगभूमि और सात ज्ञानयोग की भूमि अलग अलग कही गई हैं। ये सब तत्त्वज्ञानी के लिये सेवनीय हैं।

सप्तभूमिकानिरूपणम् ।

श्रीहनूमानुवाच ।

भगवन् वेदतत्त्वज्ञ न जाने सप्तभूमिकाः ।
यास्सर्वतत्त्वसारांशभूतास्त्वमभिमन्यसे ॥१॥
सप्तभूमीप्रबोधेन यथाहं रघुनायक ।
कृतार्थः स्यां तथा सम्यक् ब्रूहि मे करुणानिधे ॥२॥

श्रीराम उवाच ।

ज्ञानभूमिश्शुभेच्छा स्यात्प्रथमा समुदीरिता ।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसी ॥३॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका ।
पदार्थाऽभावना षष्ठी सप्तमी तुर्यंगा स्मृता ॥४॥

श्रीहनूमानजी बोले :- हेवैदिकतत्त्वोंके जाननेवाले भगवन् ! मैं उन सप्त भूमिकाओं को नहीं जानता जिन्हें आप समस्त तत्त्वों की सारांशस्वरूप मानते हैं ॥१॥ हे रघुनाथजी ! जिनके ज्ञान से मैं कृतार्थ होजाऊं, हेकरुणानिधे ! उन सप्त भूमियों का भली भाँति आप कथन करें ॥२॥ श्री रामचन्द्रजींने कहाः-ज्ञान भूमियों में से पहिली भूमि शुभेच्छा कही गई है । दूसरी भूमिका का नाम है विचारणा, तीसरीका तनुमानसी ॥३॥ चौथी का सत्त्वापत्ति, पाँचवीं का असंसक्ति, छठी का पदार्थाऽभावना और सातवीं तुर्यंगा नाम से प्रसिद्ध है* ॥४॥

* राजयोगशास्त्र में कर्म, उपासना और ज्ञान, इन तीनों काण्डों के अनुसार सात-सात भूमिकाएँ पूज्यपाद आचार्यों ने बाँधी हैं । विषयवैराग्य और कर्मसम्बन्ध से ऊपर लिखित शुभेच्छा आदि सात भूमिकाएँ हैं । राजयोग में ये योगभूमिकाएँ कही जाती हैं । भक्ति के अनुसार भूमिकाएँ भी सात है । उनके नाम, यथा—१

स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्ष्योऽहं शास्त्रसज्जनैः ।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः ॥५॥
शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम् ।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा ॥६॥
यत्र सा तनुतामेति प्रोच्यते तनुमानसी ॥७॥
भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थविरतेर्वशात् ।

मैं बैठा क्या हूँ ! मैं मूढ़ हूँ अतः शास्त्र और सज्जनों द्वारा मैं देखा जाऊं अर्थात् शास्त्र और सज्जनों का सङ्गमुझे करना चाहिये, वैराग्य प्राप्त होने के पहिले इस प्रकार की जो इच्छा, की जाती है, वही इच्छा प्रथम भूमि है और उसे विद्वज्जन 'शुभेच्छा' कहते हैं ॥५॥ शास्त्र और सज्जनों का सङ्ग तथा वैराग्य का अभ्यास करते हुए जो सदाचारों में प्रवृत्ति होती है, उस द्वितीय भूमि को 'विचारणा' कहते हैं ॥६॥ विचारणा और शुभेच्छा के कारण इन्द्रियों के अर्थों में जब आसक्ति क्षीण हो जाती है, तब वह तृतीय भूमि 'तनु-मानसी, नाम से अभिहित होती है ॥ ७ ॥ उक्त तीन भूमियों के अभ्यास से वासनाविहीनता के कारण जो चित्त की शुद्ध सत्त्व—

नामपरा, २ रूपपरा, ३ बिभूतिपरा, ४ शक्तिपरा, ५ गुणपरा, ६ भावपरा, ७ स्वरूप-परा। इन सातों नामों से ही भक्ति की इन सातों भूमिकाओं का पता लग-जायगा। इसी प्रकार आत्मज्ञान के क्रमविकाश के अनुसार राजयोगसंहिता में सात ज्ञानभूमिकाएँ मानी गई हैं, यथा–१ न्यायदर्शन के अनुसार ज्ञानदा, २ वैशेषिक दर्शन के अनुसार संन्यासदा, ३ योगदर्शन के अनुसार योगदा, ४ सांख्यदर्शन के अनुसार लीलोन्मुक्ति. ५ कर्ममीमांसादर्शन के अनुसार सत्पदा, ६ उपासनामीमांसा, के अनुसार आनन्दपदा, ७ ब्रह्ममीमांसाके अनुसार परात्परा। वास्तवमें योगभूमिका की तुर्यगा, उपासना भूमिका की स्वरूपपरा और ज्ञानभूमिका की परात्परा। ये तीनों एकही है। अन्त में तीनों काण्ड एकही स्थल पर पहुँच जाते हैं।

सत्त्वात्मनि स्थिते शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता ॥८॥
दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसर्गफला तु या।
रूढसत्त्वचमत्कारा प्रोक्ताऽसंसक्तिनामिका ॥९॥
भूमिकापञ्चकाभ्यासात्स्वात्मारामतया भृशम्।
आभ्यान्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात् ॥१०
परप्रयुक्तेन चिरप्रयत्नेनावबोधनम्।
पदार्थाऽभावना नाम षष्ठी भवति भूमिका ॥११॥
षड्भूमिका चिराभ्यासाद्भेदस्यानुपलम्भनात्।
यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः ॥१२॥

स्वरूप में स्थिति है उस चौथी भूमि को 'सत्त्वापत्ति' कहते हैं ॥८॥ उक्त चारभूमिकाओं के अभ्यास से उत्पन्न, संसर्गरहित होना ही जिसका फल है और सत्त्वचमत्कारों से जो युक्त है, वह पाचवीं भूमि असंसक्तिनामिका कही गयी है ॥९॥ पाँचों भूमिकाओं के अभ्यास से अपनी आत्मा में अतिशय रममाण होने के कारण और आभ्यन्तर तथा बाह्य पदार्थों का भान न रहने से दूसरों के द्वारा कराये हुए चिरकाल के प्रयत्न से जिसमें ज्ञान होता है, वही दशा पदार्थाऽभावनानाम्नी छठी भूमिका है ॥१०—११॥ छः भूमिकाओं के चिरकाल के अभ्यास से द्वैतभाव का जब लवलेश भी नहीं रहता और स्वाभाविक अद्वैत दशा प्राप्त हो जाती है तब उसी अन्तिम सातवीं अवस्था को तुर्यगा भूमि जानना चाहिये* ॥१२॥

* यही अवस्था वेदान्तका ब्रह्मसद्भाव कहाता है, कर्मविज्ञानका कर्मयोग कहाता है और भक्तिशास्त्र की पराभक्ति कहाती है। यही मुक्तिपद का रूपान्तर है।

शुभेच्छादित्रयं भूमेर्भेदाभेदयुतं स्मृतम् ।
यथावद्भेदबुध्येदं जगज्जाग्रति दृश्यते ॥१३॥
अद्वैते स्थैर्यमायाते द्वैते च प्रशमं गते ।
पश्यन्ति स्वप्नवल्लोकं तुर्यभूमिषु योगतः ॥१४॥
विच्छिन्नशरदभ्रांशविलयं प्रविलीयते ।
सत्त्वाऽवशेष एवास्ते मारुते त्वं दृढीकुरु ॥१५॥
पञ्चभूमिं समारुह्य सुषुप्तपदनामिकाम् ।
शान्ताशेषविशेषांशस्तिष्ठत्यद्वैतमात्रके ॥१६॥
अन्तर्मुखतया नित्यं बहिर्वृत्तिपरोऽपि सन् ।

शुभेच्छादि तीन भूमिकाएं भेद और अभेद से युक्त कही गई हैं। भेद बुद्धिसे यह जगत् जाग्रत् अवस्था में यथावत् देखा जाता है ॥१३॥ अद्वैतभाव की स्थिति और द्वैतभाव का शमन होने पर चौथी भूमि में योगके द्वारा साधकगण संसार को स्वप्नके समान देखते हैं ॥१४॥ जिस प्रकार शरदृऋतु के मेघखण्ड विच्छिन्न होकर लय को प्राप्त होते हैं, इसी तरह चौथी भूमि में अज्ञान नष्ट होकर केवल सत्त्व (ज्ञान) ही अवशेष रह जाता है अतः हे मारुते ! तुम इसी भूमि को दृढ़बनाओ ॥१५॥ सुषुप्तिनाम्नी पाँचवींभूमि में आरूढ़ होकर, जिसके द्वैत के सम्पूर्ण विशेष अंश शान्त होगये हैं, वह साधक केवल अद्वैत दशा में ही स्थित होता है ॥१६॥ छठी भूमि में व्यवहारकार्य में लगारहने पर भी निरन्तर अन्तर्मुख होने तथा परिशान्त दशामें नित्य

* ग्रन्थकारने अन्तिम तीन भूमियोंके स्वरूप को समझाने के लिये सुषुप्ति निन्द्रा और गूढ़ सुषुप्ति इन तीन दशाओं का वर्णन किया है। यहाँ तन्द्रा, और गाढ़ सुषुप्ति येही तीन अवस्थाएँ उदाहरण रूप से समझनी चाहिये ।

परिशान्ततया नित्यं निद्रालुरिव लक्ष्यते ॥१७॥
कुर्वन्नभ्यासमेतस्यां भूम्यां सम्यग्विवासनः ।
सप्तमीगूढसुप्त्याख्या क्रमप्राप्ता पुरातना ॥१८॥
यत्र नासन्न सद्रूपो नाहं नाप्यनहङ्कृतिः ।
केवलं क्षीणमनन आस्तेऽद्वैतेऽतिनिर्भयः ॥१९॥
मुमुक्षवः क्रमेण स्युः भूमित्रयविहारिणः ।
ब्रह्मवित्तूर्यभूम्यां स्यात् पञ्चम्यां ब्रह्मविद्वरः ॥२०॥
षष्ठ्यां वरीयान् सप्तम्यांवरिष्ठः स्वात्मवेदिनाम् ।
जीवन्मुक्ता इति ख्याताश्चत्वारोऽमी महत्तमैः॥२१॥
विदेहमुक्तो नैतेभ्यो व्यतिरिक्तस्समीर्य्यते ।

अवस्थित रहने के कारण वह निद्रालु के समान देख पड़ता है ॥१७॥ इस छठी भूमि में भली भाँति अभ्यास करता हुआ जब वह वासना-रहित हो जाता है, तब प्राचीन गूढ़सुषुप्तिनामक सातवीं भूमि में क्रमशः पहुंच जाता है ॥ १८ ॥ जहाँ सत् या असत् रूप नहीं रहता, जहां मैं हूँ या मैं नहीं इस भावना का कोई कार्य नहीं होता, वहां चिन्तनरहित केवल अद्वैत में ही निर्भयता से वह (योगी) रहता है ॥ १९ ॥ तीनों भूमियों में क्रमशः विहार करनेवाले मुमुक्षु होते हैं। चतुर्थ भूमि में आरूढ़ ब्रह्मविद् और पांचवीं भूमि में पहुंचे हुए ब्रह्मविद्वर कहाते हैं ॥२०॥ छठीं भूमि में आरूढ़ ब्रह्मविद्वरीयान् और सातवीं भूमि में प्राप्त हुए पुरुष ब्रह्मविद्वरिष्ठ होते हैं। इन चारों को श्रेष्ठ पुरुषों ने जीवन्मुक्त कहा है ॥ २१ ॥ विदेहमुक्त उक्त जीवन्मुक्तों से पृथक् नहीं समझे गये हैं, इसकारहस्य यह है कि ब्रह्मविद्वर्य का

विस्मृतत्यक्तदेहत्वात्तत्त्वं वर्यवरिष्ठयोः ॥२२॥
भाविदेहविहीनत्वात्तयोर्विद्वरयोरपि ।
विदेहत्वमिह प्राज्ञैरादरादुपचर्यते ॥२३॥

श्रीहनूमानुवाच ।

अज्ञानमावृतिस्तद्वद्विक्षेपश्च परोक्षधीः ।
अपरोक्षमतिश्शोकमोक्षस्तृप्तिर्निरङ्कुशा ॥२४॥
इत्येवमुच्यमानाश्च सप्तावस्था रघूद्वह ।
पूर्वोक्तसप्तभूमिभ्यः किमन्या नेति संशयः ॥२५॥

श्रीराम उवाच ।

मन्यसे त्वमनन्यास्तास्सङ्ख्यासामान्यदर्शनात् ।
सम्यग्विचार्यमाणासु सूक्ष्मदृष्ट्या पृथक् स्थिताः।२६
परोक्षबुध्या विक्षेपमपरोक्षधियाऽऽवृतिः ।

देहभान छूटने से, ब्रह्मविद्वरिष्ठ का त्यक्तदेह होने से तथा ब्रह्मविद् और ब्रह्मविद्वर का भाविदेह न होने से चारों को विद्वज्जन आदर के साथ विदेहमुक्त कहते हैं ॥ २२-२३ ॥ श्रीहनुमान्जी ने कहा :- अज्ञान, आवरण, विक्षेप, परोक्षधी, अपरोक्षमति, शोकमोक्ष और निरङ्कुशा तृप्ति, ये जो सात अवस्थाएँ कही जाती हैं, हे रघुनाथजी ! वे पूर्वोक्त सात भूमियों से भिन्न हैं या अभिन्न, इसमें मुझे सन्देह है॥ २४-२५ ॥ श्रीरामचन्द्रजी बोलेः- दोनों की संख्याओं में समानता देखकर तुम दोनों को अभिन्न समझ रहे हो, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से भली-भांति विचार करने पर ज्ञात होगा कि दोनों पृथक् पृथक् स्थित हैं ॥२६॥ परोक्ष बुद्धि से विक्षेप, अपरोक्षधी से आवरण और शोकमोक्ष से

शोकमोक्षेण चाज्ञानं हन्त्यन्या त्ववशिष्यते ॥२७॥
विक्षेपावृतिमूलत्वात्प्रतिबन्धेतरत्वतः ।
परोक्षज्ञानतोऽज्ञानं न निवर्तेत तद्ध्रुवम् ॥२८॥
कार्यत्वेनाद्यऽऽद्यहेयत्वात् विक्षेपस्य परोक्षतः ।
ज्ञानतः श्रवणोत्थत्वान्निवृत्तिरुचिता खलु ॥२९॥
याश्चतस्रोऽप्यवस्थास्ताः परोक्षज्ञानपूर्विकाः ।
सप्तभूम्यन्तरस्थाः स्युरज्ञानादित्रयं न तु ॥३०॥
अवस्थाद्वयवद्भूमित्रयमन्यच्चतुष्टयम् ।
तदन्यद्द्वयवद्विद्धि सूक्ष्मदृष्ट्याऽञ्जनासुत ॥३१॥

अज्ञान नष्ट होता है, परन्तु अन्तिम जो निरङ्कुशा तृप्ति है, वह बच रहती है ॥ २७ ॥ विक्षेप तथा आवरण (अज्ञान के) मूल में होने से और अन्य प्रतिबन्ध होने से एवं परोक्ष ज्ञान से, अज्ञान दूर नहीं हो सकता, यह निश्चय है* ॥२८॥ विक्षेप कार्य है अतः वह प्रथम त्याग करने योग्य है तथा परोक्षज्ञान श्रवण द्वारा प्राप्त होता है इस लिये इन दोनों से निवृत्त हो जाना ही उचित है ॥ २९ ॥ जो परोक्षज्ञान-सम्बन्धी चार अवस्थाएँ हैं, वे सप्तभूमियों के अन्तर्गत हैं, किन्तु अज्ञानादि तीन अवस्थाएँ सप्तभूमियों के अन्तर्गत नहीं हैं ॥ ३० ॥ हे अञ्जनीपुत्र ! तुम सूक्ष्मदृष्टि से जानो कि परोक्षज्ञानसम्बन्धी चार अवस्थाओं में से प्रथम दो अवस्थाएँ प्रथम तीन भूमियों के समान और शेष दो अवस्थाएँ शेष चार भूमियों के समान हैं ॥ ३१ ॥

* अज्ञान बन्ध का मूलकारण है इस कारण सब से बलशाली है। सुतरां निरङ्कुशा तृप्तिरूप अन्तिम अधिकार का जो कारण हैं, वह कर्म से मोक्ष देनेवाली अवस्था ही उस मूल कारण को नाश कर सकती है ।

जीवन्मुक्तस्य कैवल्याच्छोकमोक्षस्समाधिषु ।
विदेहस्य तु सन्तृप्तिस्समाध्युत्थानवर्जनात् ॥३२॥
ब्रह्मत्वं प्रकृतित्वञ्च पुरुषत्वं तथेशताः ।
अविद्याऽऽवरणत्वं च जीवत्वञ्च विकारता ॥३३॥
इत्यवस्थाश्च सप्तैताः सप्तभूमीतराश्श्रुताः ।
सङ्ख्यासामान्यबुध्या तदनन्यत्वभ्रमं त्यज ॥३४॥

हनूमानुवाच ।

ब्रह्मत्वाद्यास्सविस्तारमवस्थास्सप्त च प्रभो ।
दासोऽहं श्रोतुमिच्छामि जानकीप्राणनायक ॥३५॥

श्रीराम उवाच ।

आत्मविद्या मया लब्धा श्रीवसिष्ठात्सनातना ।

जीवन्मुक्त का शोकमोक्ष समाधियों के द्वारा कैवल्य प्राप्ति से होता है और विदेहमुक्तकी निरङ्कुशा तृप्ति व्युत्थानदशारहित समाधि से होती है* ॥३२॥ ब्रह्मत्व, प्रकृतित्व, पुरुषत्व, ईश्वरत्व अविद्याऽऽवरणत्व, जीवत्व, और विकारत्व, ये सात अवस्थाएँ सप्तभूमियों से भिन्न कही गई हैं । दोनों की संख्या समान है अतः वे दोनों एकही हैं, यह जो भ्रम है उसे तुम छोड़ दो ॥ ३३ ३४॥ श्रीहनूमान्जी ने कहा:— हे जानकीजी के प्राणेश्वर ! ब्रह्मत्व आदि सात अवस्थाओं को मैं विस्तार के साथ सुनना चाहता हूँ क्योंकि हे प्रभो ! मैं आपका दास हूँ ॥३५॥ श्रीरामचन्द्रजी बोले:—श्रीवशिष्ठजी से मैंने सनातन आत्म-

---

* जीवन्मुक्तदशा में स्वरूपज्ञान की प्रतिष्ठा होजाने पर भी जगत्कल्याणकार्यों में उनकी व्युत्थान दशा का होना बना रहता है और दूसरी विदेहमुक्तदशा जिसको ग्रन्थकार ने स्वतन्त्र माना है उस दशा में व्युत्थानदशा प्रायः होती ही नहीं; क्योंकि ब्रह्मकोटिके आत्मज्ञानी के साथ जगत् का सम्बन्ध नहीं रहता !

ब्रह्मत्वं मे सदा नित्यं सच्चिदानन्दरूपतः ॥३६॥
प्रकृतित्वं ततः स्पष्टं सत्त्वादिगुणसाम्यतः।
तस्यामाभाति चिच्छाया दर्पणे प्रतिविम्बवत्॥३७॥
तेन चित्प्रतिविम्वेन त्रिविधा भाति सा पुनः।
प्रकृत्यवच्छिन्नतया पुरुषत्वं पुनश्च मे ॥३८॥
शुद्धसत्त्वप्रधानायाम्मायायां बिम्बितो ह्यजः।
सत्त्वप्रधाना प्रकृतिर्मायेति प्रतिपद्यते ॥३९॥
सा माया स्ववशोपाधिस्सर्वज्ञस्येश्वरस्य हि।

विद्या प्राप्त की है। मेरे सच्चिदानन्दस्वरूप होने से मुझ में नित्यरूप से ब्रह्मत्व सदा विद्यमान है* ॥ ३६ ॥ उसी ब्रह्मत्व से प्रकृतित्व स्पष्ट है † क्योंकि सत्त्वादि गुणों की साम्यावस्था होने पर उसी प्रकृति में चिच्छाया दर्पण में प्रतिबिम्ब के समान भलीभांति प्रकाशित होती है॥ ३७ ॥ उस चित्प्रतिविम्ब से वह प्रकृति पुनः त्रिविध देख पड़ती है। प्रकृति से अवच्छिन्न होने के कारण मुझे पुनः पुरुषत्व ‡ प्राप्त होता है ॥३८॥ शुद्धसत्त्व जिसमें प्रधान है, उस माया में अजन्मा प्रतिबिम्बित है और सत्त्वप्रधान प्रकृति को माया कहते हैं॥ ३९ ॥ वह माया सर्वज्ञ ईश्वर की उनके वशमें रहनेवाली

* सत् चित् और आनन्द, इन तीनों की अद्वैतसत्ता एकरसमें जहाँ विद्यमान है, वही विकाररहित, शुद्ध और सब से परे स्थित अद्वैतदशा ही ब्रह्मत्व कहाती है।

† ब्रह्म की शक्ति को ही प्रकृति कहते हैं। प्रकृति के तीन गुण जब अलग २ दिखाई नहीं देते और साम्यावस्था में रहते हैं तभी वह प्रकृति कहाती है। तदनन्तर विकृति कहलाती है।

‡ प्रकृति त्रिगुण से विकारप्राप्त होने पर जो ब्रह्माण्ड और पिण्ड की उत्पत्ति करती है, उस सृष्टिप्रपञ्च में अलग २ केन्द्रों में अलग २ जो चित् सत्ता प्रकट है वही कूटस्थ पुरुष कहता है। यही सांख्य का बहुपुरुषवाद है।

वश्यमायत्वमेकत्वं सर्वज्ञत्वं च तस्य तु ॥४०॥
सात्त्विकत्वात्समष्टित्वात्साक्षित्वाज्जगतामपि ।
जगत्कर्तुमकर्तुञ्चाप्यन्यथा कर्तुमीशते ॥४१॥
यस्स ईश्वर इत्युक्तस्सर्वज्ञत्वादिभिर्गुणैः ।
ब्रह्मविष्णुशिवाद्यैश्च नामरूपैस्स संयुतः ॥४२॥
शक्तिद्वयं हि मायाया विक्षेपावृतिरूपकम् ।
विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत्॥४३॥
अन्तर्दृग्दृश्ययोर्भेदं बहिश्च ब्रह्मसर्गयोः ।

उपाधि है इसी से ईश्वर में वश्यमायत्व (जिसके वश में माया है) एकत्व और सर्वज्ञत्व है* ॥ ४० ॥ वह सात्त्विक होने से, समष्टिरूप होने से और जगत् का साक्षी होनेसे जगत् के सम्बन्धमें कर्तुं अकर्तुं और अन्यथा कर्तुं समर्थ है ॥ ४१ ॥ सर्वज्ञत्वादि गुणों से जो ईश्वर कहा गया है वह प्रत्येक ब्रह्माण्डके ब्रह्मा विष्णु शिव आदि नामरूपों से संयुक्त है † ॥४२॥ माया की दो शक्तियां हैं, एक विक्षेप और दूसरी आवरण । उनमे से विक्षेपशक्ति पिण्ड के लिङ्ग देह से लेकर ब्रह्माण्ड तक की सृष्टि करती है ॥ ४३ ॥ माया की दूसरी आवरणशक्ति जो संसार की कारणस्वरूपा है वह अन्तरङ्ग में

* प्रकृति जब सत्त्वप्रधान होकर सदा एक परमपुरुष के अधीन रहती है वही प्रकृति के ईश्वर, ईश्वर कहाते हैं। यही परमपुरुष ईश्वर पुनः जगत् के सृष्टि, स्थिति और लयकर्ता होकर ब्रह्मा विष्णु और महेशरूप से प्रत्येक ब्रह्माण्ड के नायक बनते हैं ।

† जहाँ ब्रह्मप्रकृति माया लय होजाती है वही ब्रह्मपद है । जब ब्रह्मप्रकृति ब्रह्म से प्रकट होकर विद्यारूप धारण करके उनकी सेवा करती है वेही सगुणब्रह्म ईश्वर कहाते हैं और उन्हीं के प्रत्येक तीन अंश प्रत्येक ब्रह्माण्ड में अलग अलग जो सृष्टि स्थिति लय का कार्य करते हैं वेही ब्रह्मा विष्णु महेश कहाते है ।

आवृणोत्यपरा शक्तिस्सा संसारस्य कारणम्॥४४॥
साक्षिणः पुरतो भाता लिङ्गदेहेन संयुतः।
चितिच्छायासमावेशाज्जीवः स्याद्व्यावहारिकः॥४५
अस्य जीवत्वमारोपात्साक्षिण्यप्यवभासते।
आवृतौ तु विनष्टायां भेदो भात्यपयाति तत् ॥४६॥
तथा सर्गब्रह्मणोश्च भेदमावृत्य तिष्ठति।
या शक्तिस्तद्वशाद्ब्रह्म विकृतत्वेन भासते ॥४७॥
अत्राऽप्यावृतिनाशेन विभाति ब्रह्मसर्गयोः।
भेदस्तयोर्विकारः स्यात्सर्गे न ब्रम्हाणि क्वचित्॥४८॥

द्रष्टा और दृश्य तथा बाह्य में ब्रह्म और सृष्टि के भेद को आवृत करलेती है॥ ४४॥ साक्षी (कूटस्थ) के आगे भासमान होने-वाला, लिङ्ग देह से युक्त और चिच्छाया के समावेश से व्यावहारिक जीव होता है॥ ४५॥ आरोप करने से साक्षी (कूटस्थ) में भी इस जीव का जीवत्व भासमान होता है, परन्तु आवरण नष्ट होते ही भेद देख पड़ता है और वह जीवत्व नष्ट हो जाता है*॥ ४६॥ इसी तरह सृष्टि और ब्रह्म के भेद को जो आवृत करके स्थित है उस शक्ति के कारण ब्रह्म विकृतरूप में भासमान होता है॥ ४७॥ यहाँ भी आवरण का नाश हो जाने से ब्रह्म और सृष्टि दोनो में भेद दिखाई देने लगता है सृष्टि में विकार होता है, ब्रह्म में कभी नहीं होता है†॥ ४८॥ हे कपिश्रेष्ठ! इस प्रकार इन सात अवस्थाओं

* उस समय कूटस्थ अपने स्वस्वरूप को प्राप्त होता है।

† प्रकृति तमोगुणकी ओर से तरङ्गायित होती हुई अविद्या होकर जीव को फाँसती है और सत्त्वगुण की ओर से तरङ्गायित होती हुई ईश्वर की सेवा में रत होकर जीव को मुक्त करती है। अज्ञानप्रसविनी अविद्या जीव बनाती है और

एव मेताः कपिश्रेष्ठ सप्ताऽवस्थाश्चनित्यशः।
विमृशन्नग्रयया बुध्या ब्रह्मत्वन्ते च निश्चिनु॥४९॥
हित्वा विषममीशादि तदवस्थाचतुष्टयम् ।
समं लभस्व ब्रह्मत्वाद्यवस्थात्रितयं शुभम् ॥५०॥

इति तत्त्वसारायणे उपासनाकाण्डस्य द्वितीयपादेसर्ववेद-
रहस्यार्थासु श्रीरामगीतासूपनिषत्सु सप्तभूमिका-
निरुपणं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

को निरन्तर ध्यान में रखकर सूक्ष्मबुद्धिद्वारा तुम अपने ब्रह्मत्व का निश्चय करलो ॥ ४९ ॥ उक्त 'ईश' आदि विषम अवस्था-चतुष्टय को छोड़कर 'ब्रह्मत्व' आदि श्रेष्ठ और सम अवस्थात्रय को तुम प्राप्त करो ॥ ५० ॥

इस प्रकार तत्त्वसारायणके अन्तर्गत उपासनाकाण्ड के द्वितीय-
पाद में कथित समस्त वेदों के अर्थों को प्रकाश करनेवाली
श्रीरामगीता उपनिषद्का सप्तभूमिकानिरूपणनामक
सप्तम अध्याय समाप्त हुआ ॥७॥

ज्ञानप्रसविनी विद्या जीव को मुक्त करती है। सुतरां अविद्या और विद्यारूप-धारिणी प्रकृति जब स्वस्वरूप में लयं हो जाती है तब जीव ईश्वर और ब्रह्म, ये सब भेद कुछ भी नहीं रहते, वही स्वस्वरूप की प्राप्ति ही मुक्ति है।

समाधिनिरुपणम् ।

श्रीहनूमानुवाच ।

स्वामिन् दाशरथे येन द्वैतस्फूर्तिरियं मम ।
प्रणश्येद्ब्रूहि तं मुख्यं समाधिं विस्तरेण च ॥१॥

श्रीरामचन्द्र उवाच ।

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम् ।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम् ॥२॥
उपेक्ष्य नामरूपे द्वे सच्चिदानन्दतत्परः ।
समाधिं सर्वदा कुर्याद्धृदये वाऽथवा बहिः ॥३॥
सविकल्पो निर्विकल्पस्समाधिर्द्विविधो हृदि ।

श्री हनूमान्जी बोले :—हे दशरथतनय प्रभो! जिस से मेरी यह द्वैतकी स्फूर्ति नष्ट हो जाय, उस प्रधान समाधि को विस्तार के साथ कहिये ॥ १ ॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा :—अस्ति (सत्), भाति (चित्), प्रिय (आनन्द), रूप और नाम ये पांच अंश हैं*। इनमें से पहले तीन ब्रह्मरूप और अन्तिम दो जगत्रूप हैं ॥ २ ॥ नाम और रूप की उपेक्षा करके सच्चिदानन्द में तत्पर होकर हृदयमें अथवा बाहर सर्वदा समाधि करना चाहिये ॥ ३ ॥ सविकल्प और निर्विकल्प, इस प्रकार से द्विविध समाधि होती है। अन्तःकरण में होनेवाली सविकल्प समाधि पुनः दो प्रकार की होती है

* पहले तीन भावमूलक हैं और दूसरे दो गुणमूलक हैं। गुण सृष्टि, स्थिति लयका कारण है और उनके अनुभव का कारण भाव है।

दृश्यशब्दानुविद्धोऽयं सविकल्पः पुनर्द्विधा ॥४॥
कामाद्याश्चित्तगा दृश्यास्तत्साक्षित्वेन चेतनम् ।
ध्यायेद्दृश्यानुविद्धोऽयं समाधिस्सविकल्पकः ॥५॥
असङ्गस्सच्चिदानन्दः स्वप्रभो द्वैतवर्जितः ।
अस्मीति शब्दविद्धोऽयं समाधिस्सविकल्पकः ॥६॥
स्वानुभूतिरसावेशाद्दृश्यशब्दानुपेक्षितुः ।
निर्विकल्पसमाधिः स्यान्निवातस्थितदीपवत् ॥७॥

है; एक दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि और दूसरी शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि ॥ ४ ॥ चित्त में कामदि जो दृश्य है उनके साक्षित्व से चेतनका ध्यान किया जाय यही दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि है ॥ ५ ॥ संगरहित, सच्चिदानन्द, आत्मप्रभावान्, द्वैतशून्य मैं हूँ, इस प्रकार की भावना करना यही शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि है * ॥ ६ ॥ स्वानुभूतिपूर्ण रसके आवेश से दृश्य और शब्दानुविद्ध समाधि की जो उपेक्षा करने लगता है अर्थात् सविकल्प समाधिका पूर्ण अभ्यास हो जाने के कारण जिसे आत्माका अनुभव और परमानन्द की उपलब्धि हो जाती है, उसे वायुरहित स्थान में रक्खे हुए दीपक के समान निर्विकल्प समाधि आपही आप प्राप्त होती है ॥ ७ ॥

* जीव वृत्तियों के संग से वृत्तिरूप को प्राप्त होता है, यही जीवका जीवत्व है। उन वृत्तियों के उदय के समय यदि ज्ञानी आत्मा को न भूले और आत्माकी ओर लक्ष्य करके उसको द्रष्टा और वृत्तियोंको दृश्य अनुभव करे, तभी वह दृश्यानुविद्ध समाधि कहलावेगी और उसी दशा में दृश्य से सम्बन्ध घटाकर मैं ही स्वरूप हूं, इस प्रकार का अनुभव करे तो, वह शब्दानुविद्ध समाधि कहाती है। ये दोनों ही बाहर की समाधियां हैं। व्युत्थानदशा से इन दोनों का सम्बन्ध है।

हृदीव बाह्यदेशेऽपि यस्मिन्कस्मिंश्च वस्तुनि ।
समाधिराद्यस्सन्मात्रान्नामरूपपृथक्कृतिः ॥८॥
स्तब्धीभावो रसास्वादात्त्रिविधः पूर्ववन्मतः ।
एतैस्समाधिभिष्षड्भिर्नयेत्कालं निरन्तरम् ॥९॥
यस्तु शब्दानुविद्धस्स्यात्सम्प्रज्ञाताभिधश्च सः ।
निर्विकल्पस्तथा प्रोक्तोऽसम्प्रज्ञाताभिधो महान् ॥१०॥
ब्रह्माकारमनोवृत्तिः प्रवाहोऽहङ्कृतिं विना ।
सम्प्रज्ञातसमाधिः स्याद्ध्यानाभ्यासप्रकर्षतः॥११॥
प्रशान्तवृत्तिकञ्चित्तं परमानन्ददीपकम् ।

हृदय (अभ्यन्तर) के समान बाह्य (बाहर) की भी जिस किसी वस्तु में जो केवल सत्स्वरूप से नामरूप का पृथक्करण है, वह आद्य अर्थात् निर्विकल्प समाधिकी प्रथम अवस्था है ॥ ८ ॥ रसास्वाद से जो स्तब्धीभाव होता है, वह भी पहले की तरह तीन प्रकार का है अर्थात् निस्सङ्कल्पस्तब्धीभाव, निर्वृत्तिक स्तब्धीभाव और निर्वासनस्तब्धीभाव। यह भी समाधि ही है। इस तरहसे छः प्रकारकी समाधि (दृश्यानुविद्ध, शब्दानुविद्ध, निर्विकल्प, निःसङ्कल्प, निर्वृत्तिक और निर्वासन) में साधकरत होकर निरन्तर अपना समय व्यतीत करे ॥९॥ जो शब्दानुविद्ध समाधि है, उसीकानामसम्प्रज्ञात समाधि है और श्रेष्ठ निर्विकल्प समाधि को असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं॥ १० ॥ ध्यान के अभ्यास की उत्कटता से ब्राह्माकार - मनोवृत्तिरूप जो अहङ्कारशून्य प्रवाह है, वही सम्प्रज्ञात समाधि है॥ ११ ॥ प्रशान्तवृत्तियुक्त और परमानन्दको बढ़ानेवाले चित्त को अस-

असम्प्रज्ञातनामायं समाधिर्योगिनां प्रियः ॥१२॥
प्रभाशून्यं मनःशून्यं बुद्धिशून्यं चिदात्मकम् ।
अतद्व्यावृत्तिरूपोऽसौ समाधिर्मुनिभावितः ॥१३॥
उर्द्ध्वपूर्णमधःपूर्णं मध्यपूर्णं शिवात्मकम् ।
साक्षाद्विधिमुखो ह्येष समाधिः पारमार्थिकः॥१४॥
केचिच्छब्दानुविद्धं तं योगमाहुर्विचक्षणाः ।
निदिध्यासनमित्यन्ये त्वभिध्यानं तथाऽपरे ॥१५॥
उपासनमिति त्वेके निष्ठामन्ये कपीश्वर ! ।
प्रत्ययावृत्तिमितरेऽप्यभ्यासं केचिदुत्तमाः ॥१६॥
अखण्डोऽहमनन्तोऽहं परिपूर्णोऽहमद्वयः ।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं ज्योतिषां ज्योतिरस्म्यहम्॥१७॥

म्प्रज्ञात समाधि कहते हैं ; यह समाधि योगियों को प्रिय है ॥ १२ ॥ प्रभा से शून्य, मनसे शून्य, बुद्धिसे शून्य, चिन्मय और पुनरावृत्तिशून्य, यह समाधि मुनियों द्वारा भावित है ॥ १३ ॥ ऊर्द्ध्व-देश में पूर्ण, अधोदेश में पूर्ण, मध्यदेश में पूर्ण कल्याणमय, साक्षात् शास्त्रों द्वारा कथित, यह समाधि पारमार्थिक है ॥१४॥ कोई बुद्धिमान् पुरुष शब्दानुविद्ध समाधि को योग कहते हैं, कोई उसी को निदिध्यासन कहते हैं और कोई अभिध्यान कहते हैं ॥ १५ ॥ कोई उपासना कहते हैं, हे कपीश्वर ! अन्य कोई निष्ठा कहते हैं, कोई प्रत्ययावृत्ति कहते हैं, और कोई श्रेष्ठ पुरुष उसीको अभ्यास कहते हैं ॥ १६ ॥ मैं अखण्ड हूँ, अनन्त हूँ, परिपूर्ण हूँ, अद्वय हूँ, सच्चिदानन्दरूप हूँ और ज्योतियों की भी ज्योति हूँ ॥ १७ ॥

अवस्थात्रयहीनोऽहं तुर्यात्माऽहं परात्परः ।
देहत्रयविहीनोऽहं बोधानन्दरसोस्म्यहम् ॥१८॥
भावनात्रहीनोऽहं प्रज्ञानघनलक्षणः ।
चिदाकाशस्वरूपोऽहं जडाकाशादिवर्जितः ॥१९॥
अचञ्चलोऽस्म्यनाकारोऽस्म्यविद्यादिविवर्जितः ।
अमलोऽस्म्यखिलाधारो निराधारोऽस्मि निर्भयः ॥२०॥
स्वयंप्रकाशरूपोऽस्मि स्वरूपामृतसागरः ।
निष्प्रपञ्चोऽस्मि निर्द्वन्द्वः केवलात्मास्मि निर्गुणः ॥२१॥
नित्यशुद्धोऽस्मि निर्मायो नित्यबुद्धोऽस्मि निष्कलः ।
नित्यमुक्तोऽस्मि निष्कामो नित्यसिद्धोऽस्मि निर्जनः॥२२॥

मैं स्थूल, सूक्ष्म, कारण इन तीनों देहों से रहित हूँ, मैं परात्पर तुर्यात्मा हूं, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं से रहित हूं, मैं ज्ञानानन्दरसस्वरूप हूं ॥ १८ ॥ मैं तीनों भावनाओं से रहित हूं, मैं प्रज्ञानघनस्वरूप हूं, चिदाकाशस्वरूप हूं और जड़ाकाश आदि से रहित हूँ ॥ १९ ॥ मैं चञ्चलतारहित, आकाररहित और अविद्या आदि से रहित हूं। मैं निष्कलङ्क हूँ, सबका आधारस्वरूप हूं; परन्तु मेरा कोई आधार नहीं है। मैं निर्भय हूं, ॥ २० ॥ मैं स्वयं प्रकाशरूप हूं, आत्मारूपी अमृतका समुद्र हूं, प्रपञ्चरहित और द्वन्द्वरहित हूं, विशुद्धात्मा और निर्गुण मैं ही हूं ॥ २१ ॥ मैं नित्यशुद्ध और मायारहित, नित्यबुद्ध और कला अर्थात् विभागरहित, नित्यमुक्त और इच्छारहित तथा नित्यसिद्ध और निर्जन अर्थात् एकाकी हूं ॥ २२ ॥

अन्तःशून्यो बहिःशून्यः शून्यकुम्भ इवाम्बरे
अन्तःपूर्णो बहिःपूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे ॥२३॥
इत्येवमन्वयं विद्वान्व्यतिरेकपुरस्सरम् ।
स्वस्य ब्रह्मणि कुर्यात्स शब्दविद्धो विमुच्यते॥२४॥
विकारप्रतिषेधादिं समाधिं विधिलक्षणम् ।
कुर्वन्नेकान्ततः सद्यः सम्यग्दर्शनमाप्नुयात्॥२५॥
आद्योदृश्यानुविद्धो हि सुलभो बालचोदितः ।
द्वितीयश्शब्दविद्धस्तु विदुषामपि दुर्ल्लभः ॥२६॥
तृतीयो निर्विकल्पश्च निःसङ्कल्पाभिधः परः ।

आकाश में जिस प्रकार शून्य घट होता है, उसी प्रकार भीतर-बाहरसे शून्य और समुद्र में जैसे पूर्ण घट होता है, वैसे भीतर-बाहर से पूर्ण हूँ ॥२३॥ इस प्रकार से विद्वन् पुरुषको व्यतिरेकपुरस्सर अपना अन्वय ब्रह्ममें करना चाहिये, ऐसा करने से वह शब्दविद्ध समाधियुक्त होकर मुक्त हो जाता है ॥२४॥ विकारों के प्रतिषेधपूर्वक शास्त्रानुमोदित समाधि की जो एकान्तभावसे साधना करता है, उसे शीघ्र ही भली भाँति साक्षात्कार हो जाता है ॥ २५ ॥ पहली दृश्यानुविद्ध समाधि बालकों द्वारा भी अभ्यास करने योग्य है, अतएव सुलभ है और दूसरी शब्दविद्ध समाधि तो विद्वानों के लिये भी दुर्लभ है ॥२६॥ तीसरी निर्विकल्प समाधि, चौथी निःसङ्कल्प नामक समाधि, पाँचवीं निर्वृत्तिक समाधि, और छठी निर्वासन नामक समाधि, ये अन्तिम चारों समाधियाँ* पुरुष के लिये अत्यन्त ही कठिन है। जो अल्पा

* पहली दो समाधियां सविकल्प के भेद हैं और ये अन्तिम चार निर्विकल्प के भेद है। निर्विकल्प समाधि को योगाचार्य्यों ने सबीज और निर्बीजरूप से दो भेदोंमें विभक्त किया है। योगदर्शन में भी इसका वर्णन है। उन्हीं एक एक के दो दो भेद करके ये चार संज्ञा बांधी गई हैं।

निर्वृत्तिकः पञ्चमश्च षष्ठो निर्वासनाभिधः ॥२७॥
एते समाधयःपुंसां चत्वारोपि सुदुर्ल्लभाः ।
अल्पानन्दनिमग्नत्वात्क्व स्वानन्दाधिकागमः॥२८॥
बाह्याभ्यन्तरभेदेन षड्विधत्वं प्रचक्षते ।
तन्न सङ्गतमेव स्यात् क्रमविप्रतिपत्तितः॥२९॥
सङ्ग्रहेणैव ते प्रोक्ता मारुते षट्समाधयः।
येष्वेवान्तर्गताः प्रायःसूक्ष्माश्शतसमाधयः ॥३०॥
सलिले सैन्धवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः ।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ॥३१॥
ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद्ध्येयैकगोचरम् ।
निवातदीपवच्चित्तं समाधिरभिधीयते ॥३२॥

नन्द में ही निमग्न है, उसे श्रेष्ठ आत्मानन्द की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? ॥ २७-२८ ॥ बाह्य और आभ्यन्तर भेदसे छः प्रकारकी समाधियाँ कहीं जाती हैं, परन्तु यह निश्चय ही ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से उनका क्रम टूट जायगा ॥ २९ ॥ हे वायु-पुत्र ! तुमसे ये छः समाधियाँ संक्षेप से कही हैं। इन्हीं के अन्तर्गत प्रायः सैकड़ों सूक्ष्म समाधियां होती हैं ॥ ३० ॥ पानी में नमक मिलाने से जैसे वह एकरूप हो जाता है, वैसे ही मन और आत्मा की एकरूपता को समाधि कहते हैं, ॥ ३१ ॥ ध्याता और ध्यान की भावना को छोड़कर चित्त जब क्रमशः वायुशून्य स्थान में रक्खे हुए दीपक के समान एकमात्र ध्येय वस्तु में लग जाता है, तब उस दशाको समाधि कहते हैं ॥ ३२ ॥

विलाप्यविकृतिं कृत्स्नां प्रकृत्या स्वात्ममात्रया ।
निस्तरङ्गाब्धिवन्निष्ठा समाधिरभिधीते ॥३३॥
स्वात्मनोऽन्यमनालोक्य विकारमणुमात्रकम् ।
मेरुवत्सुस्थिरो बोधस्समाधिरभिधीयते ॥३४॥
अविद्याऽऽवरणापेतपूर्णचैतन्यनिष्ठया ।
स्वात्मानन्दामृतास्वादस्समाधि रभिधीयते ॥३५॥
दृग्द्रष्टारौ परित्यज्य दृश्यब्रह्मात्मना स्थितिः ।
निर्विकल्पा स्वसंवेद्या समाधिरभिधीयते ॥३६॥
द्रष्टृदर्शनदृश्यानां विकाराणां विलापनात् ।
द्रष्टृदर्शनदृश्याप्तिस्समाधिरभिधीयते ॥३७॥

केवल अपने आत्मा के स्वभाव से सम्पूर्ण विकारों को विलय करके तरंगरहित समुद्र के समान जो निष्ठा की जाती है, उसको समाधि कहते हैं ॥ ३३ ॥ अपने आत्मा से अन्य विकार अणुमात्र भी न देखकर मेरुपर्वत के समान जो अचल ज्ञान होता है, उसको समाधि कहते हैं ॥ ३४ ॥ अविद्या के आवरण से रहित पूर्ण चैतन्य की निष्ठा से स्वात्मानन्दरूपी अमृतका जो आस्वाद लिया जाता है उसी को समाधि कहते हैं ॥ ३५ ॥ देखना और देखनेवाला, इन दोनों भावों को छोड़कर दृश्य-ब्रह्मरूप से जो स्थिति होती है, वह स्वयं ही जानने योग्य निर्विकल्प समाधि कही जाती है ॥ ३६ ॥ द्रष्टा, दर्शन और दृश्य के विकारों का लोप कर देने पर द्रष्टा, दर्शन और दृश्यकी जो एकता हो जाती है, उस को समाधि कहते हैं ॥ ३७ ॥

नान्यत्पश्यति यत्रात्मा न शृणोति च किञ्चन ।
स्वस्माद्न्यन्न जानाति समाधिरभिधीयते ॥३८॥
सर्ववेदान्ततत्त्वार्थवेदिनां महतामपि ।
समाध्यभ्यासहीनानां न कैवल्यं कदाचन ॥३९॥
समाधिरहिता मर्त्यास्तत्त्वार्थज्ञानिमानिनः ।
जगत्प्रतारणे दक्षा न तेषां परमा गतिः ॥४०॥
भगीरथादयः पूर्वे सर्वे राजर्षयोऽपरे ।
ब्रह्मर्षयश्शुकाद्याश्च समाधिममुमाश्रिताः ॥४१॥
इन्द्रादयोऽष्टदिक्पाला ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
तत्तदंशाश्च मुख्या ये समाधिममुमाश्रिताः ॥४२॥

जहां आत्मा अपने से भिन्न न कुछ देखता है, न कुछ सुनता है और न कुछ जानता है, वह समाधि कही जाती है ॥ ३८ ॥ समस्त वेदान्तसम्बन्धी तत्त्वों के अर्थों को जानने वाले श्रेष्ठ पुरुष यदि समाधि के अभ्यास से विहीन हों, तो उन्हें कदापि कैवल्यपद प्राप्त नहीं होगा ॥ ३९ ॥ जिन्हें यह अभिमान है कि, हम तत्त्वार्थों को जानते हैं और संसार को ठगने में कुशल हैं, ऐसे समाधि-शून्य मनुष्यों को परमगति प्राप्त नहीं हो सकती ॥ ४० ॥ भगीरथ आदि पहले के सब राजर्षियों और शुकादि अन्य ब्रह्मर्षियों ने इसी समाधि का आश्रय लिया था ॥ ४१ ॥ इन्द्रादि अष्ट दिक्पाल, ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा उनके प्रधान प्रधान अंश (अवतार) इन सभों ने इसी समाधि का आश्रय लिया था ॥ ४२ ॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याश्शूद्रास्तदितरेऽपि वा ।
ये केचन पुरा मुक्तास्समाधिममुमाश्रिताः ॥४३॥
बालोन्मत्तपिशाचादिचर्यावन्तो यतीश्वराः ।
प्रेताजगरवच्चान्ये समाधिममुमाश्रिताः ॥४४॥
समाधितत्परा नित्यं लभन्ते परमं सुखम् ।
समाधिविमुखा नित्यं लभन्ते दुःखसञ्चयम् ॥४५॥
समाधिर्विदुषां स्नानं समाधिर्विदुषां जपः ।
समाधिर्विदुषां यज्ञः समाधिर्विदुषां तपः ॥४६॥
तस्मात्त्वमादरेणैव समाधिञ्च समाधिना ।
आश्रित्य मारुते शान्तो निष्कामश्च सदा भव॥४७॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा अन्य भी, जो कोई पहले मुक्त हो चुके हैं, सभी ने इसी समाधिका आश्रय लिया था ॥ ४३ ॥ बाल, उन्मत्त, पिशाच आदि की चर्याओं से युक्त यतीश्वरों तथा प्रेत और अजगर के समान आचरणवाले अन्यान्य पुरुषोंने इसी समाधि का आश्रय लिया था ॥ ४४ ॥ जो समाधि में तत्पर हैं, वे परमसुख को निरन्तर प्राप्त करते हैं और जो समाधि से विमुख हैं वे निरन्तर दुःख-समूह को पाते हैं ॥ ४५ ॥ विद्वानों का समाधि ही स्नान है, विद्वानों का समाधि ही जप है, विद्वानों का समाधि ही यज्ञ है और विद्वानों का समाधि ही तप है ॥ ४६ ॥ इस कारण हे वायुपुत्र ! तुम समाधि के द्वारा अर्थात् चित्तवृत्तिनिरोध के द्वारा आदर के साथ समाधि का आश्रय कर निरन्तर शान्त और कामनारहित बनो ॥ ४७ ॥

समाधिलीनचित्तस्य कोऽनन्याधिपतेः प्रभोः।
विधिरस्ति निषेधो वा ततस्त्वं निर्भयो भव ॥४८॥
लब्ध्वा जलूकान्यायेन समाधिं निर्विकल्पकम्।
सर्वाण्याश्रमकर्माणि भक्त्यादीनि च सन्त्यज ॥४९॥
त्यक्त्वा कर्माण्यशास्त्रेण समाधौ चेत्प्रवर्तसे।
अधःपतनमेव स्यान्निराधारस्य मारुते ॥५०॥
निर्विकल्पसमाध्येकनिष्ठस्य वरयोगिनः।
सुरेन्द्रेण प्रजेशेन मया वा किं कपीश्वर ॥५१॥
अकर्मात्मसमाधौ ते कर्तृत्वं यस्तु शङ्कते।

जिसका चित्त समाधि में लीन हुआ हो, उस अनन्याधिपति (जिसका कोई अन्य अधिपति (स्वामी) नहीं है) स्वयं प्रभु के लिये न कोई विधि है न कोई निषेध है इस कारण तुम निर्भय हो जाओ ॥ ४८ ॥ जलौकान्याय * से निर्विकल्प समाधि को प्राप्त करके सब आश्रमसम्बन्धी कर्मों का तथा भक्ति आदि का तुम त्याग करो ॥ ४९ ॥ अशास्त्रीय रीति से यदि तुम कर्मों का त्याग करके समाधि में प्रवृत्त होगे, तो हे वायुपुत्र! उस निराधार अवस्था में तुम्हारा निःसन्देह अधःपतन होगा ॥ ५० ॥ निर्विकल्प समाधि में ही निरत श्रेष्ठ योगी पुरुषको, हे कपिश्रेष्ठ! इन्द्र, ब्रह्मा या मुझ से भी क्या प्रयोजन है ॥ ५१ ॥ तुम्हारी जो कर्मशून्य आत्म-समाधि है, उसमें जो कर्तृत्व की शङ्का करता है, उसकी, कर्तृत्व-

* संसारदृश्य को छोड़ते ही स्वस्वरूप में स्थित हो। जलूका एक पैर तब उठाता है जब दूसरा पैर जमा लेता है; उसी प्रकार संसारदृश्य से वृत्ति हटते ही आत्मा में स्थित हो।

तस्य कर्तृत्वसंसारान्न मुक्तिः कल्पकोटिभिः॥५२॥
समाध्यानन्दहीनस्य परमात्मविदोऽपि मे ।
लोकरक्षणवृत्त्या हि परन्दुःखमभूत्कपे ॥५३॥
अतस्समाधिहीनस्य सर्वशास्त्रविदोऽपि वा ।
नूनं दुस्तर एवाऽयं भवदुःखपयोनिधिः ॥५४॥
तस्मात्समस्तश्रुतिशीर्षबोधितं
रुद्रादिभिश्शिष्टतमैरनुष्ठितम् ।
संसारदुःखौघपयोधिशोषणं
समाधिमेकान्तगतस्समाचर ॥ ५५ ॥
पिधाय सर्वाण्यपि चेन्द्रियाण्यलं

रूपी संसार से, करोड़ों कल्पों तक मुक्त नहीं होगी ॥ ५२ ॥ समाधि के आनन्द से विहीन होकर परमात्मवेत्ता होने पर भी लोकरक्षण की वृत्ति होनेके कारण हे कपे ! मुझे अत्यन्त दुःख हुआ था॰ ॥ ५३ ॥ अतः समाधि-विहीन पुरुषके लिये - उसके सर्वशास्त्रवेत्ता होनेपर भी—इस संसाररूपी दुःख समुद्रको तैरना निःसन्देह कठिन ही है ॥ ५४ ॥ इस कारण सम्पूर्ण श्रुतिशीर्ष अर्थात् वेदान्त के द्वारा प्रतिपादित, रुद्रादि अत्यन्त शिष्ट देवताओं द्वारा अनुष्ठित और सांसारिक दुःखसमूहरूपी समुद्र को शोषण करनेवाली समाधिका तुम एकान्त में स्थित होकर अभ्यास करो ॥ ५५ ॥ समस्त इन्द्रियोंको बन्द करके भी कुछ लोग समाधिका भलीभाँति

॰ उस समय व्युत्थानदशा थी; सुतरां आत्मज्ञानी, भगद्वतार अथवा जीवन्मुक्त होनेपर भी व्युत्थानदशामें उस समय के लिये जीवके ही सदृश वहिर्लक्षण दिखाई दिया करते हैं । ज्ञानी में यह दशा क्षणिक होती है, स्थायी नहीं होती ।

समाधिमत्राभिनयन्ति केचन।
बहिर्मनस्त्वान्न मनःप्रतिष्ठिति-
स्तेषां यथापूर्वभवप्रदर्शनात् ॥५६॥
अतस्समाधिं कुरु शत्रुमर्दन
प्रणष्टकामादिगुणोऽत्र निश्चलम्।
तेनैव लुप्तेषु समस्तकर्मसु
क्वचिच्च हानिर्न कदापि काचन ॥५७॥

इति तत्त्वसारायण उपासनाकाण्डस्य द्वितीयपादे सर्व-
वेदरहस्यार्थासु श्रीरामगीतासूपनिषत्सु समाधि-
निरूपणं नाम अष्टमोऽध्यायः।

अभिनय करते हैं; परन्तु उनका मन बाहर भटकता रहता है, वह स्थिर नहीं होता; क्योंकि उनको पूर्ववत् संसार का दर्शन होता रहता है ॥५६॥ अतः हे शत्रुओं का नाश करनेवाले! समस्त कामादि गुणों का नाश करके चञ्चलताहीन समाधि का तुम अभ्यास करो, इसी समाधि से समस्त कर्मों का लोप होजाने पर कहीं कदापि कोई हानि नहीं होगी ॥५७॥

इस प्रकार तत्त्वसारायण के अन्तर्गत उपासनाकाण्ड के द्वितीय पाद में कथित समस्त वेदों के अर्थों को प्रकाश करनेवाली श्रीरामगीता उपनिषद् का समाधिनिरूपण नामक अष्टम अध्याय समाप्त हुआ।

वर्णाश्रमव्यवस्थापनम् ।

हनूमानुवाच ।

श्रीराम परमाचार्य संशयो मे महानभूत ।
समाधिरेव विदुषां स्नानादीति यदीरितम् ॥१॥
स्नानाद्याश्रमधर्माणां नित्यानां विहितत्वतः ।
लोपे हि प्रत्यवायः स्याद्विदुषामपि देहिनाम् ॥२॥
नैमित्तिकत्वाभावेन काम्येतरतयापि च ।
तेषां न कार्यं लुप्तानां प्रायश्चित्तं कथंचन ॥३॥
विहिताकरणोत्थस्य दोषस्य यदि निर्हृतिः ।
ब्रह्महत्यादिदोषाणां फलशास्त्रं च निष्फलम् ॥४॥
अकर्मणां फलाभावे कर्मणां च विकर्मणाम् ।

हनूमान्‌जी बोलेः—हे श्रीरामचन्द्रजी ! हे श्रेष्ठ आचार्य ! आपने जो यह कहा कि विद्वानों का स्नान आदि समाधि ही है इस सम्बन्ध में मुझे बड़ा सन्देह हुआ है ॥ १ ॥ स्नानादि आश्रमधर्म नित्यकर्म कहे गये हैं, इस कारण उसका लोप होनेपर देहधारी विद्वानों को भी दोष लगता है ॥ २ ॥ स्नानादि नित्यकर्म न नैमित्तिक हैं न काम्य, अतः उनके लोप होने पर प्रायश्चित्त न करना क्यों नहीं है ? ॥ ३ ॥ शास्त्रविहित कर्मों के न करने से यदि दोष नही होता तो ब्रह्महत्यादि पापो का फल-शास्त्र अर्थात् फलप्रतिपादक शास्त्र निष्फल होजायगा ॥ ४ ॥ कर्म्म अकर्म्म और विकर्म्मों का फलाभाव मानने से इसका पूर्वोत्तर—

अपूर्वोत्तरजन्मित्वात् स्वेच्छाचारो नृणां भवेत् ॥५॥
संन्यासिनां तु शास्त्रोक्तवर्त्मनैवास्त्यकर्मिता ।
गृहिणामप्यकर्मित्वे न शास्त्रं प्रतिभाति मे ॥६॥
अनारम्भो गृहस्थश्च कार्यवाँश्चैव भिक्षुकः ।
उभौ तौ न विराजेते विपरीतेन वर्त्मना ॥७॥
इत्येवं प्रबलं श्रौतं स्मार्तं च प्रथितं वचः ।
श्रुतं मयैव शिष्टेभ्यो नान्यथा रघुनायक ॥८॥

श्रीराम उवाच ।

अहो बुद्धिमतां श्रेष्ठ भवता साधु शङ्कितम् ।
अत्र मुह्यन्ति सर्वेऽपि विद्वांसः पवनात्मज ॥९॥
वैफल्यं न क्वचित्तेषां कर्माकर्मविकर्मणाम् ।

जन्मित्व नहीं रहेगा अर्थात् पूर्व जन्म और परजन्म से इसका सम्बन्ध न रहने से मनुष्य स्वेच्छाचारी हो जायँगे ॥५॥ सन्यासियों के लिये तो शास्त्रोक्त रीति से ही अकर्म्मिता है; परन्तु गृहस्थों के लिये भी अकर्म्मिता हो, ऐसा शास्त्र मुझे नहीं देख पड़ता ॥६॥ कर्म्मारम्भ न करनेवाला गृहस्थ और कर्म्मारम्भ करनेवाला संन्यासी इस विपरीत मार्गपर चलनेवाले ये दोनों शोभा नहीं पाते ॥७॥ इस प्रकारका प्रवल तथा प्रसिद्ध श्रौत स्मार्त (वेदों और स्मृतियों का) वचन मैंने शिष्ट पुरूषों से सुना है सो हे रघुनाथजी ! वह अन्यथा नहीं है ॥८॥ श्रीरामचन्द्र ने कहा :—हेबुद्धिमानों में श्रेष्ठ वायुपुत्र ! तुमने अच्छी शङ्का की, इस सम्बन्ध मे सभी विद्वान् भ्रममें आजाते हैं ॥ ९ ॥ उनको (समाधिनिष्ठों को) कर्म्म, अकर्म्म और विकर्म्मों की कभी

अन्यत्र विनियुक्तत्वाच्छ्रुत्या तदरिबन्धुषु ॥१०॥
समाधिपारवश्येन लुप्तत्वान्नित्यकर्मणाम् ।
न प्रत्यवायगन्धोपि विदुषां मुक्तजन्मनाम् ॥११॥
अभिमानविहीनानां समाध्यासक्तचेतसाम् ।
स्वेच्छाचारो न षण्ढस्य वेश्यालौल्यमिवोद्भवेत्॥१२॥
श्रुत्यादिष्वभ्यनुज्ञेति स्वेच्छाचारस्य वर्तते ।
मन्यन्ते केचिदल्पज्ञा अमत्वैवादताम् ॥ १३ ॥
समाधेर्व्युत्थितस्यापि विदुषो लुप्तकर्मणः ।
आरम्भाद्वैपरीत्यन्न तत्कालोचितकर्मणाम् ॥१४॥

विफलता नहीं होती क्योंकि वेदोंने अन्यत्र उन कर्म्म, अकर्म्म तथा विकर्म्मों के फल उनके शत्रु और मित्रोंमें बांट दिये हैं * ॥१०॥ समाधि के अधीन हो जाने के कारण नित्य कर्मों का लोप होजाने पर भी जीवन्मुक्त विद्वानोंको पापका गन्धतक नहीं लगता ॥११॥ नपुंसक को वाराङ्गना में जिसप्रकार आसक्ति नहीं होती उसी प्रकार अभिमानशून्य होकर जिसका चित्त समाधि में आसक्त हो गया है उनमें स्वेच्छाचार नहीं उत्पन्न होता ॥१२॥ अर्थवाद को न समझकर कोई अल्पज्ञ ऐसा मानते हैं किश्रुति अदि में स्वेच्छाचार की अनुज्ञा है ॥१३॥ समाधिदशा में जिसके कर्म्म लोप होगये हों वह विद्वान् व्युत्थानदशा में उस काल के लिये उचित कर्मों का यदि आरम्भ करे तो कोई वैपरीत्य नहीं है ॥१४॥

* वेद और शास्त्रका यह सिद्धान्त है कि जीवन्मुक्त महापुरुषों के पापकर्म्मों के फलको उनके शत्रु और उनके पुण्यकर्म्मों के फल को उनके मित्र प्राप्त होते हैं ।

असमाहितचित्तो यस्त्वनारम्भेण कर्मणाम् ।
गृहस्थाश्रमसंभ्रष्टस्स मूर्खो न विराजते ॥१५॥
शिष्टास्तमेवाभिप्रेत्य जगदुस्तत्त्ववादिनः ।
तस्मान्मदुक्तेष्वर्थेषु माऽशङ्किष्ठाः कदाचन ॥१६॥
कर्तृनाशे यतः कर्मनाशोत्राभ्युपगम्यते ।
कर्तुस्समाधौ नष्टत्वान्न तदा कर्मचोदना ॥१७॥
गृहिणो यतितुल्यत्वादपि तस्यामवस्थितौ ।
सर्वकर्मविनिर्मुक्तस्स्वात्वात्मारामान्न कर्मिता॥१८॥
तुर्याश्रमं विना स्याच्चेत्समाधिश्चोत्थितिं विना ।

चित्त समाधिमें लीन न होने पर भी जिसने कर्म्मों का आरम्भ नहीं किया है वह मूर्ख गृहस्थाश्रम से च्युत होने के कारण शोभाको प्राप्त नहीं होता* ॥ १५ ॥ ऐसे ही पुरुष को लक्ष्य कर तत्त्ववेत्ता शिष्ट पुरुषों ने कहा है। अतः मेरे कहे हुए अर्थों के विषय में तुम कभी शङ्का न करो ॥ १६ ॥ कर्त्ता के नाश होजाने पर जिसप्रकार कर्म्मों का भी नाश होजाता है उसी प्रकार समाधि में कर्त्ता के लीन होने पर कर्म्म की प्रेरणाएं भी लीन हो जाती हैं ॥ १७ ॥ उस समाधिदशा में गृहस्थ भी संन्यासी के तुल्य होने के कारण वह सब कर्म्मों से मुक्त होजाता है और आत्मा में रममाण होने से उसमें 'कर्म्मिता' नहीं रहती ॥१८॥ संन्यासाश्रम के विना ही जो गृहस्थ ऐसी समाधि में मग्न हो जाता

* जिस प्रजकार बालक के हाथ में डोरी से बँधा हुआ पक्षी उड़ता तो है परन्तु वार बार लौटकर बालक के हाथ पर ही आकर विश्राम लेता है ठीक उसी प्रकार जीवन्मुक्त महात्मा की चित्त विषयान्तरमें व्युत्थानदशा को प्राप्त होने पर भी स्वस्वरूप में ही विश्राम करता रहता रहता है; परन्तु जिन विषयी गृहस्थों को स्वस्वरूप की उपलब्धि नहीं हुई है वे यदि कर्म्मत्याग करेंगे तो उनके पतनका कारण बनजायगा।

सर्वकर्मपरित्यागेऽप्यस्य हानिर्न काचन ॥१९॥
तुर्याश्रमेऽपि कर्माणि श्रूयन्त इति चेच्छृणु।
आदावन्ते च सन्त्यागो मध्ये तूक्तान्यशक्तितः॥२०॥
तस्मान्न कर्मसाहित्यं मुख्यं संन्यासिनां मतम्।
गृहस्थैः प्रार्थ्यमानत्वाद्दण्डादिग्रहणस्य च॥२१॥
असमाहितचित्तोऽपि ब्रह्मचारी गृही वनी।
यतिश्चात्मविचारेषु कुर्युः कर्माणि संग्रहात्॥२२॥
कर्मणां संग्रहो नाम न मानसिकतोच्यते।

जिस समाधिका कभी भङ्ग ही नहीं होता उसके सब कर्म्मों के छोड़ देने पर भी कोई हानि है॥ १९॥ चतुर्थाश्रम में भी कर्म्म करना सुनाजाता है इस सम्बन्धमें सुनो। आदि और अन्तमें* कर्म्म का त्याग कहा है, मध्यदशा में तो कर्म्म उक्त हैं क्योंकि उससमय कर्म्मका त्याग अशक्य है ॥ २० ॥ इस कारण सन्न्यासियों के लिये कर्म्मसाहाय्य मुख्यरूप से नहीं माना गया है। गृहस्थों के प्रार्थना करने पर वे दण्ड आदि ग्रहण करते हैं, वास्तव में उसकी भी उन्हें आवश्यकता नही होती॥ २१॥ आत्मविचार करने में समाहितचित्त न होनेपर भी ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्न्यासी, संक्षेप कर्म्मों का आचरण करें ॥ २२॥ 'कर्म्मों का संक्षेप से करना' इससे यह तात्पर्य्य नही कि स्थूल कर्म्मों को छोड़ केवल मानसिक कर्म्म करे क्योंकि मन्त्रों की आवृत्ति और क्रियाओं की अल्पता आपत्ति में पड़े हुए लोगों के लिये कही

* बाल्यावस्था और संन्यास अवस्था में।

मन्त्राद्यावृत्तिः क्रियाल्पत्वमापन्नां यथा विधिः ॥२३॥
एकान्तमननात्तीव्राद्ब्रह्मैकविषयात्स्वयम् ।
यस्येन्द्रियाणि सर्वाणि भान्ति सँल्लीनवृत्तिवत्॥२४॥
तस्याऽपि कर्मलोपेषु प्रत्यवायो न विद्यते ।
किमु वक्तव्यमन्यस्य समाधौ लीनचेतसः ॥२५॥

हनूमानुवाच ।

एवं यदि रघुश्रेष्ठ सर्वेषां प्राणिनां भृशम् ।
सुप्तौ प्रलीनचित्तत्वात्कर्मलोपैर्न दूषणम् ॥२६॥
महतां दर्शने प्राप्ते समस्तनियमैरलम् ।
इत्यस्य चार्थवादत्वं हीयते सर्वसम्मतम् ॥२७॥

श्रीराम उवाच

सुप्तौ सर्वविकाराणां सत्त्वाद्बीजात्मना भृशम् ।

गई है ॥ २३ ॥ एकमात्र ब्रह्मविषयक तीव्र एकान्त मनन से जिसकी सब इन्द्रियां आपही आप भलीभांति लीनवृत्तिसी देख पड़ती हैं ॥ २४ ॥ उसके भी कर्म्म लोप होजाने पर कोई दोष नहीं है । अन्य अर्थात् इससे अतिरिक्त जिनका चित्त समाधि में लीन हो गया हो उनके विषय में कहना ही क्या है ? ॥ २५ ॥ हनूमान्जी ने कहाः- हे रघुनाथ ! यदि ऐसा ही है तो सब प्राणियों के चित्त सुषुप्ति अवस्था में अत्यन्त लीन हो जानेपर उन्हें कर्मलोप का दोष नहीं लगेगा ॥ २६ ॥ महात्माओं का दर्शन होनेसे सब नियमों को रोक देना चाहिये, यह सर्वसम्मत अर्थवाद भी इस विचारसे दूषित होगा ॥ २७ ॥ श्रीरामचन्द्रजी बोलेःगाढ़ निद्रा-

प्रलीनचित्तता नास्ति सामान्यत्तूपचर्यते ॥२८॥
अतस्सुषुप्तौ लुप्तेषु कर्मसु प्रत्यवायभाक् ।
प्रायश्चित्तानि कुर्यात्सह्यनात्मज्ञो यथाविधि ॥२९॥
महतां दर्शनञ्चात्र ब्रह्मश्रवणकारणम् ।
नार्थवादपदं गच्छेत् तदन्यत्सर्वसम्मतम् ॥३०॥
निन्दा नियमशास्त्रस्य बलीयस्त्वान्न केनचित् ।
कार्या ब्रह्मात्मविज्ञानविहीनेन कदाचन ॥३१॥
विदुषामपि संसिद्धं व्यवहारदशासु यत् ।

वस्थामें (सुषुप्ति-अवस्थामें) सब विकारोंका बीजरूपसे अस्तित्व होनेके कारण सुषुप्त व्यक्तिका चित्त अत्यन्त लीन नहीं होता । उस समय केवल सामान्यारूप से प्रलीनचित्तता का आरोप माना जाता है ॥२८॥ अतः सुषुप्ति अवस्थामें कर्म्मोंका लोप होनेसे सुषुप्त व्यक्ति दोषका भागी है इस कारण उस आत्मज्ञानहीन व्यक्ति को यथा-विधि प्रायश्चित्त करना चाहिये ॥ २९ ॥ महात्माओं के दर्शन होने से नियमों को रोक देना चाहिये, यह जो कहा गया उसका कारण यही है कि उनके दर्शन से ब्रह्मज्ञान के श्रवण लाभ होता है* यहां अर्थवादका कोई प्रयोजन नहीं, इससे भिन्न अर्थवाद दूषित है यह बात सर्वसम्मत है ॥ ३० ॥ नियमशास्त्र प्रबल है इस कारण ब्रह्म और आत्मा के ज्ञान से हीन कोई पुरुष कभी उसकी निन्दा न करे ॥ ३१ ॥ व्यवहारदशा में जिस नियमशास्त्र का पालन विद्वान्

भागवत साधुका संग भगवान् के संग के ही समान है क्योंकि साधु का चित सदा भगवान् में लीन होनेके कारण साधुसंग से भगवान् का परोक्ष संग होताहै और भगवत्सम्बन्धीय उपदेश तो साक्षात् मोक्षका मार्ग ही है।

को वा नियमशास्त्रं तद्बाधयेद्बुद्धिपूर्वकम्॥३२॥
विद्योत्कर्षबलादत्र प्रातिलोम्यं यदुच्यते।
विधिशास्त्रानुरोध्ये तन्मन्तव्यं नान्यथा कपे॥३३॥
वर्णाश्रमव्यवस्थेयं पूर्वैः पूर्वतरैः कृता।
सर्वलोकेश्वरेणापि न दूष्या देहिना स्वयम्॥३४॥
स्वस्ववर्णाश्रमाचारैः प्रीणयन् परमेश्वरम्।
क्रमेण याति पुरुषो मामकं पदमुत्तमम्॥३५॥
वर्णाश्रमाचारहीनं वेदान्ता न पुनन्ति हि।
महान्तो गुरवश्चापि शिष्यं गृह्णन्ति नैव तम्॥३६॥

भी करते हैं, उसका उल्लङ्घन बुद्धिपूर्वक कौन कर सकता है? ॥३२॥ विद्याके उत्कर्षबल से यहां जो मैंने विपरीत कहा, हे कपे! वह विधिशास्त्र के अनुरोधसे ही कहा है, इसको तुम अन्यथा न समझो ॥ ३३ ॥ यह वर्णाश्रमव्यवस्था पूर्व से भी पूर्वतर (अत्यन्त प्राचीन) आचार्यों ने की है, इसकी स्वयं समस्त लोकों के स्वामी देहधारी को भी निन्दा नहीं करनी चाहिये ॥ ३४ ॥ अपने अपने वर्णाश्रम के आचार्यों से परमेश्वर को प्रसन्न कर पुरुष क्रमशः मेरे उत्तम पदको प्राप्त करता है* ॥ ३५ ॥ वर्णाश्रमाचारहीन पुरुषको वेदान्त पवित्र नहीं करते और श्रेष्ठ गुरुजन भी इस प्रकार के शिष्य को ग्रहण नहीं करते ॥ ३६ ॥ वर्णाश्रम के बन्धन में विद्वानों को

* मनुष्य के चित्त की स्वाभाविक गति इन्द्रियसेवारूपी प्रवृत्ति की ओर है। उस स्वाभाविक प्रवृत्तिमूलक पापगति से बचाकर चित्त को पुण्यगति की ओर सदा फेरे रखने के अर्थ आर्य्यजाति के लिये वर्णाश्रममर्य्यादा बांधी गई है। शास्त्रों में कहागया है कि वर्णधर्म मनुष्य की प्रवृत्ति की स्वाभाविक गति को रोकता है और आश्रमधर्म निवृत्तिमार्ग की गति को बढ़ाता है। यही वर्णाश्रमधर्म का रहस्य है।

विदुषोपि सुखं भूरि वर्णाश्रमनिबन्धने ।
स्वेच्छाचाराद्यहेतुत्वात्प्रभवेन्नात्र संशयः ॥३७॥
वर्णाश्रमाचारबन्धो न बन्धो मोक्षकांक्षिणाम् ।
भयावहोन्यधर्माणामाचारो बन्ध इष्यते ॥३८॥
यस्य वर्णाश्रमाचारे श्रद्धातीव प्रवर्तते ।
स कर्मिप्रवरोऽविद्वानपि विद्वत्त्वमाप्नुयात् ॥३९॥
भर्त्रधीना यथा योषित्परमं सुखमश्नुते ।
स्वैरिणी च परन्दुःखमुभयोरपि लोकयोः ॥४०॥
एवं वर्णाश्रमाधीन ऐहिकामुष्मिकं सुखम् ।
प्राप्नुयादितरो दुःखं नात्र सन्देहकारणम् ॥४१॥

भी विपुल सुख होता है क्योंकि स्वेच्छाचार आदिका कारण न होनेसे यह धर्म्म श्रेष्ठ है इसमें सन्देह नहीं ॥ ३७ ॥ मोक्ष चाहने वालों के लिये वर्णाश्रमाचारों का बन्धन कोई बन्धन नहीं है। भयावह अन्य धर्म्मों का आचरण ही बन्धन कहा गया है ॥ ३८ ॥ जिसकी वर्णाश्रमाचार में अत्यन्त श्रद्धा होती है वह श्रेष्ठ सुखको प्राप्त अविद्वान् होनेपर भी विद्वत्ता को प्राप्त करता है ॥ ३९ ॥ जिस प्रकार पतिके अधीन रहनेवाली पतिव्रता स्त्री श्रेष्ठ सुखको प्राप्त करती है और कुलटा स्त्री दोनों लोकोंमें ही अत्यन्त दुःख पाती है, उसीप्रकार वर्णाश्रमके अधीन रहनेवालों को इह पर दोनों लोकों में सुख और विपरीत बरतनेवालों को दुःख प्राप्त होता है, इसमें कोई सन्देह का कारण नहीं है ॥ ४०-४१ ॥ चाण्डाल का भी

चण्डालस्यापि विप्रत्वं प्रायश्चित्तेन सम्भवेत् ।
वर्णाश्रमपरिभ्रष्टः प्रायश्चिती न कश्चन ॥४२॥
भक्तिज्ञानविरक्त्यादिपादपस्याभवन्नमी ।
वर्णाश्रमसमाचारा यन्मूलानि न तांस्त्यजेत् ॥४३॥
निर्मूलः पादपोम्भोभिः संसिक्तोपि यथा फलम् ।
जनयेन्नाश्रमाचारहीनो भक्त्यादिराश्रितैः॥४४॥
नैतेन सर्ववेदान्तप्रसिद्धस्यास्तिदूषणम् ।
अतिवर्णाश्रमित्वस्य स्वान्याचारविवर्जनात् ॥४५॥

प्रायश्चित से विप्र बनना सम्भव है, परन्तु वर्णाश्रम से च्युत किसी व्यक्ति का तो प्रायश्चित्त से भी उद्धार नहीं होसकता ॥ ४२ ॥ क्योंकि भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि वृक्षोंके मूल वर्णाश्रमधर्माचार ही हैं उनका त्याग नहीं करना चाहिये * ॥ ४३ ॥ मूल (जड़) रहित वृक्षको जल सींचने पर भी जिस प्रकार वह नहीं फलता, उसी प्रकार आश्रय करने वालों के द्वारा (साधकों के द्वारा) संसेवित आश्रमाचार हीन भक्ति ज्ञान वैराग्यादि फलको उत्पन्न नहीं करते ॥ ४४ ॥ परन्तु पूर्वकथित विज्ञान से सर्व वेदान्तों में प्रसिद्ध अतिवर्णाश्रमित्व में भी अपने आचार और दूसरों के आचारों के त्याग करने से कोई दोष नहीं है ॥ ४५ ॥ वही योगी

* शूद्रधर्म्म चतुर्वर्ग में से कामलक्ष्यमूलक है, वैश्यधर्म्म अर्थलक्ष्यमूलक है, क्षत्रियधर्म्म धर्मलक्ष्यमूलक है और ब्राह्मणधर्म्म मोक्षलक्ष्यमूलक है । इसी के अनुसार इन चारों वर्णधर्म्मके आचार स्वतन्त्र रूप से यथायोग्य ढंगपर बांधे गये हैं । उसीप्रकार आश्रमधर्म्मके सम्बन्धमें भी समझना उचित है । प्रवृत्ति का उपाय सिखाना ब्रह्मचर्य्य आश्रममें होता है । प्रवृत्ति को वेदोक्त ढंगपर करना गृहस्थाश्रममें होता है । निवृत्ति का उपाय वानप्रस्थ आश्रम में सिखाया जाता है और निवृत्ति की पूर्णतया सन्न्यासाश्रम में कराई जाती है । यही वर्णधर्म्म और आश्रामधर्म्म के आचारों का गूढ और मौलिक रहस्य है ।

स्वाचारानितराचारानपि हित्वा निरन्तरम् ।
निश्चेष्टो योऽभवद्योगी सोतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥४६॥
यस्स्वाचारानिह त्यक्त्वा पराचारान् समाश्रयेत् ।
स स्वेच्छाचारनिरतो भ्रष्टवर्णाश्रमी मतः ॥४७॥
शान्तिदान्त्यादयो धर्माः परस्यैव यतेश्श्रुताः ।
तथापि नोत्तमत्वात्ते परेषां स्युर्भयावहाः ॥४८॥
अग्निहोत्रादिकर्माणि शूद्रस्यापि तथेति चेत् ।
नाभ्यन्तरेण बाह्यस्य सादृश्यानुपपत्तितः ॥४९॥
अरूपनष्टचित्तासुर्भवान्यावन्महाकपे ।
विदेहमुक्तिं न प्राप्तस्तावद्वर्णाश्रमी भव ॥ ५० ॥

पुरुष वर्णाश्रमों से अतीत है जो अपने तथा दूसरों के भी आचारों का त्यागकर निरन्तर चेष्टाशून्य होगया है ॥ ४६ ॥ जो अपने वर्णाश्रमाचारों का त्यागकर दूसरों के वर्णाश्रमाचारों का आश्रय करता है वह स्वेच्छाचारपरायण भ्रष्टवर्णाश्रमी कहा गया है ॥ ४७ ॥ श्रेष्ठ यति के ही शान्ति दान्ति आदि धर्म प्रसिद्ध हैं, परन्तु दूसरों के लिये वे उत्तम न होने से भयावह ही हैं ॥ ४८ ॥ इसी तरह अग्निहोत्रादि कर्म शूद्र के लिये उचित नहीं क्योंकि उसके आभ्यन्तर गुण और बाह्य कर्मों में भिन्नता होती है ॥ ४९ ॥ इस कारण हे महाकपे ! जबतक तुम्हारा चित्त और प्राण अरूप भाव से नष्ट होकर तुम विदेह-मुक्ति को प्राप्त न हो तबतक तुम वर्णाश्रमी बनो ॥ ५० ॥ हे

लब्ध्वा देहान् वातजेच्छानुरूपान्
श्रौतस्मार्ताशेषधर्मांश्च नित्यान् ।
कृत्वा नित्यं सङ्गहीनोऽर्पयाशु
त्वामेषोहं मोक्षयिष्यामि शोकात् ॥५१॥
औदासीन्यं मा कृथाः किञ्चिदत्र
स्वाचारेषु त्वं मुमुक्षुर्यतोसि ।
यत्स्वाराज्यं स्वाश्रमाचारमूलं
व्यग्रो नित्यं तेषु निष्ठां कुरुष्व ॥ ५२॥

इति तत्त्वसारायण उपासनाकाण्डस्य द्वितीयपादे सर्ववेद-रहस्यार्थासु श्रीरामगीतासूपनिषत्सु वर्णाश्रमव्यवस्था-पनं नाम नवमोऽध्यायः ॥

वायुपुत्र ! तुम अपनी इच्छा के अनुसार देहोंको प्राप्तकर श्रुति-स्मृतिकथित समस्त नित्य धर्मों का सर्वदा पालन करते हुए सङ्गहीन होकर उन कर्मों को मुझमें अर्पण करो, मैं तुम्हें शीघ्र ही इस शोक से मुक्त करूंगा ॥ ५१ ॥ जब कि तुम मुमुक्षु हो, तो इन अपने आचारों के पालन में अणुमात्र भी उदासीन न बनो क्योंकि स्वराज्य (मोक्ष) का मूल अपने आश्रमों का आचार ही है अतः उसी में तुम तत्पर होकर निष्ठा करो ॥ ५२ ॥

इसप्रकार तत्त्वसारायण के अन्तर्गत उपासनाकाण्ड के द्वितीय अध्याय में कथित समस्तवेदों के रहस्यार्थों को प्रकाश करने वाली श्रीरामगीता उपनिषद्का वर्णाश्रमव्यवस्थापन नामक नवम अध्याय समाप्त हुआ ॥

कर्मविभागयोगनिरूपणम् ।

हनूमानुवाच ।

नमस्ते जानकीकान्त भक्तवत्सल राघव ।
क्षन्तव्यो मेऽपराधोयं यन्मयाऽऽयासितोस्यहो ॥१॥
श्रोतव्यांशाः पुनश्चात्र वर्तन्ते बहवो मम ।
तथापि पश्चाच्छ्रोष्यामि प्रतीक्ष्यावसरं क्रमात्॥२॥

श्रीराम उवाच ।

कपे त्वमिङ्गितज्ञोपि मुग्ध एवासि साम्प्रतम् ।
एवं ब्रवीषिमां तत्त्वकथनात्युत्सुकं यतः ॥ ३ ॥
मिथ्याव्याहारजायासलेशहीनस्य मेऽधुना ।
वाग्वृत्तयः प्रवर्द्धन्ते स्वानन्दामृतपूरिताः ॥ ४ ॥

हनूमान्‌जी बोले :—हे जानकीनाथ! हे भक्तवत्सल! हे रघुनाथजी! आपको प्रणाम है। अहो! मैंने आपको जो बहुत कष्ट दिये हैं इस अपराध के लिये आप क्षमा करें ॥१॥ फिर भी मेरे सुनने योग्य बहुतसी बातें हैं, परन्तु अवसर देखकर क्रमशः मैं उनको पीछे से सुनलूंगा ॥ २ ॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा :—हे कपे! तुम इङ्गितज्ञ होकर भी इस समय मुग्ध ही हो रहे हो। तत्त्वार्थों के कथन करने में जब कि मै अत्यन्त उत्कण्ठित हो रहा हूँ तब तुम ऐसा क्यों कहते हो? ॥ ३ ॥ झूठी गप्पों से होनेवाले परिश्रमका मुझमें लेश भी नहीं है। उलटे इस समय आत्मानन्दरूपी अमृतसे भीगी हुई मेरी वाणीसम्बन्धी वृत्तियाँ बढ़ रही हैं ॥ ४ ॥

तस्मात्त्वं मारुते ऽव्यग्रं परतत्त्वावबोधने ।
ममशेषान् यथाकामं प्रष्टव्यान् पृच्छ निर्भयम् ॥५॥
हनूमानुवाच ।
भगवन् सञ्चितागामिप्रारब्धाख्यानि च प्रभो ।
कर्माणि त्रिविधान्याहुर्महान्तो रघुनन्दन ॥ ६ ॥
तेषु केचिद्बुधा बोधान्नाशं सञ्चितकर्मणाम् ।
आहुर्भोगं विनैवाशु सुखदुःखात्मकं फलम् ॥ ७ ॥
आगामिपुण्यपापानां पश्चादकरणात्परम् ।
अश्लेषमेव विद्वद्भिः प्राहुर्वेदान्तपारगाः ॥ ८ ॥
भोगं विना न नाशोस्ति विद्वत्प्रारब्धकर्मणाम् ।
हस्तमुक्तेषुवत्प्रोचुरिति तत्त्वविचक्षणाः ॥ ९ ॥

इस कारण हे मारुते ! परमतत्त्वको समझाने में लगे हुए मुझसे जो तुम्हारे सब प्रश्न हों सो इच्छानुसार निर्भय होकर पूछो ॥ ५ ॥ हनूमान्जी बोले :-- हे भगवन् ! हे प्रभो ! हे रघुनाथजी ! श्रेष्ठ पुरुषों ने सञ्चित, आगामि और प्रारब्ध नामक तीन प्रकार के कर्म कहे हैं ॥ ६ ॥ कुछ विद्वानोंके मतसे, उन कर्मों में से सञ्चित कर्मों का नाश ज्ञान प्राप्त होनेसे उनके सुखदुःखात्मक फलके भोगे विना ही शीघ्र होजाता है ॥ ७ ॥ वेदान्त के पारदर्शी पुरुषों का कथन है कि सञ्चित कर्मों के नाश होजाने पर विद्वज्जन पुण्य अथवा पापकर्म्म नहीं करते अतः उनसे आगामिकर्मों का सम्बन्ध भी नहीं रह सकता ॥ ८ ॥ तत्त्वज्ञानिगण कहते हैं कि हाथसे छूटेहुए बाणके समान विद्वानों के प्रारब्ध कर्मों का भोग किये विना नाश

अन्ये तु भोगादाद्यानां द्वितीयानां ततः परम् ।
तृतीयानां विनाशं चाश्लेषं भोगं विना त्रयम् ॥१०॥
एवं विद्वत्तमप्रोक्तपक्षयोरुभयोरपि ।
एकं मुख्यं विनिश्चित्य प्रसीद मम राघव ॥११॥

श्रीराम उवाच ।

साधु पृष्टं महाप्राज्ञ हनूमन् प्रश्नकोविद ।
अवश्यं ज्ञेय एवायं प्रश्नो विद्वत्तमैरपि ॥१२॥

नहीं होता * ॥ ९ ॥ अन्य विद्वानों का मत है कि फलभोग से सञ्चित कर्मों का नाश होता है । फिर आगामी कर्मों का नाश उनका उनसे सम्बन्ध न होनेके कारण हुआ ही रहता है और प्रारब्ध कर्मों का भोग के विना ही नाश हो जाता है † ॥ १० ॥ इस प्रकार श्रेष्ठ विद्वानों के कहे हुए दोनों पक्षों में से किसी एकका मुख्य रूप से निश्चय करके हे रघुनाथजी ! मुझपर आप प्रसन्न हों ॥ ११ ॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा :—हे प्रश्न करने में निपुण परम बुद्धिमान् हनूमान् ! तुमने बहुत अच्छा पूछा । यह प्रश्न श्रेष्ठ विद्वानों के द्वारा भी अवश्य ही जानने योग्य है ॥ १२ ॥ तुमने कर्म

* धनुषधारी के धनुष से लक्ष्यकी ओर छूटे हुए बाण के सदृश प्रारब्ध कर्म्म, छोड़ने के लिये धनुष में लगे हुए बाण के सदृश क्रियमाण कर्म्म और तुणीरमें रक्खे हुए अनेक बाणों के सदृश सञ्चित कर्म्म कहाते हैं । तीसरे सञ्चितकर्म्म आत्मज्ञान से छूट जाते हैं, दूसरे क्रियमाण कर्म्म वासनानाश से छूट जाते हैं और हाथ से छूटे हुए वाण के सदृश प्रारब्ध कर्म्म भोग से ही क्षय होते हैं ।

† पहला मत वेदान्तदर्शन का है और यह दूसरा मत युक्त योगियों के सिद्धान्त का है । पक्षान्तर से दोनों एकही सिद्धान्त पर पहुँचते हैं ।

गौणो यः पक्षयोराद्यस्त्वया विद्वन्मुखाच्छ्रुतः ।
द्वितीयो यस्तु मुख्यः स्याद्विद्वत्तममुखाच्छ्रुतः॥१३॥
जीवन्मुक्त्यवधिस्तत्त्वविचारो येषु विद्यते ।
तेषां मतं हि पूर्वोक्तं मन्दप्रीतिकरं भवेत् ॥१४॥
विदेहमुक्तिपर्यन्तविचारो येषु विद्यते ।
पश्चादुक्तं मतं तेषामुत्तमप्रीतिदं भवेत् ॥१५॥
आद्ये विरोधा बहवस्सन्ति सम्यङ्निरूपिते ।
सञ्चितेषु ह्यभुक्तेषु प्रबोधोत्पत्त्यसम्भवः ॥१६॥
आदावुत्पद्यमानस्य ज्ञानस्यावीर्यवत्तया ।
शक्तिर्नाशयितुं न स्याद्वीर्यवत् सञ्चितव्रजम् ॥१७॥

मतसम्बन्धी दो पक्ष कहे, उन में से विद्वानों के मुख से तुमने जो पहिला पक्ष सुना वह गौण है और श्रेष्ठ विद्वानों के मुख से जो दूसरा पक्ष सुना, वह मुख्य है॥ १३ ॥ जिनमें जीवन्मुक्तिपर्यन्त तत्त्वविचार है, उस पक्ष के लोगों का पूर्वोक्त मत विशेष रुचिकर नहीं होगा ॥ १४ ॥ जिनमें बिदेहमुक्तिपर्यन्त विचार है, उस पक्ष के लोगों का पीछे कहा हुआ मत उत्तम प्रीतिकर होगा ॥ १५ ॥ भलीभाँति निरूपण करने से प्रथम पक्ष में बहुत विरोध है, क्योंकि सञ्चित कर्मों का भोग किये बिना ज्ञान की उत्पत्ति होना असम्भव है ॥ १६ ॥ पहिले उत्पन्न हुआ ज्ञान बलहीन होनेके कारण उसमें बलवान् सञ्चित कर्मों का नाश करने की शक्ति नहीं रहती ॥ १७ ॥ सञ्चित कर्म भोग से ही नष्ट

भोगेनैव विनाशश्चेत्प्रायश्चित्तवचो वृथा ।
इति चेन्नोपपापानां प्रायश्चित्तक्षयित्वतः ॥१८॥
महतां ब्रह्महत्यादिपापानामस्ति तद्वचः ।
इति चेन्नार्थवादत्वात्फलशब्दोऽन्यथा वृथा॥१६॥
अवश्यमनुभोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ॥२०॥
इत्येवमादिस्मरणं पूर्वपक्षे विरुध्यते ।
ब्रह्मेश्वरगुरूणां च वैषम्यं सम्प्रसज्यते ॥२१॥
फलशब्दोऽर्थवानास्तामप्रायश्चित्तिषु स्वयम् ।
इति चेद्बोधनाश्यत्वं प्रसिद्धं कर्मणां वृथा ॥२२॥

होते हैं ऐसा यदि कहें तो प्रायश्चित्तसम्बन्धी शास्त्रीय वचन व्यर्थ हो जायँगे, परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि प्रायश्चित्त से उपपातक नष्ट होते हैं ॥ १८ ॥ ब्रह्महत्यादि महापातकों के लिये प्रायश्चित्तसम्बन्धी वचन हैं, ऐसा कहें तौभी ठीक नहीं है, क्योंकि वह अर्थवाद है, अन्यथा मानने से फलशब्द वृथा होगा ॥ १९ ॥ किये हुए शुभ या अशुभ कर्मों का फल अवश्य भोगना होगा, यदि वह न भोगा जाय तो करोड़ों कल्पों तक उन कर्मों का क्षय न होगा ॥ २० ॥ यह पूर्वाचार्यों का सिद्धान्त पूर्व पक्ष का विरोध करता है। ब्रह्म, ईश्वर और गुरुगण का वैषम्य भी उस पक्ष में उपस्थित होता है ॥२१॥ जिन्होंने प्रायश्चित्त नहीं किया है, उन्हीं के लिये फलशब्द अपने आप सार्थक है, ऐसा यदि कहें तो कर्मों के ज्ञानद्वारा नष्ट होने की जो प्रसिद्धि है, सो व्यर्थ हो जायगी ॥ २२ ॥ वेदों में कहा है कि काश की रुई जिस प्रकार

यथेषीकातूलमग्नाविति श्रुत्याद्यकर्मणाम्।
विषयत्वे कथं तत्र भोगवार्तेति चेच्छृणु ॥२३॥
उपपापानि बोधाग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽथवा।
प्रारब्धानीति विद्धि त्वं नान्यथा कपिपुङ्गव ॥२४॥
महापापानि पुण्यानि सकामानि च भोगतः।
यदा नश्यन्त्यशेषाणि ताद्रूप्यात्सञ्चितानि हि ॥२५॥
अत्रैव तत्कृते देहे निष्कामानीतराणि च।
पुण्यानि श्रवणाद्यैस्तज्ज्ञानमुत्पादयन्ति वै ॥२६॥
प्रबलैः प्रतिबन्धानि पुण्यपापानि जाग्रति।
दुर्बलानि फलं पश्चात् स्वप्ने वा ददति स्वयम् ॥२७॥

अग्नि में डालने से जलजाती है, उसी प्रकार कर्म भी ज्ञानाग्नि में जल जाते हैं, इस श्रुति के अनुसार जो कर्मशून्य हो गये हैं, उनके लिये कर्मभोग हो ही नहीं सकता, ऐसा यदि कहें तो सुनो ॥ २३ ॥ ज्ञानाग्नि उपपातकों का अथवा प्रारब्ध कर्मों का नाश करता है, हे कपिपुङ्गव! तुम इसको अन्यथा न समझो ॥ २४ ॥ महापातक और सकाम पुण्यकर्म जब भोग से नष्ट होजाते हैं, तब समस्त सञ्चित कर्म भी, तद्रूप होने से, नाशको प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥ कर्मों के द्वारा बने हुए इसी देह में निष्काम कर्म और अन्यान्य पुण्यकर्म श्रवण आदि द्वारा निश्चय ही ज्ञान उत्पन्न करते हैं ॥ २६ ॥ ज्ञानप्राप्ति में बाधा देनेवाले पाप पुण्य प्रबल श्रवणादि द्वारा जाग्रदवस्था में फल देते हैं और यदि वे पाप पुण्य दुर्बल हों तो उनका फल स्वप्न में स्वयं होता है ॥ २७ ॥

यस्त्ववस्थात्रयं हित्वा स्वात्मारामोऽनिशं भवेत्।
तज्ज्ञानस्य बलीयस्त्वात् कर्माणि विफलानि वै॥२८
प्रारब्धं सिध्यति तदा देहात्मना स्थितिः।
देहात्मभावो नैवेष्टः प्रारब्धं त्यज्यतामतः॥२९॥
सञ्चितानि बलिष्ठानि प्रारब्धान्यबलानि तु।
आद्यत्वेनान्तिमत्वेन तदसत् पूर्वसम्मतम्॥३०॥

जो तीनों अवस्थाओं को छोड़कर अपने आत्मा में अखण्ड रममाण होता है, उसका ज्ञान बलवान् होने से उसके समस्त कर्म विफल होजाते हैं* ॥ २८ ॥ प्रारब्धकर्म तभी तक भोगने पड़ते हैं, जबतक देह के साथ आत्मा का सम्बन्ध होता है, देहात्मभाव इष्ट नहीं है, इस कारण प्रारब्ध का त्यागकरो ॥ २९ ॥ पहिले सञ्चित कर्म हैं इसलिये वे बलवान् हैं और पीछे प्रारब्ध कर्म हैं इसलिये वे दुर्बल हैं ऐसा मानना पूर्वाचार्यों के मतसे असत् (मिथ्या है ॥ ३० ॥ हनूमान्‌जी बोलेः-- हे भगवन्! हे

* पूर्वकथित दो पक्ष का सिद्धान्त करने पर विषय बहुत जटिल हो गया है। सुतरां तात्पर्य्य निर्णय की आवश्यकता है। वस्तुतः पहला पक्ष सर्वदर्शनसिद्धान्तों से युक्त है और दूसरा पक्ष केवल उसी का रूपान्तर है और स्वरूपज्ञानका अनुमोदक है। जीवन्मुक्त दशाकी दो अवस्थाएँ दिखाकर उन्हीं के साथ इन दो सिद्धान्तों का समन्वय किया गया है। स्मृतिका पक्ष यह है कि कर्म विना भोगके क्षय नहीं होता; अस्तु यदि वेदान्त के सिद्धान्त के सम्बन्ध में यह मानाजाय कि जीवन्मुक्त के सञ्चित कर्म्म और क्रियमाण कर्म्म समष्टि चिदाकाश को आश्रय करके भविष्यत् काल के कारण होते हैं और समष्टि फल उत्पन्न करते हैं जैसा कि भरद्वाज कर्म्ममीमांसा में कहा गया है तो पूर्वकथित शङ्काओंका समाधान अपने आपही हो जायगा और दूसरे पक्षके अनुसार जो यह कहा गया है कि आत्मज्ञानीके तीनों प्रकारके कर्म्म आत्मज्ञान से नष्ट होजाते हैं यह भी यथार्थ ही है क्योंकि आत्मज्ञानके द्वारा स्वरूपकी उपलब्धि होते ही उक्त मुक्तात्मा का सञ्चित कर्म्म उसको छोड़कर समष्टि चिदाकाशमें पहुँच जाता है और आत्मज्ञानसे उत्पन्न निष्काम अन्तःकरण में पुनः आगामी क्रियमाण कर्म्म अपना सम्बन्ध स्थापन करही नहीं सकते हैं और आत्मामें युक्त रहनेसे प्रारब्ध कर्मका भोग वस्तुतः भोग के समान नहीं होता। शरीराध्यास न रहने से प्रारब्ध कर्म्म भोग होने पर भी अनुभवमें नहीं आते। यही दोनों सिद्धान्तों का समन्वय है।

हनूमानुवाच ।

भगवन् रघुशार्दूल विनियोगस्तु कर्म्मणाम् ।
साधुरेव त्वया प्रोक्तस्तथाप्यन्योऽस्ति संशयः ॥३१॥
सुहृद्‌द्विषन्तौ विदुषः पुण्यपापेऽत्र गच्छतः ।
इति श्रौतोयमर्थस्तु विरुद्धः पक्षयोर्द्वयोः ॥३२॥
भोगतो ज्ञानतश्चैषां सञ्चितारब्धकर्मणाम् ।
विनाशे कथमन्यत्र विनियोगोऽरिमित्रयोः ॥३३॥

श्रीराम उवाच ।

लोकसङ्ग्रहबुद्ध्यैव सम्यग्ज्ञानोदयात्पुरा ।
पश्चाच्च क्रियमाणानि यानि नैमित्तिकानि तु॥३४॥
तान्यात्माऽनुपभुक्तत्वादनष्टत्वाच्च बोधतः ।
पुण्यकर्माणि सुहृदः प्रयान्ति कपिपुङ्गव ॥३५॥

रघुशार्दूल ! कर्मों का विनियोग आपने अच्छा ही कहा है; तथापि मुझे एक और सन्देह है ॥ ३१ ॥ विद्वानों (आत्मज्ञानियों) के पुण्य और पाप उनके मित्र और शत्रुओं में चले जाते हैं, यह जो श्रुतिकथित सिद्धान्त है, वह दोनों पक्षों के विरुद्ध है ॥ ३२ ॥ आत्मज्ञानियों के सञ्चित और प्रारब्ध कर्मों का जब भोग और ज्ञानसे नाश होजाता है, तब उनका दूसरे जो शत्रु और मित्र हैं उनमें विनियोग कैसे होगा ? ॥ ३३ ॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा :– सम्यग्ज्ञान का उदय होने के पहिले या पीछे, लोकसंग्रह की बुद्धि रखकर ही जो नैमित्तिक रूप से क्रियमाण पुण्य कर्म हों, वे आत्माद्वारा उपभुक्त अथवा ज्ञानद्वारा नष्ट न होनेके कारण हे कपिपुङ्गव ! मित्रों में चले जाते हैं ॥ ३४-३५ ॥ लोकसंग्रहकी

लोकसङ्ग्रहधीहीनैर्विद्वद्भिरकृतानि च ।
नैमित्तिकानि कर्माणि यानि काम्यानि चाभवन्॥३६
तानि चानुपभुक्तत्वादनष्टत्वाच्च बोधतः ।
पापकर्माण्यसुहृदः तेषां यान्ति मरुत्सुत ॥३७॥
नैतानि पुण्यपापानि सञ्चितान्तर्गतानि च ।
नारब्धान्तर्गतानि स्युर्नागामीति पृथक्त्वतः॥३८॥

बुद्धि न रखकर विद्वानों द्वारा किये न जानेवाले अर्थात् आत्मज्ञानप्राप्ति के पूर्व किये हुए जो नैमित्तिक अथवा काम्य पाप कर्म हुए हैं उनका भोग न होनेसे अथवा ज्ञान के द्वारा उनका नाश न होनेसे आत्मज्ञानियों के ऐसे पापकर्म, हे वायुपुत्र ! उनके शत्रुओं में चले जाते हैं ❀ ॥ ३६-३७ ॥ वे पुण्य पाप पृथक् होनेके कारण अर्थात् मित्र और शत्रुओं में चले जाने के कारण न सञ्चित के अन्तर्गत हैं, न प्रारब्ध के और न आगामी के ही अन्तर्गत है ॥ ३८ ॥ परोक्ष ज्ञानियों के ये सब पुण्य पाप उनके

❀ तात्पर्य्य यह है कि जब जीवन्मुक्त यह अनुभव कर लेता है कि मैं स्वस्वरूप आत्मा हूं शरीर नहीं हूं तब स्वतः ही शरीरसम्बन्धीय चित्ताकाशमें जमनेवाले कर्मसमूह उस जीवन्मुक्त को भोगप्रदान करने में असमर्थ हो जाते हैं; परन्तु कर्म विना प्रतिक्रिया उत्पन्न किये नष्ट नहीं होते इसकारण वे उस जीवन्मुक्त व्यक्तिके चित्ताकाशमें स्थान न पाकर ब्रह्माण्ड चिदाकाश को आश्रय करके अन्य के भोगोपयोगी बनजाते हैं। ऐसे समय में वे जीवन्मुक्त महापुरुष जो साक्षात् ब्रह्मस्वरूप हैं उनको दुःख देनेवालों नें उनके असत् क्रियमाण कर्म और उनकी सेवा करनेवालों में उनके सत् क्रियमाण कर्म्म पहुँच सकते हैं। इसका कारण यह है कि ऐसे ब्रह्ममूर्त्ति महापुरुष की सेवा करना अथवा उनको क्लेश देना एक प्रबल कर्म्म अवश्य ही होगा और प्रबलकर्म्म तुरत फल उत्पन्न करनेबाले हैं। और प्रबल उग्र कर्म्म दैवप्रेरणासे आसाधारण शैली पर उत्पन्न होते हैं यह शास्त्र कहता है। वही जसाधारण शैली उक्त कर्मों को चिदाकाशसे खैंचकर उक्त साधुभक्त या साधुनिन्दक व्यक्तिमें देबताओं के द्वारा पहुँचा दिया करती है। "अत्युत्कटैः पापपुण्यैरिहैव फलमश्नुते" यही इसकी मीमांसा है।

परोक्षज्ञानिनश्चैते पुण्यपापेऽरिमित्रयोः ।
अर्धमार्गे प्रयाणे च प्रयात इति गम्यते ॥३९॥
एताभ्यां साध्वसाधुभ्यां कर्मभ्यां परमात्मवित् ।
न लिप्यते परार्थत्वात्पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥४०॥
प्राक्प्रबोधात्कृतान्यत्र नित्यकर्माण्यथापि च ।
प्रबोधस्य च मोक्षस्य सहकारीणि मारुते ॥४१॥

हनूमानुवाच ।

प्रबोधसहकारित्वमुचितं नित्यकर्मणाम् ।
न मोक्षसहकारित्वं श्रूयते राघव क्वचित् ॥४२॥
काष्ठदाहेऽन्नपाके च स्वतन्त्रोऽग्निर्यथा भवेत् ।
कर्मक्षयेऽपि मुक्तौ च प्रबोधो हि तथा भवेत् ॥४३॥

जीवनके मध्य में या अन्त समय में उनके मित्र और शत्रुओं में जाते हुए जाने जाते हैं ॥ ३९ ॥ परमात्मवेत्ता इन अच्छे बुरे कर्मों से निष्काम होने के कारण जलमें कमलपत्र के सदृश लिप्त नहीं होते ॥ ४० ॥ ज्ञानोदय के पहिले जो कुछ नित्यकर्म यहाँ किये गये हों, हे मारुते ! वे ज्ञान और मोक्ष के सहकारी अर्थात् सहायक होते हैं ॥ ४१ ॥ हनूमानजी ने कहा :—हे रघुनाथजी ! नित्यकर्मों का ज्ञानका सहकारी होना ठीक ही है, परन्तु उनका मोक्षका सहकारी होना कहीं नहीं सुनागया ॥ ४२ ॥ जिस प्रकार लकड़ी को जलाना और अन्नको पकाना, इन दोनों कर्मों के करने में अग्नि स्वतन्त्र है, उसी प्रकार ज्ञान ही कर्मों का क्षय तथा मुक्ति प्रदान करने में समर्थ है ॥ ४३ ॥ हे विभो ! यदि ज्ञान

बोधस्सप्रतिबन्धश्चेत्कर्मापेक्षोपपद्यते ।
अत्र निष्प्रतिबन्धस्य तदपेक्षा कथं विभो ॥४४॥
न किञ्चिदपि कर्तव्यं सम्यग्ज्ञानोदयात्परम् ।
इति वेदान्तसिद्धार्थे व्यभिचारः कथं भवेत् ॥४५॥

श्रीराम उवाच ।

अरूपनाशासंसिद्धेस्सम्यग्ज्ञानेद्रियाण्यनु ।
प्रवर्त्तन्ते बहिः स्वार्थेष्वञ्जनासुत सर्वतः ॥४६॥
स्वेच्छाविहारासिद्ध्यर्थं विद्वाँस्तानीन्द्रियाण्यलम् ।
वर्णाश्रमोचितैर्धर्मकामार्थैरुपलालयेत् ॥४७॥
अरूपनाशो नैतेषां यावज्जातस्समाधिभिः ।

प्रतिबन्धसहित हो तो कर्मकी अपेक्षा हो सकती है, परन्तु जब ज्ञान प्रतिबन्धरहित है अर्थात् विशुद्ध है तब कर्म की अपेक्षा क्योंकर होगी ? ॥ ४४ ॥ सम्यक् ज्ञान होने के पश्चात् कुछ भी कर्तव्त नही रहता, यह जो वेदान्त का सिद्धान्त है, उसका खण्डन कैसे हो सकेगा ? ॥ ४५ ॥ श्रीरामचन्द्रजी बोलेः— हे अञ्जनीपुत्र ! जबतक भलीभाँति अरूपनाश की सिद्धी नहीं हुई है तब तक ज्ञानेन्द्रियाँ बाहर सब ओर स्वार्थों में प्रवृत्त होती है अर्थात् अपने अपने विषयों के पीछे लगी रहती हैं ॥ ४६ ॥ वे इन्द्रियाँ स्वेच्छाविहार न करसकें, इसलिये वर्णाश्रमोचित धर्म काम और अर्थके द्वारा विद्वान् पुरुष उनका भलीभाँति लालन करे ॥ ४७ ॥ समाधियों के द्वारा जबतक इन इन्द्रियों का अरूप नाश न हो,

तावन्नित्यानि कर्माणि प्रबोधोऽपेक्षते भृशम् ॥४८॥
अतो न किञ्चित्कर्त्तव्यं नित्यकर्मेतरद्बुधैः ।
इति त्वं विद्धि वेदान्तवाणीमव्यभिचारिणीम् ॥४९॥
इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु स्वभावतः ।
लालने ह्युत्तमं श्रेयः स्वाश्रमोचितकर्मभिः ॥५०॥
कायिकं वाचिकं कर्म यदि मानसिकं क्रमात् ।
संसृज्ययेत प्रबोधेन विदुषस्सा त्वलङ्क्रिया ॥५१॥
अरूपनष्टचित्तासुकरणस्स विदुत्तमः ।
आभ्यां विधिनिषेधाभ्यां न बाध्येत कदाचन ॥५२॥
स्वल्पाप्यारब्धभोगेच्छा वर्त्तते विदुषो यदि ।

तबतक ज्ञान नित्यकर्मों की अत्यन्त ही अपेक्षा करता है ॥ ४८ ॥ इसकारण आत्मज्ञानसम्पन्न पुरुष नित्यकर्मों को छोड़कर और कोई भी कर्म न करे; इस अविरोधी वेदान्तवाणी को तुम समझ लो ॥ ४९ ॥ इन्द्रियाँ स्वाभाविकरूप से विषयों में भटकती रहती हैं, उनका अपने आश्रमोचित कर्मों द्वारा लालन करते रहना ही परम कल्याणकारी है ॥ ५० ॥ ज्ञान के द्वारा यदि कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म क्रमशः छूट जाय, तो आत्मज्ञानी के लिये वह भूषण है ॥ ५१ ॥ तत्त्वज्ञानियों में श्रेष्ठ जिस पुरुष की अरूपभाव से चित्त प्राण और इन्द्रियाँ नष्ट हो गई हैं, उसे ये विधिनिषेध कभी बाधा नहीं करते ॥ ५२ ॥ हे बुद्धिमान्! आत्मज्ञानी को यदि थोड़ी भी प्रारब्धकर्मों के

अवश्यं स्वाश्रमाचार इति विद्धि विचक्षण ॥५३॥
अवधार्य मदुक्तार्थान् मनस्येवं पुनश्च माम् ।
प्रष्टव्यान् परिपृच्छ त्वं मा शङ्किष्ठाः कपीश्वर ॥५४॥

इति तत्त्वसारायण उपासनकाण्डस्य द्वितीयपादे सर्ववेद-रहस्यार्थासु श्रीरामगीतासूपनिषत्सु कर्मविभागयोग निरूपणं नाम दशमोऽध्यायः ॥

भोगने की इच्छा हो, तो उसके लिये अपने आश्रमानुकूल आचार आवश्यक हैं * सो जानो ॥ ५३ ॥ इसप्रकार मेरे कहेहुए अर्थों को मन में भलीभाँति दृढ़करके फिर तुम्हें जो कुछ पूछना हो सो हे कपीश्वर ! निःशङ्कहोकर तुम मुझसे पूछो ॥ ५४ ॥

इस प्रकार तत्त्वसारायण के अन्तर्गत उपासनाकाण्ड के द्वितीय पाद में कथित समस्त वेदों के अर्थों को प्रकाश करनेवाली श्रीरामगीताउपनिषद्का कर्मविभागयोगनिरूपण नामक दशम अध्याय समाप्त हुआ ॥

---

* कर्म की ओर दृष्टि के विना कर्म का भोग असम्भव है अतः जिन ईशकोटिके जीवन्मुक्त पुरुषों में जगत्कल्याणबुद्धि उपस्थित है उनमें कर्मपर दृष्टि भी अवश्य बनी रहेगी। जब कर्मपर दृष्टि बनी रहेगी तो ज्ञानी अवश्यही सम्बद्ध कर्म करेगा, असम्बद्ध कर्म उससे नहीं होसकता। सुतरां वर्णाश्रमधर्मोचित कर्म अथवा अन्यान्य शुभ कर्म की ओरही उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति रहेगी।

गुणत्रयविभागयोगनिरूपणम्।

हनूमानुवाच

गुरूणां च गुरो श्रीमन् रामचन्द्र दयानिधे।
किं वच्ये भक्तवात्सल्यं तव वाचामगोचरम् ॥१॥
यन्मामपारसंसारसागरे मग्नमीदृशम्।
उत्तारयितुमत्यन्तं बद्धश्रद्धोऽसि सादरम् ॥ २ ॥
सत्त्वं रजस्तमश्चेति प्रसिद्धं हि गुणत्रयम्।
कर्मिणस्सन्ति भक्ताश्च ज्ञानिनो योगिनस्तथा॥३॥
तेषां चतुर्णां सत्त्वादिगुणैर्भेदेन संस्थितिम्।
फलञ्च विस्तरेणैव मम ब्रूहि रघूत्तम॥ ४ ॥

श्रीराम उवाच।

सात्त्विकाः कर्मिणो लोके श्रुतिस्मृत्युक्तकर्मभिः।

हनूमान्जी बोलेः--हे गुरुओं के भी गुरु! हे दयानिधि श्रीमान् राजचन्द्रजी! वाणी से भी अगोचर आपका भक्तवात्सल्य मैं क्या कहूँ? क्योंकि आप, अपार संसारसागर में डूबे हुए मुझे इस प्रकार उबारने के लिये आदर के साथ अत्यन्त सचेष्ट हो रहे हैं ॥ १-२ ॥ सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण प्रसिद्ध ही हैं। कर्मी, भक्त, ज्ञानी तथा योगी ये चार प्रकार के मुमुक्षु होते हैं ॥ ३ ॥ इन चारों की सत्त्वादि गुणों के कारण पृथक्रूप से जो स्थिति और फल होता है, सो रघुश्रेष्ठ! आप मुझे विस्तार के साथ कहिये ॥ ४ ॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा:--संसार में सात्त्विक कर्मी असङ्ग (सङ्गरहित) होतेहुए श्रुति स्मृति कथित

नित्यैरसङ्गा मां विष्णुं प्रीणयन्ति जनार्द्दनम् ॥५॥
ते क्रमेणैव संशुद्धचित्ता वेदान्तवर्त्मना ।
मामेष्यन्ति चिदानन्दं परमात्मानमव्ययम् ॥६॥
अन्ये तु राजसाः स्वर्गकामाश्श्रौतानि कर्मिणः ।
इन्द्रादिदेवताप्रीत्यै यज्ञादीन्याचरन्ति वै ॥ ७ ॥
ते भुक्त्वा भोगमतुलं स्वर्गलोके सुरैस्सह ।
क्षीणे पुण्य इमं लोकमावर्त्तन्ते पुनर्ध्रुवम् ॥ ८ ॥
ये चान्ये तामसाः काम्यकर्मैकनिरता भृशम् ।
कुटुम्बपोषणे सक्ताः वित्तैः कर्मार्जितैस्सदा ॥९॥
ते यान्ति नरकं घोरं चित्रगुप्तादिरक्षितम् ।

नित्यकर्मों द्वारा मुझ जनार्दन विष्णु को प्रसन्न करते हैं ॥ ५ ॥ और वे ही क्रमशः विशुद्धचित्त होते हुए वेदान्तमार्ग से मुझ चिदानन्दस्वरुप अव्यय (जिसका नाश नहीं) परमात्मा में आ मिलते हैं ॥ ६ ॥ स्वर्ग की इच्छा करनेवाले अन्य राजसिक कर्मी इन्द्रादि देवताओं की प्रसन्नता के हेतु श्रुत्युक्त यज्ञादि करते हैं ॥ ७ ॥ वे स्वर्गलोक में देवताओं के साथ अतुल (जिसकी तुलना नहीं) भोग को भोगकर पुण्यक्षय होनेपर इसी लोक में निश्चय ही पुनः लौट आते हैं ॥ ८ । और जो अन्य तामसिक कर्मी निरन्तर केवल काम्यकर्मों में ही लगे रहते हैं और कर्मों से कमाये हुए धन द्वारा कुटुम्ब पालन में सदा व्यस्त रहते हैं ॥ ९ ॥ वे चित्रगुप्त आदि से रक्षित घोर नरक में जाते हैं और पश्चात्

ततः प्रत्यवरोहन्ति श्वादियोनिमधोमुखाः ॥१०॥
ये चान्ये सात्त्विका भक्ताः शङ्खचक्रगदाधरम् ।
ध्यानादिभिर्भजन्ते मां निष्कामाश्श्रुतिघोषितैः॥११
मल्लोकं पार्षदैर्नीता मत्तो लब्धात्मवेदनाः ।
मया सहैव ते यान्ति मम तत्परमं पदम् ॥१२॥
येऽन्ये च राजसा भक्ता बहुशिष्यसमन्विताः ।
भजन्ते मां हरिं बाह्यैः प्रतीकेष्वर्चनादिभिः॥१३॥
मत्सालोक्यं च ते गत्वा भोगान् ब्रह्मादिदुर्लभान् ।
भुक्त्वा पुनश्च जायन्ते विशुद्धब्राह्मणान्वये ॥१४॥

अधोमुख होकर श्वान आदि की योनि में पहुंचते हैं * ॥ १० ॥ अन्य जो सात्त्विक भक्त हैं, वे निष्काम होकर शङ्ख चक्र गदाधारी मुझको, वेदों में कथित ध्यान आदि से भजते हैं ॥ ११ ॥ वे पार्षदों द्वारा मेरे लोक में पहुँचकर और मुझसे आत्मसाक्षात्कार प्राप्तकर मेरे साथ ही मेरे उस परमपद को प्राप्त करते हैं ॥ १२ ॥ अन्य जो राजसिक भक्त हैं वे बहुत से शिष्यों को साथ लेकर, प्रतिमाओं में बाह्मपूजादि द्वारा मुझ हरि को भजते हैं ॥ १३ ॥ वे मेरे सालोक्य (वैकुण्ठ) को प्राप्त करके ब्रह्मा आदि देवताओं के लिये भी दुर्लभ भोगों को भोगकर पुनः विशुद्ध ब्राह्मणकुल में उत्पन्न होते हैं ॥ १४ ॥ अन्य जो भक्तवेषधारी तामसिक भक्त

* केवल परमात्मा की प्रसन्नतार्थ कर्त्तव्यबुद्धि से कर्म में रत कर्मी सात्त्विक कहाता है । ब्रह्मोपासक और सगुण पञ्चोपासक ज्ञानी भक्त ही प्रथम श्रेणी के कर्मी कहाते हैं । आप देवता और पितरों के उपासक सकाम कर्म में निरत आर्त्त जिज्ञासु अर्थार्थी उपासकगण द्वितीय श्रेणी के कर्मी बनते हैं । वे भी कर्मी है परन्तु इहलोक और परलोक दोनों का अभ्युदय चाहनेवाले होते हैं । परन्तु तीसरी श्रेणी के घोर सकामकर्मी वे कहाते हैं जिनको अपने परलोक के अभ्युदय पर ध्यान न रहे और केवल इस लोक के अभ्युदय के लिये ही सकाम कर्म्म में रत रहें ।

ये चान्ये तामसा भक्ताः भक्तवेषैस्समन्विताः ।
श्रौताचारविहीनाश्च वित्ताद्यर्थं भजन्ति माम्॥१५॥
ते चात्र पामरैस्तुल्या गत्वैव नरकं पुनः ।
श्वादिजन्म प्रपद्यन्ते ह्यन्तःप्रच्छन्नपापतः ॥१६॥
ज्ञानिनस्सात्त्विका ये स्युर्वैराग्यादिविभूषिताः ।
ब्रह्मैक्यमनने निष्ठास्स्वाश्रमाचारभासुराः ॥१७॥
यतयो गृहिणो वान्ये ते मल्लोकं सुदुर्लभम् ।
प्राप्य चान्ते मया साकं यान्ति तन्मत्पदं परम् ॥१८।

हैं और जो वेदकथित आचारों से विमुख होकर धनादि के लिये मुझे भजते हैं ॥ १५ ॥ वे इस लोक में नीच हैं और नरक में जाकर ही--उनके हृदय में पाप छिपे हुए होने के कारण-वे पुनः श्वान आदि की योनियों को प्राप्त करते हैं* ॥ १६ ॥ जो सात्त्विक ज्ञानी हैं, वैराग्य आदि से विभूषित हैं, जीव ब्रह्म की एकता के विचार में मग्न हैं, अपने आश्रमसम्बन्धी आचारों से तेजस्वी हैं ॥ १७ ॥ चाहे वे संन्यासी हों, गृहस्थ हों या और कोई हों, वे अत्यन्त दुर्लभ मेरे लोक में पहुंच कर अन्त में मेरे साथ मेरे उस परमपद को प्राप्त करते है । ॥ १८ ॥ अन्य जो राजसिक ज्ञानी हैं,

* इसी प्रकार भक्त भी तीन श्रेणीके कहे गये हैं। निष्काम ज्ञानी भक्त अन्तर्याग-परायण साधक सात्त्विक कहाता है। आर्त्त जिज्ञासु अर्थार्थी सकाम भक्त बहिर्याग-परायण उपासक अनन्यभक्ति द्वारा सालोक्य सारूप्य आदि गतिको ,प्राप्त करके पुनः ज्ञानवान् ब्राह्मणदेव को प्राप्त करता है। यही द्वितीय श्रेणी के राजसिक पुण्यात्मा भक्त है। और केवल ऐहलौकिक सुख की इच्छा करनेवाले भगवत्स्वरूपज्ञानहीन अज्ञ उपासक तृतीय श्रेणी के है।

ज्ञानिनो राजसा येऽन्ये संसारासक्तचेतसः ।
शिष्यैः परिवृताश्श्रौतान्स्मरन्त्यर्थान् कदाचन॥१९॥
तेऽपि भुक्त्वा महाभोगान् मल्लोके पुनरत्र च ।
जातास्सद्यो विमुच्यते पूर्ववासनयान्विताः ॥२०॥
ज्ञानिनस्तामसा येऽन्ये विषयासक्तमानसाः ।
शूद्रादीनां च वेदार्थं कथयन्त्यर्थलब्धये ॥२१॥
ते च भुक्त्वा महाघोरं रौरवं नरकं ततः ।
श्वादिजन्म प्रपद्यन्ते वेदसन्दूषणाद्भृशम् ॥२२॥
योगिनस्सात्त्विका ये स्युः निदिध्यासनतत्पराः ।

जिनका कि चित्त संसार में लगा हुआ है और जो शिष्यों के साथ वेदार्थों का कभी कभी चिन्तन किया करते हैं ॥ १९ ॥ वे भी मेरे लोक में श्रेष्ठ भोगों को भोगकर, पुनः इस लोक में जन्म ग्रहण करते हैं और पूर्व शुभ वासनाओं से युक्त होने के कारण शीघ्रही मुक्त होजाते हैं ॥ २० ॥ अन्य जो तामस ज्ञानी हैं, जिनका कि चित्त विषयों में आसक्त है और जो धनप्राप्ति के लिये शूद्र आदि को वेदार्थ कहते हैं ॥ २१ ॥ वे महाघोर रौरव नरक को भोगने के पश्चात् वेदों को अत्यन्त कलङ्कित करने के कारण श्वान आदि की योनियों को प्राप्त करते हैं* ॥ २२ ॥ जो सात्त्विक योगी होते हैं वे इच्छारहित होकर (ब्रह्म के) निदिध्यासन में ही

* तत्त्ववेत्ता आत्मज्ञानी प्रथम श्रेणी के ज्ञानी कहाते हैं। परोक्षज्ञानी श्रद्धालु व्यक्ति द्वितीय श्रेणी के ज्ञानी कहाते हैं और अन्तःश्रद्धाविहीन केवल शास्त्रसम्बन्ध से पाण्डित्याभिमानी व्यक्ति तीसरी श्रेणी का ज्ञानी हैं। यही ग्रन्थकारका लक्ष्य है।

अपरोक्षात्मलाभेन प्रसन्ना विगतस्पृहाः ॥२३॥
प्रारब्धदेहपाते ते विनोत्क्रान्त्यादिकं मम ।
सर्ववेदान्तसंसिद्धं यान्ति तत्परमं पदम् ॥२४॥
योगिनो राजसा येऽन्ये सदसि ध्याननिष्ठया ।
मनोनाशादिहीनाश्च ध्येयव्याकुलमानसाः ॥२५॥
अनुभूयोत्कटं दुःखमिह प्रारब्धजं च ते ।
देहादमुष्मादुत्क्रम्य यान्ति मे परमं पदम् ॥२६॥
योगिनस्तामसा येऽन्ये ब्रह्मध्यानेष्वनादराः ।
अभानावरणाक्रान्ता अणिमादिरताशयाः ॥२७॥
दुराचाराप्रशक्तेस्ते मल्लोके परमं सुखम् ।

तत्पर रहकर अपरोक्षज्ञानलाभ से प्रसन्न होते हैं ॥ २३ ॥ वे प्रारब्ध जनित देह का अन्त होने पर उत्क्रान्ति आदि के विना ही समस्त वेदान्तों से सिद्ध मेरे उस परम पद को प्राप्त करते हैं ॥ २४ ॥ अन्य जो राजसिक योगी हैं, सभा में अर्थात् सब लोगों के सामने मनोनाशादि से विहीन होने पर भी ध्याननिष्ठा से जिसका चित्त ध्येयप्राप्ति के लिये व्याकुल है ॥ २५ ॥ वे इस लोक में प्रारब्ध जन्य उत्कट दुःख का अनुभव कर, इस देह का त्याग करने के उपरान्त मेरे परम पद को प्राप्त करते हैं ॥ २६ ॥ अन्य जो तामसिक योगी हैं, ब्रह्मध्यान में जिनका कि आदर नहीं, अणिमादि सिद्धियों में ही लगे रहने की जिनकी इच्छा है और अभान (अज्ञान) के आवरण से जो आक्रान्त हैं ॥ २७ ॥ दुराचारों में आसक्त न होने के कारण वे मेरे लोक में श्रेष्ठ सुख का अनुभव कर फिर भूलोक में आते हैं और पुनः एक जन्म के पश्चात् मुझ

अनुभूय ततो भूमौ मां यान्त्येकेन जन्मना ॥२८॥
कार्यकारणभेदेन विकृताविकृतात्मना ।
विज्ञेयाष्षड्विधाः प्राज्ञैस्त्रयस्सत्त्वादयो गुणाः॥२९
एतेषु कार्यत्रिगुणसम्पन्ना योगिनस्त्रयः ।
कारणत्रिगुणोपेता जीवन्मुक्तास्त्रयः क्रमात् ॥३०॥
ये चोक्ताः कर्मिणो भक्ता ज्ञानिनो नव मारुते ।
त्रिवृत्कृतगुणोपेतास्ते विज्ञेया विलक्षणाः ॥३१॥
यथा त्रिवृत्कृता विश्वतैजसप्राज्ञसंज्ञिकाः ।
जीवा नवविधाः प्रोक्ता अविद्याकार्यरूपिणः॥३२॥

को प्राप्त करते हैं * ॥ २८ ॥ 'विकृत' और 'अविकृत' रूप कार्य-कारणभेदानुसार सत्त्वादि तीन गुण द्विविध होने के कारण विद्वानों को उक्त गुण छः प्रकार के समझने चाहिये ॥ २९ ॥ इन में से कार्यरूप त्रिगुणों से युक्त तीन प्रकार के योगी होते हैं और कारणरूप त्रिगुणों से युक्त क्रमशः तीन प्रकार के जीवन्मुक्त होते हैं † ॥३०॥ हे मारुते ! जो कर्मी, भक्त और ज्ञानी नौ प्रकार के कहे गये हैं, उनको तीन तीन गुणों से युक्त और विशेष लक्षणों से युक्त जानो ॥ ३१ ॥ जैसे कि विश्व, तैजस और प्राज्ञ नामक तीन तीन गुणित अविद्या के कार्यस्वरूव जीव नव प्रकार के कहेगये हैं ॥ ३२ ॥

* राजयोगी सात्त्विक है, मन्त्रयोगी, हठयोगी और लययोगी राजसिक श्रेणी के माने गये हैं और केवल सिद्धि की इच्छा से योगसाधन करनेवाला व्यक्ति तामसिक योगी है यही ग्रन्थकार का तात्पर्य्य है ।

† इन छः भेदों में से तीन क्रियायोगप्रधान हैं और तीन ज्ञानयोगप्रधान हैं ऐसा समझने से समन्वय होगा ।

यथा च ब्रह्मविष्ण्वीशाः प्रसिद्धास्ते त्रिवृत्कृताः ।
ईशा नवविधाः प्रोक्ता मायाकार्यैकरूपिणः ॥३३॥
तथा गुणैः सत्त्वरजस्तमोभिस्त्रैस्त्रिवृत्कृतैः ।
स्वकार्यरूपैस्संयुक्ताः कर्म्याद्याश्च नवेरिताः॥३४॥
अजामन्त्रोदिता शक्तिश्चिन्मयी प्रकृतिस्तथा ।
त्रिपात्तत्त्वामृतञ्चोक्तमत्र बीजगुणत्रयम् ॥३५॥
कैश्चिद्गुणत्रयस्यास्य मायाकार्यत्वमुच्यते ।
अविद्याकार्यता चैतत्तद्बीजत्वादसङ्गतम् ॥३६॥
कार्यकारणरूपेभ्यः षड्विधेभ्य इहेतरे ।

जैसे कि प्रसिद्ध जो ब्रह्मा, विष्णु, महेश हैं उनके त्रिगुणित होने से ईश नवविध कहे गये हैं जो माया, के कार्यस्वरूप हैं ॥ ३३ ॥ वैसेही सत्त्व रज और तम इन तीन गुणों से त्रिगुणित स्वकार्य-रूपों से युक्त कर्मी आदि भी नव प्रकार के कहे गये हैं ॥ ३३ ॥ संसार में अजामन्त्र (अजामेकामित्यादि) में कथित जो शक्ति, चिन्मयी और प्रकृति है, वही तीन कारणगुणरूपा त्रिपात्तत्त्वामृत कही गई है ॥ ३५ ॥ कोई कहते हैं कि ये तीनों गुण माया के कार्यस्वरूप हैं और कोई कहते हैं कि ये अविद्या के कार्यस्वरूप हैं परन्तु यह मत असङ्गत है; क्योंकि उक्त गुण मायाकार्य और अविद्याकार्य के बीज (कारण) स्वरूप हैं * ॥ ३६ ॥ कार्य-कारणरूप छः प्रकार के गुणों के अतिरिक्त जो तीन तीन प्रकार

* इस विज्ञान का समन्वय यही है कि ब्रह्मप्रकृति त्रिगुणमयी है, सांम्यावस्था ही उनका यथार्थ स्वरूप है; परन्तु कार्यदशा में वही ब्रह्मप्रकृति विद्या और अविद्या नाम को प्राप्त होती है। बुद्धि में स्थित सत्त्वगुणमयी विद्या कहाती है और मन में स्थित तमोगुणमयी अविद्या कहाती है।

त्रिवृत्कृता गुणाः प्रोक्तास्ते हेयास्तु मुमुक्षुभिः ॥३७॥
गुणसामान्यबुध्यात्रालब्धकार्यगुणा अपि ।
उदासते बीजगुणानपि ते ज्ञानवञ्चकाः ॥ ३८ ॥
सच्चिदानन्दरूपांस्तान्मद्‌गुणांस्त्रींश्च मारुते ।
ब्रह्माऽमरेशप्रमुखा अपि नित्यमुपासते ॥३९॥
तस्मात्त्वमादरेणैव मद्वाक्येषु कपीश्वर ।
उपास्स्व जीवन्मुक्त्यर्थं कारणं मद्‌गुणत्रयम् ॥४०॥
गुणा इमेऽस्मिन् गुणशब्दभाजोऽ-
प्यन्यत्र सत्येऽगुणशब्दभाजः ।
अन्यत्त्वितो निष्प्रतियोगिकन्तद्-
गुणाऽगुणाख्यापददूरमासीत् ॥ ४१ ॥

के और भी गुण यहां कहे गये हैं, वे तो मुमुक्षुओं के लिए त्याज्य हैं ॥ ३७ ॥ कार्यगुण और कारणगुण दोनों समान ही हैं ऐसी साधारण बुद्धि रखकर कार्यगुणों को प्राप्त न करके भी जो कारण-गुणों से उदासीन हो गये हैं, वे ज्ञानवञ्चक हैं ॥ ३८ ॥ हे हनूमान्! सच्चिदानन्दरूप मेरे उन तीन कारणगुणों की ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवतागण भी निरन्तर उपासना करते हैं ॥ ३९ ॥ इसलिये हे कपीश्वर! तुम मेरे वाक्यों में आदर रखकर ही जीवन्मुक्ति के अर्थ कारणस्वरूप मेरे तीनों गुणों की उपासना करो ॥ ४० ॥ इस संसार में ये तीनों गुण गुणशब्दवाच्य होने पर भी अन्यत्र कारणरूप में गुणशब्दवाच्य नहीं हैं। इन दोनों से अतिरिक्त ये गुणत्रय निष्प्रतियोगि अवस्था में अर्थात् निर्द्वन्द्व अवथा में गुण

तस्माद्गुणैरेव गुणान्विहाय
सुमेरुवत्सुस्थिरबोधनिष्ठः ।
उपाश्रय त्वं त्रिगुणान् क्रमेण
समाधिभिर्मे भृशदग्धलङ्क ॥ ४२ ॥

इति तत्त्वसारायण उपासनाकाण्डस्य द्वितीयपादे सर्ववेद-रहस्यार्थासु श्रीरामगीता सूपनिषत्सु गुणत्रयविभाग-योगनिरूपणं नामैकादशोऽध्यायः ॥

और अगुण नामक अवस्था से दूर हो जाते हैं ॥ ४१ ॥ इस कारण कारणगुणों से ही कार्यगुणों को छोड़कर, हे लङ्का के पूर्णतया जलानेवाले ! मेरु के समान सुस्थिर ज्ञाननिष्ठ होकर तुम समाधियों के द्वारा मेरे सच्चिदानन्दरूप त्रिगुणों का क्रमशः आश्रय करो* ॥ ४२ ॥

इस प्रकार तत्त्वसारायण के अन्तर्गत उपासनाकाण्ड के द्वितीय पाद में कथित समस्त वेदों के अर्थों को प्रकाश करनेवाली श्रीरामगीताउपनिषद् का गुणत्रय-विभागयोगनिरूपण नामक एकादश अध्याय समाप्त हुआ ॥

* यहां जो दो श्रेणी के गुण कहे गये हैं वास्तव में वे दोनों सकल शास्त्रोंमें गुण नहीं कहाते हैं। एक तो प्रकृति के सत्त्व रज और तमरूपी त्रिगुण हैं और दूसरे आत्मा के सत् चित् और आनन्दरूपी त्रिभाव हैं। "गुणैः सृष्टिस्थित्यन्ताभावैस्तद-नुभव इति महर्षिअङ्गिराः"।

विश्वरूपनिरूपणम् ।

हनूमानुवाच ।

रामचन्द्र ! दयासिन्धो ! विश्वरूपं तवाऽद्भुतम् ।
श्रोतुमिच्छामि दासोऽहं जानकीप्राणवल्लभ! ॥१॥

श्रीराम उवाच ।

हनूमञ्छृणु वक्ष्यामि विश्वरूपं ममाद्भुतम् ।
दर्शयिष्यामि भीमाय यवमेव कपीश्वर ! ॥२॥

वाचामगोचरमथापि च मत्स्वरूपं,
प्रेम्णा वशीकृतमतिस्त्वयि तत्प्रवक्ष्ये ।
मायाविलासपरिकल्पितचित्रगात्रं,
श्रोतव्यमेव भवता नतु गच्छ भीतिम् ॥३॥

हनूमान्जी बोले:-हे रामचन्द्र! हे दयासिन्धो! आपका अद्भुत विश्वरूप मैं सुनना चाहता हूँ, हे जानकीनाथ! मैं आपका दास हूँ ॥ १ ॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा :-हे हनूमान्! सुनो। मैं अपना अद्भुत विश्वरूप तुमसे कहूँगा और हे कपीश्वर! तुम भीमस्वरूप को वह दिखाऊंगा जो रूप तुम ही हो ॥ २ ॥ प्रेमके द्वारा तुमने मेरा चित्त वशीभूत कर लिया है; अतः वाणी से अगोचर है तौभी वह अपना रूप तुमसे कहूँगा जिस के माया के विलास से विचित्र अङ्ग कल्पित हैं वह सुनने योग्य ही है, भय न करो ॥ ३ ॥ हनूमान्जी बोले :—हे स्वामिन्! एक तो आपका

हनूमानुवाच ।

स्वामिन् ! सकृच्छ्रवणमात्रसमस्तभीति-
ध्वंसप्रवीणबहुमङ्गलदिव्यगात्रे ।
ते सर्व्वदाप्यभयवादिमुखारविन्दा-
दद्य श्रुते मम कथं भयमुद्भवेद्वा ॥ ४ ॥

श्रीराम उवाच ।

मैवं कपे ! वद विधीन्द्रमुखास्सुरास्ते,
शृण्वन्त एव भयमाप्नुयुरप्यहो यत् ।
स्मृत्वा ममापि पुलकातत एष देहः,
सम्प्रत्यवाप्स्यति भवानपि तेन मूर्च्छाम् ॥५॥

अनेक मङ्गलमय दिव्य शरीर है जिसका वर्णन केवल एकवार सुनना ही समस्त भयों का नाश करने में समर्थ है, द्वितीयतः आपके मुखकमल से निरन्तर अभय वचन ही निःसृत होते हैं, फिर आपके मुखसे उस विश्वरूप * को सुनकर आज मैं भयभीत क्योंकर होऊँगा ? ॥ श्रीरामचन्द्रजी बोले :—हे कपे ! ऐसा न कहो, जब कि ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवतागण भी अहो (मेरे उस रूप के वर्णन को) सुनते ही डरगये, जब कि उसका स्मरण करने से मेरे इस देह में भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं, तब तुम भी इस समय उसे सुनकर मूर्च्छित हो जाओगे ॥ ५ ॥ जिसके

---

* मन वचन और बुद्धि से अतीत परमेश्वर के स्वरूप को शास्त्रों में तीन भाव से वर्णन किया है । सृष्टि से अतीत माया से परे अद्वितीय स्वस्वरूप का नाम ब्रह्म जब अपनी प्रकृतिको देखते हैं वही सगुरूण ईश्वर कहाता है और अनन्त ग्रह उपग्रहों से पूर्ण स्थूल प्रपञ्चमय अनन्तरूपधारी जो स्थूलरूप है वही विराट् कहाता है और विष्णुगीता, भगवद्गीता शक्तिगीता धीशगीता सूर्य्यगीता आदि सब में इस विराट्रूप का स्वतन्त्र वर्णन है । शम्भुगीता में इसी को शिवलिङ्ग करके वर्णन किया है । इस विराट् रूप का ध्यान करने से मन स्तम्भित और बुद्धि थकित होजाती है ।

सत्सर्वतो विपुलदुर्ग्रहपाणिपादं,
यत्सर्वतोऽक्षिमुखनासिकमस्तकञ्च।
यत्सर्वतः श्रवणकण्ठभुजोरुनाभि-
जानूरु तद्बृहदखण्डवपुः स्मर त्वम् ॥ ६ ॥
तन्नासिकाबिलमवाप्य चतुर्दशैता-
न्युच्छ्वासतो मशकवद्भुवनानि तस्मात्।
निश्वासतश्च विरलानि पुनः पुनर्वै,
निर्यान्ति मर्कट ! बहिः क्वचिदेव देहे ॥७॥
ब्रह्माण्डकोटय इतस्तत एव केशे,
व्याप्ते क्वचिन्मम तु संशयिताऽस्ति भावः।
लग्ना भवन्ति परमाणुसमानरूपाः,
शाखोपशाखिवटशाखिनि बीजवत्ताः ॥ ८ ॥

विशाल हाथ पैर सर्वत्र व्याप्त हैं, जिन्हें कोई स्पर्श नहीं कर सकता, जिसकी आँखें, मुख, नासिकाएँ, मस्तक सर्वत्र व्याप्त हैं जिसके कर्ण, कण्ठ, भुजाएँ, ऊरु, गभीर नाभि जानु सर्वत्र व्याप्त हैं, उस महान् और अखण्ड शरीर का तुम स्मरण करो ॥ ६ ॥ हे मर्कट ! उस देह के नासिकाबिलमें ये चौदहों भुवन उच्छ्वास के साथ मशकके समान भीतर जाकर और उससे निःश्वासके साथ पुनः पुनः वे विरल (अलग अलग) होकर देहमें कहीं बाहर निकल आते हैं ॥ ७ ॥ मेरे व्याप्त केशों में इधर उधर करोड़ों ब्रह्माण्ड हैं इसी से भास होता है कि मानो ! शाखा उपशाखाओं से युक्त वटवृक्ष में वटबीज के समान परमाणुस्वरूप वे ब्रह्माण्डसमूह चिपके हुए हैं ॥ ८ ॥ उस विराट्रूप के कुछ मुख तो अत्यन्त

स्थूलानि यत्तद्वदनानि कानिचि-
द्दीर्घाणि ह्रस्वाणुतराणि कानिचित्।
पादादयश्चैवमतः प्रसादितै-
स्तद्दर्शनीयं भुवि धीरमानसैः॥ ९॥
यस्यैव गण्डूषपयांसि सागरा-
स्ससाऽपि नासामलवत्सरिद्वराः।
मेर्वादयः कर्णमलानि पर्वताः,
शक्तः पुमान् कोस्त्यभयं तदीक्षणे॥१०॥
खद्योतवद्यत्र भवन्ति भास्करा-
माध्यन्दिना अप्यतिदुर्विभावनाः।

बिशाल तथा स्थूल और कुछ मुख अणु तथा सूक्ष्म हैं, इसी प्रकार चरण आदि भी हैं, अतः वह रूप पृथ्वी पर उन्हीं पुरुषों के द्वारा देखने योग्य है जिनपर ईश्वर की कृपा है और जो दृढचेता हैं * ॥ ९॥ सातों समुद्र ही जिसके कुल्लेके जलके समान हैं, श्रेष्ठ नदियाँ जिसकी नासिका के मलके समान हैं, मेरु आदि पर्वत जिसके कान के मलके समान हैं, उस रूपको निडर होकर कौन पुरुष देखने में समर्थ हो सकता है?॥ १०॥ जहां अत्यन्त प्रखर मध्यान्ह के सूर्य भगवान् भी जुगनू के समान

* एक सूर्य के अधीन जो सैकड़ों ग्रह उपग्रह रहकर एक समष्टि आकार धारण करते हैं उसी एक लोकसमष्टि का नाम एक ब्रह्माण्ड है। प्रत्येक ब्रह्माण्ड में एक एक ब्रह्मा बिष्णु महेश रहकर सृष्टि स्थिति लय-कार्य्य करते हैं, ऐसे ब्रह्माण्ड दशों दिशाओं में अनन्त हैं। इस विराट् रूप में भगवान् के दर्शन करते हुए किसका मन मूर्च्छित और बुद्धि स्तम्भित नहीं होजाती है।

घोराट्टहासत्त्रुटिताण्डभित्तिकं,
वक्ष्ये कथं तन्मम रूपवैभवम् ॥ ११ ॥
दंष्ट्राकरालाननपुञ्जदर्शना-
द्भीतैः कृतान्तैर्बहुभिः पलायितम् ।
गन्तव्यदेशान्तरलेशहानितो,
यत्रैव संमूर्च्छितमद्भुते स्वयम् ॥ १२ ॥
इन्द्राश्च यद्भग्नसहस्रलोचनाः,
पतन्ति यत्रैव रुदन्ति चाधिकम् ।

प्रतीत होते हैं और जिसके घोर अट्टहास से ब्रह्माण्ड की दीवालें टूट जाती हैं, उस मेरे रूपका वैभव मैं क्या कहूँ ! ॥ ११ ॥ दंष्ट्राओं (दाढ़ों) से विकराल बने हुए अनेक मुखों के दर्शन से डर-कर अनेक यमराज * भागे, परन्तु भाग जाने योग्य अन्य देशका कोई भी अंश बच नहीं रहा था; अतः इसी अद्भुत विराट्रूप में वे स्वयं मूर्छित होगये ॥ १२ ॥ जिस रूप के देखने से फूटी हुई सहस्र आँखोंवाले अनेक इन्द्र † अधिक रोते-

* प्रत्येक लोकसमष्टिरूप ब्रह्माण्डका केन्द्र सूर्य्यमण्डल होता है। प्रत्येक ब्रह्माण्ड के चौदह अंश होते है वही सप्त स्वर्ग और सप्त पाताल कहाते हैं। उन्हीं सप्त स्वर्गों में से भूलोक एक ब्रह्माण्ड का एक चौदहवां हिस्सा है । पुनः भूलोक चार हिस्सों में विभक्त है, उन्हीं चारों का नाम यह है यथा-पितृलोक मृत्युलोक प्रेतलोक और नरकलोक । हमारे भूलोक का स्वर्गलोक पितृलोक है, हमारी यह वासभूमि मृत्यु-लोक कहाती है । प्रेतलोक और नरकलोक के राजा यमराज हैं । ये दोनों लोक कारागृह अर्थात् जेलखाने सदृश हैं ।

† सप्त पाताल में असुर बसते हैं और सप्त स्वर्गमें देवता बसते हैं । असुरों की राजधानी सातवें लोकमें है और वहीं असुरों के राजा रहते हैं । देवताओं की राज-धानी तीसरा स्वर्ग जो स्वर्लोक कहाता है उसमें हैं देवताओं के राजा का नाम इन्द्र एक पद का अधिकारी यदि स्वधर्म्मनिरत हो तो आगे बढ़ जाता है, नहीं तो उसका पतन होता है ।

स्वेषां विनिन्दन्ति च निर्निमेषतां,
भवन्त्यचेष्टा बत मुग्धचेतसः ॥ १३ ॥
यन्नाभिपद्मेषु वृहत्तमा अपि,
स्थिरा रजोवद्बहवश्चतुर्मुखाः ।
चण्डाट्टहासत्रुटिता लुठन्त्यहो,
मृगाः पवेः पर्वतकन्दरेष्विव ॥ १४ ॥
संवर्तकालोद्भटपावका भृशं,
दग्धा अरूपं गमिता यतोऽचिरात् ।
अमध्यमाद्यन्तविहीनमद्भुतं,
विचिन्तय त्वं पवनात्मज ! स्वतः ॥ १५ ॥

हुए वहीं गिरते हैं और अपनी निर्निमेषता की निन्दा करते हुए खेद है कि किंकर्तव्यविमूढ़ हो मूर्च्छित हो जाते हैं ॥ १३ ॥ जिस रूप के नाभिकमलों में विशालतर आकारवाले अनेक ब्रह्मा * कमलरेणु के समान चिपके हुए हैं वे उस विराट् रूप के प्रचण्ड अट्टहास से अपने स्थान से हटकर ऐसे लुढ़कते हैं जैसे पर्वतपर वज्राघात होने से उसपर सञ्चार करने वाले पशुगण कन्दराओं में अर्थात् गुफाओं में लुढ़कते हैं ॥ १४ ॥ जिस रूपमें प्रलयकाल के प्रचण्ड अग्नि जलकर क्षणमात्र में सम्पूर्ण रूप से बुझ जायँगे, हे पवननन्दन ! उस आदि, मध्य, अन्त-हीन अद्भुतरूप का तुम स्वयं स्मरण करो ॥ १५ ॥ वह रूप

* प्रत्येक ब्रह्माण्डमें ईश्वर के प्रतिनिधिरूप से एक ब्रह्मा, एक विष्णु और एक महेश अर्थात् एक रुद्र होते हैं, ब्रह्माण्ड अनन्त हैं इस कारण इन त्रिमूर्त्तियों की भी संख्या अनन्त है; अतः ऐसा कहागया है ।

हेमाद्रिवद्भाति कदाचन स्वयं,
मैनाकवद्यच्च कदाचन स्फुटम् ।
हेमाद्रिवद्वर्णवरैः कदाचन,
स्वैरं विचित्रैर्निपुणं विभावय ॥ १६ ॥
रेखेव शेषोऽपि यदङ्घ्रिपङ्कजे,
यत्केशगं व्योम मणिर्यथाऽसितः ।
विभाति तत्कुण्डलितार्कचन्द्रकं,
स्वान्तर्बहिर्व्यासमखण्डदैहिकम् ॥ १७ ॥
ब्रह्माऽभवत् क्षत्रमिदं यदोदनो,
यस्यैव मृत्युर्मृदुलोपसेचनम् ।
अदृष्टदृष्टं मम रूपमश्रुतं,
श्रुतं क एतादृगितीह तर्कयेत् ॥ १८ ॥

कभी हेमाद्रि (सोने के पर्वत सुमेरु) के समान आप ही आप शोभायमान होता है, कभी मैनाक पर्वत के समान स्पष्ट होजाता और कभी सोने के पर्वत के विचित्रवर्णोंवाला होता है, उसे तुम भलीभांति स्वाधीनभाव से चिन्ता करो ॥ १६ ॥ शेष-नाग जिस रूपके चरणकमल में रेखा के समान है, जिसके केशोंपर आकाश नीलमणिके समान प्रतीत होता है, चन्द्र, सूर्य जिसके कर्णकुण्डलसे जान पड़ते हैं, अन्तर्बाह्य में व्याप्त अखण्ड देहवाला वह रूप शोभाको प्राप्त हो रहा है ॥ १७ ॥ जिसके लिये क्षात्रतेज और ब्रह्मतेज भात के समान और मृत्यु कोमल दाल के समान है, इस लोक में ऐसा कौन है जो मेरे उस अलौकिक और अपूर्व रूप की तर्कणा करे ॥ १८ ॥

एवं ब्रुवति सीतेशे हनूमान्मारुतात्मजः ।
भावयामास वेगेन तद्रूपं मीलितेक्षणः ॥ १९ ॥
ततस्तद्भावनावेगाद्ध्यानं कुर्वन् भयङ्करम् ।
शिथिलाङ्गःस्वयं भूमौ मूर्च्छाक्रान्तः पपात ह॥२०॥
श्रीरामश्च तमालोक्य मुहूर्तं सस्मितं ततः ।
निजाभ्यां पाणिपद्माभ्यामुत्थाप्यात्यादरेण च ॥२१॥
अद्भिः सुशीतलैर्मन्दैर्दिव्यव्यजनमारुतैः ॥
स्वयमाश्वासयामास तस्याऽऽसंज्ञोदयं प्रभुः ॥२२॥
स बाष्पगद्गदं पश्चाल्लब्धसंज्ञे मरुत्सुते ।
पुनश्च वर्णयामास विश्वरूपं रघूद्वहः ॥ २३ ॥

श्रीजानकीनाथ के इस प्रकार कहने पर वायुपुत्र हनूमान् ने आँखें मूँदकर शीघ्र ही उस रूपकी भावना की ॥ १९ ॥ तदन्तर उस भावनाके वेगसे भयङ्कर ध्यान करते हुए हनूमान् स्वयं शिथिलाङ्ग हो भूमिपर मूर्च्छित होकर गिरपड़े * ॥ २० ॥ अनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने हनूमान् को इस प्रकार मूर्च्छित अवस्था में क्षणमात्र देख, बहुत आदरके साथ अपने करकमलों से उसे हँसते हुए उठाया ॥२१॥ और शीतलजल तथा दिव्य व्यजन (पंखे) की मन्दवायु से जबतक वह सचेत नहीं हुआ, तबतक स्वयं भगवान् उसे आश्वासन करते रहें ॥ २२ ॥ पश्चात् हनूमान् के सचेत होने पर श्रीरामचन्द्रजी ने प्रेमाश्रु से गद्गद होकर विश्वरूप का वर्णन फिर प्रारम्भ किया ॥ २३ ॥ उसको सुनकर अञ्जनीपुत्र हनूमान्जी

* अनन्त ब्रह्माण्डों से पूर्ण श्रीभगवान्की इस विराट् मूर्त्तिका दर्शन बुद्धिसे करने पर मन मूर्च्छित और बुद्धि स्तब्ध होजाती है यही इसका तात्पर्य्य है ।

तदाकर्ण्याञ्जनासूनुः श्रीरामचरणद्वयम् ।
हस्ताभ्यां दृढमालम्ब्य स्तब्धकण्ठ उवाच ह ॥२४॥

हनूमानुवाच ।

अहो विचित्रं भगवन् ! दयानिधे !
त्वद्विश्वरूपस्य दुरूहवैभवम् ।
तद्वर्णनाद्वाचमथोपसंहर-
न्मां पाह्यधीरं वचनान्तरैर्गुरो ! ॥२५॥
रूपं हि ते मत्स्मृतिगोचरं मह-
त्पादौ क्वचित्कर्षति मे शयौ क्वचित् ।
अङ्गानि चान्यानि तथैव निर्दयं,
न सह्यमेतत्क्षणमप्यहो मया ॥ २६ ॥
मत्प्राणनाथस्त्वमनन्तवैभवः,
सर्व्वात्मकः कोऽप्यसि सर्वशक्तिकः ।

ने श्रीरामचन्द्रजी के दोनों चरण अपने दोनों हाथों से दृढ़रूप से पकड़ लिये और रुँधे हुए कण्ठ से वे बोले ॥ २४ ॥ हनूमान्‌जी बोले :-हे दयासागर परमात्मन् ! आपके विश्वरूप का वैभव विचित्र और समझने के लिये कठिन है। अहो ! अब उसके वर्णन से वाणी को रोककर हे गुरो मुझ अधीर (भयभीत) की अन्य वचनों से रक्षा करो॥ २५ ॥ आपके विराट् रूपका जब स्मरण होता है, तब कभी पैरों को, कभी हाथों को और इसी प्रकार अन्य अङ्गों को भी निर्दयता से वह मानो ! खैंचता है, जो मुझसे क्षणमात्र भी नहीं सहा जाता ॥ २६ ॥ आप अनन्त

यद्दुर्बलानामपि दुर्बलोऽभवं,
मां पाहि कारुण्यरसार्द्रवीक्षणात् ॥२७॥
का वा गतिर्मे भवदङ्घ्रिपङ्कज-
द्वयावलम्बं विधिदुर्लभं विना ।
यत्पुण्डरीकाक्ष ! भवामि दुर्मतिः,
कपिश्च हीनो भुवि लक्ष्मणाग्रज ! ॥२८॥
मायां त्वदीयां रघुनाथ ! दुस्तरा-
मेनामजानन्नहमेष मोहितः ।
मेने पुराधीरतरत्वमात्मनो
गुरोऽपराधं तममुं क्षमस्व मे ॥२९॥
त्वद्विश्वरूपस्फुरणं विनाऽप्यदः,
प्रकृष्टपापौघनिकृन्तनक्षमम् ।

वैभवशाली सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, अनिर्वचनीय और मेरे प्राणों के स्वामी हैं, क्योंकि दुर्बलों से भी मैं दुर्बल हो गया हूँ, अतः आप करुणारस से भीगी हुई दृष्टि से मेरी रक्षा करें ॥२७॥ हे लक्ष्मणके ज्येष्ठ भ्राता कमललोचन श्रीरामचन्द्रजी ! ब्रह्मा के लिये भी दुर्लभ ऐसे आपके दोनों चरणकमलों का अवलम्ब किये बिना मेरी क्या गति होगी ? क्योंकि मैं पृथ्वी पर एक दुर्मति और नीच बन्दर हूँ ॥ २८ ॥ हे रघुनाथजी ! आपकी इस अपार माया को न जानने के कारण ही मैं मोहित हो गया। पहिले मैं अपने आपको दृढ़तर समझता था, हे गुरो ! मेरे उस अपराध को आप क्षमा करें ॥ २९ ॥ हे भगवन् ! कठिन पापोंके

त्वन्निर्गुणात्माधिगतो मयेति य-
स्तञ्चाऽपराधं भगवन्! क्षमस्व मे ॥ ३० ॥
मायामयत्वात्सुगुणस्य पूर्णता,
नैवोपपन्नेति मया हि निश्चितम्।
अन्तर्बहिस्सन् पुरुषोत्तम! प्रभो!
तञ्चाऽपराधं कृपया क्षमस्व मे ॥ ३१ ॥
श्रीजानकीलौल्यमपारमन्वहं,
दृष्ट्वा त्वयीशेऽप्यविशेषबुद्धयः।
ममाभवंस्त्वन्महिमाऽविचिन्तना-
न्महापराधं तमहो क्षमस्व मे ॥ ३२ ॥
एवं हनुमते प्राज्ञे ब्रुवति स्वरसं वचः।
सबाष्पञ्च सरोमाञ्चं सकम्पञ्च सगद्गदम् ॥३३॥

समूहका नाश करने में समर्थ, आपके इस विश्वरूपका स्फुरण (ज्ञान) विना ही जो मैं समझ चुका था कि आपके निर्गुण आत्मस्वरूप को पागया, इस मेरे अपराध को भी आप क्षमा करें ॥ ३० ॥ हे प्रभो! मायामय होनेसे आपके सगुणरूपकी पूर्णता नहीं हो सकती, यह जो मैं निश्चय करचुकाथा, इस मेरे अपराध को कृपाकर आप क्षमा करें; क्योंकि हे पुरुषोत्तम! आप अन्त-र्बाह्यमेंव्याप्त हैं ॥३१॥ श्रीजानकीजी में आपकी अहर्निश अपार प्रीति देख ईश्वरस्वरूप आपके विषय में भी मेरे मन में अहो! आपकी महिमाका चिन्तन न करने से अनेक साधारण भाव उत्पन्न हुए थे, मेरे इस महाअपराध को आप क्षमा करें ॥ ३२ ॥ आँखों

श्रीरामचन्द्रो दयया भक्तवात्सल्यगर्भितम् ।
मृदुलं वचनं श्लक्ष्णं महात्मा तमुवाच ह ॥३४॥

श्रीराम उवाच ।

हनूमन्निदमास्तां ते वचनं भवमुक्तये ।
अवशिष्टांस्त्वमालोच्य परिपृच्छ पुनश्च माम् ॥३५॥

इति तत्त्वसारायण उपासनाकाण्डस्य द्वितीयपादे सर्ववेदरहस्यार्थासु श्रीरामगीतासूपनिषत्सु विश्वरूपनिरूपणं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥

में आँसू भरकर रोमाञ्चित हो काँपते हुए गद्गदकण्ठ से इसप्रकार बुद्धिमान् हनूमान्जी के सरस वचन कहने पर महात्मा श्रीरामचन्द्रजी ने दयासे युक्त होकर भक्तवत्सलता से पूर्ण, मधुर और कोमल वचन हनूमान्जी से कहा ॥ ३३-३४ ॥ श्रीरामचन्द्रजी बोले :— हे हनूमान्! तुम्हारा यह वचन संसार से मुक्ति पाने के लिये पर्याप्त होगा। और कुछ शेष शङ्काएँ रह गई हों, उनको सोचकर पुनः मुझसे पूछो ॥ ३५ ॥

इस प्रकार तत्त्वसारायण के अन्तर्गत उपासनाकाण्ड के द्वितीय पाद में कथित समस्त वेदों के अर्थों को प्रकाश करनेवाली श्रीरामगीताउपनिषद् का विश्वरूपनिरूपणनामक द्वादशवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

तारकप्रणवविभागयोगः ।

हनूमानुवाच ।

आपदामपहर्त्रे ते दात्रे निखिलसम्पदाम् ।
सर्वलोकाभिरामाय श्रीरामाय नमो नमः ॥ १ ॥
केशवाय नमस्तुभ्यं नमो नारायणाय ते ।
माधवाय नमस्तुभ्यं गोविन्दाय नमो नमः ॥२॥
विष्णवे च नमस्तुभ्यं ,मधुसंसूदनाय ते ।
नमस्त्रिविक्रयामापि नमस्ते वामनाय च ॥ ३ ॥
श्रीधराय नमस्तुभ्यं हृषीकेशाय ते नमः ।
पद्मनाभाय च नमो नमो दामोदराय च ॥ ४ ॥

हनूमान्जी बोले :—आपदाओंको हरनेवाले, सम्पूर्ण सम्पदाओं को देनेवाले, समस्त लोकों में मनोहर आप-श्रीरामचन्द्रजी को बारम्बार प्रणाम है ॥ १ ॥ केशी दैत्यके मारनेवाले हे केशव ! आपको प्रणाम है । जलमें शयन करनेवाले हे नारायण ! आपको प्रणाम है । लक्ष्मीके पति हे माधव ! आपको प्रणामहै । इन्द्रियों के दमन करनेवाले हे गोविन्द ! आपको बारम्बार प्रणाम है ॥ २ ॥ सर्वव्यापक हे विष्णु ! आपको प्रणाम है । 'मधु' नामक दैत्यके मारनेवाले हे मधुसूदन ! आपको प्रणाम है । तीन पादों में त्रिभुवन को नापनेवाले हे त्रिविक्रम ! आपको प्रणाम है । वामनरूपधारी हे वामन ! आपको प्रणाम है ॥ ३ ॥ शोभाको धारण करनेवाले हे श्रीधर आपको प्रणाम है । इन्द्रियों के स्वामी हे हृषीकेश ! आपको प्रणाम है । नाभि में कमल है जिनके, ऐसे हे पद्मनाभ ! आपको प्रणाम है । उदर में लोकों को धारण करनेवाले हे दामोदर ! आप

नमस्ते मत्स्यरूपाय नमस्ते कूर्मरूपिणे ।
नमो वराहरूपाय नृसिंहाय च ते नमः ॥ ५ ॥
वामनाय नमस्तुभ्यं रामाय च नमो नमः ।
श्रीरामाय नमस्तुभ्यं बलरामाय ते नमः ॥ ६ ॥
कृष्णाय च नमस्तुभ्यं कल्किरूपाय ते नमः ।
मयि प्रसन्नस्सततं जनार्दन ! भव प्रभो ! ॥७॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥८॥
इति षोडशकं नाम्नां केचित्संसारतारकम् ।
महामन्त्रं बुधाः प्राहुर्जानकीप्राणनायक ! ॥९॥

को प्रणाम है ॥ ४ ॥ हे मत्स्यरुपधारी ! आपको प्रणाम है। हे कूर्मरूपधारी ! आपको प्रणाम है। हे वराहरुपधारी ! आपको प्रणाम है। हे नृसिंह ! आपको प्रणाम है ॥ ५ ॥ हे वामन ! आपको प्रणाम है। हे परशुराम ! आपको बारम्बार प्रणाम है। हे श्रीरामचन्द्र ! आपको प्रणाम है। हे बलराम ! आपको प्रणाम है ॥ ६ ॥ हे श्रीकृष्ण ! आप को प्रणाम है। हे कल्किरुपधारी ! आप को प्रणाम है। हे प्रभो ! हे अभीष्टप्रद जनार्दन ! आप निरन्तर मुझपर प्रसन्न हों ॥ ७ ॥ १ हे हरे ! २ हे राम ! ३ हे हरे ! ४ हे राम ! ५ हे राम ! ६ हे राम ! ७ हे हरे ! ८ हे हरे ! ९ हे ! हरे १० हे कृष्ण ! ११ हे हरे ! १२ हे कृष्ण ! १३ हे कृष्ण ! १४ हे कृष्ण ! १५ हे हरे ! १६ हे हरे ! ॥ ८ ॥ हे जानकी-प्राणेश्वर ! कुछ पण्डितों ने इन्हीं सोलहनामों के महामन्त्र को संसार से तारने

केचित्तु रामनामेदं काश्यामाब्रह्मकीटकम्।
मरणावसरे कर्ण इति तारोपदेशतः ॥१०॥
अन्ये चाष्टाक्षरं मन्त्रं साक्षात्प्रणवपूर्वकम्।
नमो नारायणायेति तारकं मन्त्रमुत्तमम् ॥ ११ ॥
अन्ये तु काश्यां तत्तारं शिव इत्यक्षरद्वयम्।
नमश्शिवाय चेत्येके शैवपञ्चाक्षरं तथा ॥ १२ ॥
अन्ये तु प्रणवं सर्ववेदान्तोदितमव्ययम्।
एकाक्षरं सदा तारं सर्वाक्षरवरं शुभम् ॥१३॥

वाला कहा है ॥ ९ ॥ और कुछ लोग 'राम' इस नाम का मन्त्र, तारक उपदेश रूपसे, ब्रह्मासे लेकर कीड़े तक के कान में काशी में मरण समय में (शिवजी के द्वारा) कहा जाता है ऐसा कहते हैं ॥१०॥ अन्य कुछ लोग प्रणवपूर्वक नमोनारायणाय (ॐ नमोनारायणाय) इसी आठ अक्षरोंवाले श्रेष्ठ मन्त्रको साक्षात् तारक मन्त्र कहते हैं ॥ ११ ॥ और दूसरे कुछ लोग काशी में 'शिव' इन्हीं दो अक्षरों कोही तारक मन्त्र कहते हैं और कुछ लोग 'नमः शिवाय' यही शिवपञ्चाक्षर तारक मन्त्र * है ऐसा कहते हैं ॥ १२ ॥ सब वेदान्तों में कथित, सब अक्षरों में श्रेष्ठ, मङ्गलमय, अविनाशी, एकाक्षर प्रणव (ॐ) ही निरन्तर तारक है, ऐसा अन्य लोग कहते

* सर्वलोकहितकर सनातन धर्म्म की सगुण उपासना के अनुसार विष्णु शिव गणेश सूर्य्य और शक्ति ये पांच भेद हैं और लीला विग्रह उपासना अर्थात् अवतार-उपासना का छठा भेद मानागया है। इसी क्रम के अनुसार विभिन्न साम्प्रदायिक ग्रन्थों में सगुण उपासना के छः प्रकार के तारक मन्त्र कहेगये हैं। निर्गुण तारक मंत्रका भेद सप्तम माना गया हैं। शास्त्रोंमें ऐसा कहागया है कि ये सब सगुण तारक मंत्र अपने अपने अधिकार के उपासकों को आवागमनके चक्र से तारक तत्तदुपासना के लोकों में पहुँचाकर सालोक्य आदि सगुण मुक्ति प्राप्त कराते हैं। निर्गुण तारक मंत्र सप्तम ऊद्र्ध्व लोक प्रदानकारी है। इसी गति को शास्त्रोंमें शुक्ल गति भी कहा है।

एवं हि बहुधा विप्रैः प्रोच्यते तारवादिभिः।
तत्रैकं वद निश्चित्य ममोपास्त्यै रघूत्तम! ॥१४॥
एवं हनूमता पृष्टः श्रीरामः श्रुतिपारगः।
बृहज्जाबालतपनपरिव्राजाऽद्वयाभिधाः ॥ १५ ॥
मुक्तिकान्तास्समस्ताश्च श्रुतिस्तारकगोचराः।
पौर्वापर्य्येण संवीक्ष्य निश्चितार्थमुवाच ह॥१६॥

श्रीराम उवाच।

हनूमञ्छृणु वक्ष्यामि सावधानमना भृशम्।
येन तारेण झटिति भवाब्धिं त्वं तरिष्यसि॥१७॥
प्रायेण सर्वमन्त्राणां वैष्णवानां कपीश्वर!।

हैं॥१३॥ इस प्रकार से तारक मन्त्रको जाननेवाले ब्राह्मणगण अनेकप्रकारके तारक कहते हैं। हे रघुनाथजी! मुझे उपासना के लिये उनमें से किसी एकका निश्चय करके कहिये ॥ १४ ॥ इस प्रकार श्रीहनूमान्जी के प्रश्न करनेपर वेदों में पारङ्गत श्रीरामचन्द्रजी ने बृहज्जाबाल, तपन, परिव्राट् और अद्वय से लेकर मुक्तिकोपनिषद् पर्य्यन्त समस्त श्रुतियों को जिनमें तारक मन्त्र के सम्बन्धमें विशेष वर्णनहै--पूर्वापर सम्बन्ध से भली भाँति देखकर तारक का निश्चित अर्थ कहना प्रारम्भ किया ॥ १५-१६ ॥ श्रीरामचन्द्रजी बोलेः-हे हनूमान्! जिस तारकमन्त्र से तुम शीघ्र ही संसारसागर से पार होजाओगे, उसे मैं कहूँगा। तुम अत्यन्त सावधानचित्त होकर सुनो॥ १७ ॥ हे कपीश्वर! वैष्णवों के तथा शैवों के प्रायः सभी मन्त्रों में संसार से तारने की शक्ति है,

शैवानां चस्ति संसारतारकत्वं न संशयः ॥१८॥
तथापि प्रणवाख्योऽयं मन्त्रः सर्वोत्तमोत्तमः ।
यमेव तारकं साक्षान्मुक्त्यै सर्वेप्युपासते ॥ १९ ॥
प्रणवव्यतिरिक्तानां मन्त्राणां भोगमोक्षयोः ।
विनियोगो भवेदेष मोक्षमात्रफलः खलु ॥ २०॥
स चायं प्रणवोऽकारोकाराद्यैरक्षरैर्युतः ।
ओङ्काररूपस्सर्वेषु वेदान्तेषु प्रतिष्ठितः ॥ २१ ॥

इसमें कोई सन्देह नहीं ॥ १८ ॥ तौभी यह प्रणव नामक मन्त्र सबसे श्रेष्ठतम * है और सभी लोग प्रत्यक्ष मुक्ति के लिये इसी तारक मन्त्रकी उपासना करते हैं ॥ १९ ॥ प्रणव के अतिरिक्त जितने मन्त्र हैं, उनका भोग और मोक्ष दोनों में विनियोग होता है; परन्तु इस प्रणव का फल केवल मोक्षप्राप्ति ही है ॥ २० ॥ अकार उकार आदि अक्षरों से युक्त यह ॐकाररूप प्रणव सब वेदान्तों में ही हैं ॥ २१ ॥ बृहस्पति, शेषनाग आदि तथा अरुन्धती के

* वैदिक और तान्त्रिक सब मंत्रों के साथ श्रीभगवान्का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है जितना घनिष्ठ सम्बन्ध प्रणवरूपी वाचक के साथ ईश्वररूपी वाच्य का है। प्रणवरूपी भगवन्नाम स्वाभाविक है। जगदुपादान ब्रह्मसे जब स्थूल प्रपञ्चमय जगत् की सृष्टि होती है, जब अद्वितीय ब्रह्मसत्तासे प्रकृति पुरुषात्मक द्वैत सत्ता प्रकटहोकर भगवान् इच्छा करते हैं कि एकसे बहुत हो जाऊँ, उस समय ब्रह्मशक्ति प्रकृति सृष्टि के लिये तरङ्गायित होती है। ब्रह्मशक्ति प्रकृतिके प्रथम त्रिगुणात्मक हिल्लोलका जो शब्द है वही ॐकार-प्रणव है। जहां कोई कार्य्य है वहां अवश्य कम्पन होगा, जहां कम्पन है वहां शब्द होना भी निश्चित है। कर्मसे अतीत निर्गुण ब्रह्मपदसे जब सगुण, जगत् की उत्पत्ति होती है तो वहां त्रिगुण का प्रथम कम्पन अवश्य होना सम्भव है, उसी सगुण अवस्थाके साथ जिस ध्वनिका स्वाभाविक सम्बन्ध है वही मन वचन और बुद्धिसे अतीत प्रणव है, जिनका प्रतिशब्द अ उ म से उच्चारित होता है।

वृहस्पत्यादिशेषाद्या अस्य माहात्म्यवर्णने ।
अशक्तो मद्गुरुश्चाऽपि वसिष्ठोऽरुन्धतीपतिः॥२२॥
तस्मात्तद्वर्णनादद्य मया समुपरम्यते ।
तस्य त्ववश्यवेद्यौ त्वं स्वरूपार्थाविह शृणु॥२३॥
अकारः प्रथमः प्रोक्त उकारस्तदनन्तरम् ।
मकारश्चार्द्धमात्रा च नादबिन्दू ततः परम् ॥२४॥
कला ततः कलातीता शान्तिश्शान्तेः परा ततः ।
उन्मन्येकादशी प्रोक्ता द्वादशी तु मनोन्मनी ॥२५॥
पुरी च मध्यमा पश्चात् पश्यन्ती च परा ततः ।
एवं षोडशरूपोऽयं प्रणवः सूक्ष्ममात्रकः ॥२६॥

पति मेरे गुरु वशिष्ठऋषि भी इसका माहात्म्य वर्णन करने में असमर्थ हैं ॥ २२ ॥ इस कारण आज मैं उसका वर्णन नहीं करता, किन्तु उसके अवश्य जानने योग्य स्वरूप और अर्थ को तुम इससमय सुनो ॥ २३ ॥ १— पहिले अकार कहा गया है, २--फिर उकार है, ३--मकार, ४—अर्धमात्रा, ५--नाद और ६—बिन्दु उसके पश्चात् हैं ॥ २४ ॥ फिर ७- कला, ८--कलातीत, ९--शान्ति और अनन्तर १०—शान्तिसे अतीत मात्रा है। ११- ग्यारहवीं उन्मनी और १२--बारहवीं मनोन्मनी कही गयी है ॥ २५ ॥ फिर १३--पुरी, १४, मध्यमा, १५--पश्यन्ती और अनन्तर १६—परा मात्रा है। इस प्रकार यह प्रणव १६ सूक्ष्म मात्राओं से युक्त सोलह प्रकार का है ॥ २६ ॥ हे पवनसुत ! इन सोलह मात्राओं के स्थल,

एतासाञ्च स्थूलसूक्ष्मबीजतुर्य्यप्रभेदतः ।
मात्राणां स्युश्चतुष्षष्टिरूपाणि पवनात्मज ! ॥२७॥
प्रकृत्या पुरुषेणैता अष्टाविंशतिकोत्तराः ।
शतमात्राश्च सिध्यन्ति द्वैविध्यं समुपाश्रिताः॥२८॥
ततो द्विशतमात्राः स्युष्षट्पञ्चाशत्पराश्च ताः ।
द्वैविध्यं सगुणेनापि निर्गुणेन समाश्रिताः ॥२९॥
एवं सुसूक्ष्ममात्रावत् प्रणवं विद्धि मारुते ! ।
अथास्यार्थं प्रवक्ष्यामि सावधानमनाः शृणु ॥३०॥
अखण्डसच्चिदानन्दं प्रसिद्धं ब्रह्म यत्परम् ।
तदेव प्रणवस्यास्य मुख्योऽर्थस्तारकस्य हि ॥३१॥

सूक्ष्म, कारण और तुरीय भेदानुसार चौंसठ रूप होते हैं ॥ २७ ॥ प्रकृति और पुरुष भेदसे उक्त ६४ मात्राएँ द्विविध होकर एक सौ अट्ठाईस प्रकार की होती हैं ॥ २८ ॥ फिर जब वे १२८ मात्राएँ सगुण और निर्गुणका आश्रय कर द्विविध होती हैं, तब उनके दोसौ छप्पन रूप बनते हैं ॥ २९ ॥ हे मारुते ! इस प्रकार प्रणवको अत्यन्त सूक्ष्म मात्राओं से युक्त जानो * ! अब इसका अर्थ कहता हूँ, सो स्वस्थचित्त से सुनो ॥ ३० ॥ जो परब्रह्म, अखण्ड सच्चिदानन्दरूप से प्रसिद्ध है, वही इस तारक मन्त्र-स्वरूप प्रणव का मुख्य अर्थ है ॥ ३१ ॥ सगुण से युक्त जो १२८

* भाव से शब्द का जिस प्रकार सम्बन्ध है उसी प्रकार रूप से नामका सम्बन्ध है। भाव से शब्दकी उत्पत्ति होकर तदनन्तर नामरूपात्मक सृष्टिका उदय होता है। सृष्टिके लय होते समय नाम रूप शब्द और भाव में लय होकर तुरीया प्रकृति की सहायता से ब्रह्म में विलय होजाते हैं। कारण पद से कार्य्यरूपी सृष्टि के होने और कार्य्यरूपी सृष्टि के कारण में लय होने के दोनों भेदों के अनुसार सूक्ष्मदर्शी योगियोंने ये संख्याएँ नियत की हैं।

या मात्रास्सगुणाऽपेता अष्टाविंशतिकोत्तराः ।
प्रोक्तास्तास्साधयन्त्यत्र ब्रह्मणस्स्वगताभिदाम्॥३२॥
तासु षोडशमात्राणां विवेकादिचतुष्टये ।
स्थूलादिभिन्नेऽन्तर्भावः षोडशात्माधिकारिषु॥३३॥
अन्यासां सप्तभूमीनां पूर्वोक्तानां यथाक्रमम् ।
एकैकस्यां त्वया ज्ञेया मात्राः षोडश षोडश ॥३४॥
एवं मात्रा विभज्यैव विद्वद्भिः प्रणवो मनुः ।
स्वापरोक्षानुभूत्यर्थमुपास्यः श्रवणादिभिः ॥३५॥
अविभक्तस्सुजप्योऽयं चित्तशुद्ध्यैककारणम् ।

मात्राएँ कही गई हैं, इस संसार में वे ब्रह्मके स्वगत भेद को साधती हैं ॥३२॥ उनमें (२५६ में) से विवेकादिचतुष्टय में १६। १६ मात्राओं का, स्थूल, सूक्ष्म, कारण और तुरीय में १६। १६ मात्राओं का तथा आत्मज्ञान के अधिकारियों में १६ मात्राओं का अन्तर्भाव होता है। यों १४४ मात्राएँ हुईं ॥ ३३ ॥ शेष ११२ मात्राएँ, पूर्वोक्त सप्त भूमिकाओं की--क्रमशः एक एक भूमिका की १६। १६ के हिसाब से जाननी चाहिये ॥ ३४ ॥ इसी प्रकार मात्राओं का विभागकर श्रवणादि से (श्रवण, मनन, निदिध्यासनसे) आत्मा की अपरोक्ष-अनुभूति के अर्थ प्रणवमन्त्र की विद्वानों द्वारा उपासना होनी चाहिये ॥ ३५ ॥ चित्तशुद्धि का एकमात्र कारण स्वरूप यह विशुद्ध और अविभक्त प्रणव सम्यक् प्रकार से जप*

* प्रणव का जप साधारणतः द्विविध है। एक ध्वन्यात्मक ॐकारका योगयुक्त अवस्थामें जप और दूसरा वर्णात्मक प्रणवका वाचनिक उपांशु और मानसिक जप।

निष्कामोपासकैश्शुद्धो यतिभिः समुपाश्रितः ॥३६॥
गौणत्वात्क्रममुक्त्यर्थं जपरूपमुपासनम् ।
यथात्र मुख्यमप्येतत्कपे ! मन्नामकीर्तनम् ॥३७॥
नामान्तराणां मुख्योऽर्थो गौणप्रणवगर्भितः ।
विभक्तमात्रप्रणवमुख्यार्थस्तु स्वगर्भितः ॥३८॥
गौणप्रधानोपास्तौ हि सन्न्यास्येको नियम्यते ।
मुख्यप्रधानोपास्तौ तु सर्वेऽप्यत्राधिकारिणः ॥३९॥
एवं रामोपदिष्टार्थं श्रुत्वा वायुसुतोऽब्रवीत् ।
श्रुतं ते प्रणवार्थत्वं तत्कथं वद राघव ! ॥ ४० ॥

श्रीराम उवाच ।

शृणु वक्ष्यामि तच्चार्थं हनूमन् ! भक्तिपूर्वकम् ।

करने योग्य हैं; क्योंकि निष्काम भाव से उपासना करनेवाले यतियों ने विशेष रूप से इसका आश्रय किया है ॥ ३६ ॥ गौण होनेके कारण जपरूपी उपासना क्रममुक्ति के अर्थ है क्योंकि यह मेरे नामका कीर्तनही, हे कपे ! यहाँ पर मुख्य माना गया है ॥ ३७ ॥ अन्य नामों का मुख्यार्थ गौणप्रणव से युक्त हैं और मात्राविभागयुक्त प्रणवका मुख्यार्थ प्रणव से ही युक्त है ॥ ३८ ॥ गौणप्रधान उपासना में केवल संन्यासीही अधिकारी है और इस मुख्यप्रधान उपासना में सभी अधिकारी हैं ॥ ३९ ॥ इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी के कहे हुए अर्थ को सुनकर श्रीहनूमान्जी ने कहा, हे रघुनाथजी ! मैंने सुना है कि आप ही प्रणवार्थस्वरूप हैं सो किस प्रकार है ? आज्ञा कीजिये ॥ ४० ॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहा:-हे हनूमान् ! उस अर्थ को भी मैं कहताहूँ, तुम भक्तिपूर्वक

यस्य श्रवणमात्रेण सद्यश्शुद्धो भविष्यसि ॥४१॥
अकाराक्षरसम्भूतः सौमित्रिर्विश्वभावनः ।
उकाराक्षरसम्भूतः शत्रुघ्नस्तैजसात्मकः ॥४२॥
प्राज्ञात्मकस्तु भरतो मकाराक्षरसम्भवः ।
अर्द्धमात्रात्मकोऽहं वै ब्रह्मानन्दैकविग्रहः ॥४३॥
मम सान्निध्यवशतो जगदाधारकारिणी ।
उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणी सर्वदेहिनाम् ॥४४॥
सीतेयं प्रोच्यते साक्षान्मूलप्रकृतिसंज्ञिका ।
प्राणवत्वात्प्रकृतिरित्यब्रुवन् ब्रह्मवादिनः ॥४५॥
इयमेव महामाया विद्या चेयं परात्परा ।
मद्वक्षोनिधनासीना लक्ष्मीश्चेयं मरुत्सुत ! ॥४६॥

सुनो जिसके श्रवणमात्र से तुरन्त विशुद्ध हो जाओगे ॥ ४१ ॥ विश्वभावन सुमित्रासुत (लक्ष्मण) अकाराक्षर से उत्पन्न हुआ है, तैजसरूप शत्रुघ्न उकाराक्षर से सम्भूत है ॥ ४२ ॥ प्राज्ञात्मक भरत मकाराक्षर से प्रादुर्भूत हुआ है और मैं अर्धमात्रात्मक केवल ब्रह्मानन्दस्वरूप ही हूँ ॥ ४३ ॥ सब प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और नाश करनेवाली, जगत् की आधार स्वरूप यह सीता, मेरे अत्यन्त निकट रहने के कारण साक्षात् मूलप्रकृति नाम से अभिहित होती है। यह मेरे प्राणों के समान होने के कारण ब्रह्मवादिगण इसे प्रकृति कहते हैं ॥ ४४—४५ ॥ हे वायु-पुत्र ! यही महामाया है, यही परात्परा विद्या है और मेरे वक्षस्थल में स्थित यह लक्ष्मी है ॥ ४६ ॥ हे कपे ! प्रणव की

अन्याश्च षोडशावस्थाः प्रणवस्य समीरिताः ।
ता जाग्रज्जाग्रदाद्यास्त्वं शृणुष्वावहितः कपे! ॥४७॥
इदं ममेति सर्वेषु दृश्यभावेष्वभावना ।
जाग्रज्जाग्रदिति प्राहुर्महान्तो वायुनन्दन! ॥४८॥
विदित्वा सच्चिदानन्दे मयि दृश्यपरम्पराम् ।
नामरूपपरित्यागो जाग्रत्स्वप्न इतीर्य्यते ॥४९॥
परिपूर्णचिदाकाशे मयि बोधात्मतां विना ।
न किञ्चिदन्यदस्तीति जाग्रत्सुप्तिस्समीर्य्यते ॥५०॥
स्थूलादित्रिविधे बीजेऽप्यनष्टे तत्र यो भवेत् ।
मिथ्यात्वनिश्चयस्सम्यक् स जाग्रत्तुर्य्यमीर्य्यते॥५१॥

अन्य भी जो 'जाग्रत्-जाग्रत्' (जाग्रत्-जाग्रत, जाग्रत्-स्वप्न, जाग्रत्-सुषुप्ति) आदि सोलह अवस्थाएँ कही गई हैं, उनको सावधान होकर तुम सुनो ॥ ४७ ॥ समस्त दृश्य पदार्थों में 'इदं मम' (यह मेरा) की जब भावना न रहे, तब उस दशाको हे वायुपुत्र! श्रेष्ठ पुरुष 'जाग्रत्जाग्रत्' अवस्था कहते हैं ॥ ४८ ॥ दृश्यपरम्परा को मुझ सच्चिदानन्द में जानकर (देखकर) जब नामरूप का त्याग कियाजाता है, तब वह अवस्था 'जाग्रत्-स्वप्न' कही जाती है ॥ ४९ ॥ परिपूर्ण चिदाकाशरूपी मुझमें बोधात्मता-ज्ञान के सिवाय और कुछ भी नहीं है; यह जब भावना हो, तब उस अवस्था को 'जाग्रत्सुषुप्ति' कहते हैं ॥ ५० ॥ स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीर के बीज नष्ट न होने पर भी जब दृढ़ निश्चय होजाता है कि ये सब मिथ्या हैं, तब उस अवस्था को 'जाग्रत्-तुरीय' कहते हैं ॥ ५१ ॥ स्थूल ज्ञान नष्ट होजाने पर भी जब यह

स्थूलज्ञानविनाशेऽपि कारणाभासचेष्टितैः ।
बन्धो न मेऽतिस्वल्पोऽपि स्वप्नजाग्रदितीर्य्यते॥५२॥
कारणाज्ञाननाशाद्यद्द्रष्टृदर्शनदृश्यता ।
न कार्य्यमस्ति विज्ञानं स्वप्नस्वप्नस्समीर्य्यते॥५३॥
अतिसूक्ष्मविमर्शेन स्वधीवृत्तिरचञ्चला ।
विलीयते यदा बोधे स्वप्नसुप्तिरितीर्य्यते ॥५४॥
आनन्दानुभवे प्राप्तेऽप्यखण्डस्थित्यलोपतः ।
सहजानन्दहानिस्सा स्वप्नतुर्य्यमितीर्य्यते ॥५५॥
चिन्मयाकारमथ यो धीवृत्तिप्रसरैर्गतः ।
आनन्दानुभवस्स्वीयस्सुप्तिजाग्रदितीर्य्यते ॥५६॥

भावना होजाती है कि कारणशरीर के आभास से जो व्यापार होते हैं, उनसे मेरा कुछ भी बन्धन नहीं है, तब वह अवस्था 'स्वप्नजाग्रत्' कही जाती है॥ ५२ ॥ कारणशरीरसम्बन्धी अज्ञान का नाश होने पर देखनेवाला, देखने की क्रिया और देखने की वस्तु ये कार्य नहीं है, ऐसा जब विशेष ज्ञान होजाय, तब उस अवस्थाको 'स्वप्नस्वप्न' कहते हैं॥ ५३ ॥ अत्यन्त सूक्ष्म विचार से अपनी बुद्धि की वृत्ति जब चञ्चलता रहित होकर ज्ञान में विलीन हो जाती है, तब उस अवस्था को 'स्वप्नसुप्ति' कहते हैं ॥ ५४ ॥ आनन्दानुभव प्राप्त होने पर भी अखण्ड स्थिति का लोप न होने से अर्थात् भान रहने से जो सहजानन्द की हानि होती है, उसको 'स्वप्नतुरीय' अवस्था कहते हैं॥ ५५ ॥ इसके अनन्तर अपने (आत्मा के) आनन्द का अनुभव, बुद्धि की वृत्तियों के विकास से चिन्मयरूप को जब प्राप्त होता है, तब उस अवस्था को 'सुप्तिजाग्रत्' अवस्था कहते हैं॥ ५६ ॥ चिरकाल से अनुभव

वृत्तौ चिरानुभूतान्तरानन्दानुभवस्थितौ ।
समात्मतां यो यात्येष सुप्तिस्वप्नस्समीर्य्यते ॥५७॥
दृश्यधीवृत्तिरीशस्य केवलीभावभावना ।
परं बोधैकतावाप्तिस्सुप्तिसुप्तिस्समीर्य्यते ॥ ५८ ॥
अखण्डैकरसस्फूर्तिर्भावनानिरपेक्षया ।
स्वयमाविर्भवेद्यत्र सुप्तितुर्य्यं समीर्य्यते ॥५९॥
रसानुभूतिः पूर्वोक्ता सहजा यस्य जाग्रति ।
तदवस्था कपिश्रेष्ठ ! तुर्य्यजाग्रदितीर्य्यते ॥६०॥
सानुभूतिर्भवेद्यस्य स्वप्नेऽपि सहजा सदा ।
दुर्ल्लभा तदवस्था सा तुर्य्यस्वप्नस्समीर्य्यते ॥६१॥

किये हुए आन्तरिक आनन्द के अनुभव में वृत्ति के स्थित होने पर जो आनन्दानुभव समभाव को प्राप्त होता है उसको 'सुप्तिस्वप्न' कहते हैं ॥ ५७ ॥ दृश्यसम्बन्धी बुद्धि की वृत्ति और ईश्वर के कैवल्य की भावना, जब ज्ञान में अत्यन्त एकता को प्राप्त करें, तब उस अवस्था को 'सुप्तिसुप्ति' कहते हैं ॥ ५८ ॥ जब भावना की अपेक्षा से रहित होकर अखण्डैकरस की स्फूर्ति आपही आप उत्पन्न होती है, तब उस अवस्था को 'सुप्तितुरीय' कहते हैं ॥ ५९ ॥ जाग्रत् अवस्था में ही पूर्वोक्त सहज रसानुभव जब होजाता है, तब उस अवस्था को हे कपिश्रेष्ठ ! 'तुरीयजाग्रत्' कहते हैं ॥ ६० ॥ जिसे स्वप्न में भी निरन्तर वही सहज रसानुभव हो, उसकी उस दुर्लभ अवस्था को 'तुर्यस्वप्न' कहते हैं ॥ ६१ ॥ सुषुप्ति अवस्था

सुषुप्तावपि विस्फूर्तिरखण्डैकरसस्य चेत् ।
सुदुर्ल्लभा तु सावस्था तुर्य्यसुप्तिस्समीर्य्यते ॥६२॥
अखण्डैकरसो यत्र लीनः कतकरेणुवत् ।
अरूपाऽगोचरावस्था तुर्य्यतुर्य्यं समीर्य्यते ॥६३॥
इमा हि षोडशावस्था विज्ञेयास्सूक्ष्मबुद्धिभिः ।
न वाच्या यस्य कस्यापि भवता कपिकुञ्जर!॥६४॥
अष्टोत्तरशते श्रद्धा यस्यास्ति सुमहत्तरा ।
विदेहमुक्तिवाञ्छा च यस्यातीव प्रवर्द्धते ॥ ६५ ॥
गुरुपादाम्वुजद्वन्द्वे यस्य भक्तिः सुनिर्मला ।
दृष्टभोगेषु सर्वेषु यस्यारक्तिस्सुपुष्कला ॥६६॥
जीवन्मुक्तस्य लक्ष्माणि यस्मिन् सर्वाणि सन्ति च ।
तस्यैवैता मया प्रोक्ता वक्तव्या भवतादरात ॥६७॥

में भी जब अखण्ड एकरस की स्फूर्ति हो तो उस दुर्लभ अवस्था को 'तुर्यसुप्ति' कहते हैं ॥ ६२ ॥ जहाँ कतक (निर्मली) रेणु के समान अखण्ड एकरस लीन होजाय वह अरूप और अतीन्द्रिय अवस्था 'तुर्यतुर्य' कही गई है ॥ ६३ ॥ सूक्ष्म बुद्धिवाले पुरुषों के द्वारा ये सोलह अवस्थाएँ जानी जाती हैं । हे कपिश्रेष्ठ ! तुम इनको जिस किसी से न कहो ॥ ६४ ॥ एक सौ आठ उपनिषदों में जिसकी अत्यन्त अधिकतर श्रद्धा हो, विदेहमुक्ति की इच्छा जिसकी बहुत ही बढ़ी हो, गुरु के चरणारविन्दों में जिसकी विशुद्ध भक्ति हो, समस्त दृष्ट भोगों में जिसकी अत्यन्त अधिक विरक्ति हो और जिसमें जीवन्मुक्त के सब लक्षण हों, उसी को मेरी कही हुई ये सोलह अवस्थाएँ आदर से बताओ ॥६५-६६ ६७॥

उक्तलक्षणहीनस्य वञ्चकस्य शठात्मनः।
नास्तिकस्य कृतघ्नस्य भोगासक्तस्य सर्वदा ॥६८॥
स्वस्याभिनयतो नित्यं जीवन्मुक्तस्थितिं पराम्।
गुरुभक्तयादिहीनस्य न वक्तव्याः कदाचन ॥६९॥
कर्म्मिभ्यश्चापि भक्तेभ्यो ज्ञानिभ्यश्चापि मारुते!।
गोपनीयमिदं नित्यं वाच्यन्त्वात्मैक्ययोगिनाम्॥७०।

वेदान्तार्था गोपनीयाश्च सर्वे,
तुभ्यं प्रोक्ताः पारवश्येन सूक्ष्माः।
तस्मादस्मान्नान्यदस्तीह गोप्यं,
सर्वस्वं वै वायुसूनो! ममैतत् ॥७१॥

ताष्षोडश्यस्सूक्ष्ममात्राः प्रयुक्ता,
ओङ्कारस्य ब्रह्मचैतन्यरूपाः।

उक्त लक्षणों से हीन, वञ्चक, शठ, नास्तिक, कृतघ्न, निरन्तर भोगासक्त, गुरुभक्ति आदि से हीन तथा जो अपनी सर्व्वोत्कृष्ट जीवन्मुक्त स्थिति का सर्वदा नाट्य करता हो, उसे कभी नहीं कहनी चाहिये ॥ ६८-६९ ॥ हे मारुते! कर्मी, भक्त और ज्ञानी पुरुषों से भी इन्हें नित्य छिपाना चाहिये। ये ब्रह्म और आत्मा की एकता करनेवाले योगियों को ही बताई जायं ॥ ७० ॥ वेदान्त के ये सब सूक्ष्म अर्थ गोपनीय होने पर भी मैंने तुम्हें पराधीनता के कारण (तुम्हारी भक्ति से तुम्हारे अधीन होने के कारण) बताये हैं अतः इससे भिन्न छिपाने योग्य और कुछ भी इस संसार में नहीं है। वायु-पुत्र! यही मेरा सर्वस्व है ॥ ७१ ॥ ॐकार की ब्रह्मचैतन्य स्वरूप जो सोलह सूक्ष्म मात्राएं कही गई हैं और उनके भेद, सात भूमि

तासां भेदास्सप्तभूम्योऽप्यवस्था-
षोडश्योन्याः किन्त्वितोऽन्यद्रहस्यम् ॥७२॥
प्रष्टव्यार्थो नैव कश्चित्त्वयान्यो,
वक्तव्यार्थो नैव कश्चिन्मया वा ।
आचार्य्येण श्रीमता मे तथापि
श्रोतव्यार्थस्तेऽस्ति चेत्पृच्छ भूयः ॥७३॥

इति तत्त्वसारायण उपासनाकाण्डस्य द्वितीयपादे सर्ववेद-
रहस्यार्थासु श्रीरामगीतासूपनिषत्सु तारकप्रणव-
विभागयोगोनाम त्रयोदशोध्यायः

तथा अन्य सोलह अवस्थाओं के रूप में कहे हैं, इससे भिन्न ॐकार का और क्या रहस्य होसकता है ? ॥ ७२ ॥ अब न तुम्हारे कोई पूछने योग्य बात रही है और न मेरे कहने योग्य ही कोई बात है तथापि श्रीमान् आचार्य अर्थात् गुरुदेव से सुनने योग्य तुम्हारी कुछ बात हो तो मुझसे पुनः पूछो ॥ ७३ ॥

इस प्रकार तत्त्वसारायण के अन्तर्गत उपासनाकाण्ड के द्वितीय
अध्याय में कथित समस्त वेदों के अर्थों को प्रकाश करने
वाली श्रीरामगीताउपनिषद् का तारकप्रणवविभाग-
योगनामक त्रयोदशवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

महावाक्यार्थविवरणम् ।

हनूमानुवाच ।

श्रीराम ! जगतीनाथ ! महावाक्यचतुष्टयम् ।
चतुर्वेदरहस्यार्थं वदन्ति ब्रह्मवादिनः ॥ १ ॥
उपदेशक्रमं तस्य तथाभ्यासक्रमं ततः ।
अनुबन्धक्रमञ्चापि यथावद्वद मे गुरो ! ॥ २ ॥

श्रीराम उवाच ।

हनूमन्नृग्यजुःसामाथर्वणाख्या हि विश्रुताः ।
चत्वारोऽकृतवाग्रूपा वेदा आद्यन्तवर्जिताः ॥३॥
तेषामाद्ये स्थितं वाक्यं प्रज्ञानंब्रह्म चेत्यदः ।
पदद्वयवदाचार्य्यैरादौ समुपदिश्यते ॥ ४ ॥

हनुमान्‌जीने कहा--हे पृथ्वीनाथ श्रीरामचन्द्रजी ! ब्रह्मवादिगण कहते हैं कि चार वेदों के रहस्य के अर्थस्वरूप चार महावाक्य हैं ॥ १ ॥ हे गुरो ! उन चार महावाक्यों का उपदेश क्रम, अभ्यासक्रम और अनुबन्धक्रम भी मुझसे यथार्थतः कहें ॥ २ ॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहाः—हे हनुमान् ! जिनका आदि और अन्त नहीं है ऐसे ऋक्, यजुः, साम और अथर्वण नामवाले चार वेद प्रसिद्ध हैं जो स्वयंसिद्धवाणीरूप ही हैं ॥ ३ ॥ उन चार वेदों में से प्रथम अर्थात् ऋग्वेद में स्थित "प्रज्ञानंब्रह्म" (ज्ञानस्वरूप ब्रह्म) इन दो पदोंवाले वाक्य का आचार्य्यगण प्रारम्भ में उपदेश करते हैं ॥ ४ ॥ और उसके पश्चात् ही दूसरे वेद में अर्थात् यजुर्वेद

द्वितीये तु स्थितं वाक्यमहंब्रह्मास्मि चेत्यदः।
पदत्रयवदेतत्तैः पश्चादेवोपदिश्यते ॥ ५ ॥
तृतीये च स्थितं वाक्यमिदं तत्वमसीति च।
पदत्रयवदेतच्च तत एवोपदिश्यते ॥ ६ ॥
अयमात्मा ब्रह्म चेति वाक्यन्तुर्य्ये स्थितं महत्।
पदत्रयवदेतच्च तत एवोपदिश्यते ॥ ७ ॥
एवं क्रमेण वाक्यानि शिष्यो भक्तिपुरःसरम्।
अङ्गन्यासकरन्यासैर्गृह्णीयात्सद्गुरोर्मुखात् ॥८॥
यतीनां मुख्यमप्येतन्महावाक्यचतुष्टम्।
इतराश्रमिणाञ्चापि मुख्यं मोक्षेच्छुता यदि ॥९॥

में स्थित "अहंब्रह्मास्मि" (मैं ब्रह्म हूँ) इन तीन पदोंवाले वाक्य का आचार्यों के द्वारा उपदेश किया जाता है ॥ ५ ॥ अनन्तर ही तीसरे वेद में अर्थात् सामवेद में स्थित "तत्त्वमसि" (वह तुम हो) इन तीन पदवाले वाक्य का आचार्य्यगण उपदेश करते हैं ॥ ६ ॥ तदन्तर ही चौथे वेद में अर्थात् अथर्वणवेद में स्थित "अयमात्मा ब्रह्म" (यह आत्मा ब्रह्म है) इन तीन पदोंवाले श्रेष्ठ वाक्य का आचार्य्यों के द्वारा उपदेश किया जाता है ॥ ७ ॥ शिष्य को चाहिये कि इसी क्रम से भक्तिपूर्वक अङ्गन्यास करन्यास के साथ सद्गुरु के मुख से इन वाक्यों को ग्रहण करे ॥ ८ ॥ ये चार महावाक्य संन्यासियों के लिये भी मुख्य हैं और यदि मुमुक्षुता हो तो अन्य आश्रमियों * के लिये भी मुख्य हैं ॥ ९ ॥ हे कपियों में श्रेष्ठ !

* यह राजयोग अभ्यासकारी व्यक्ति की ओर लक्ष्य है।

क्रमो वाक्योपदेशस्य मयोक्तः कपिनायक ! ।
उपदेशक्रमोर्थानामिदानीं प्रच्यते शृणु ॥१०॥
अयमात्माब्रह्म वाक्यं तुर्य्यवेदगतं तु यत् ।
तस्यार्थः प्रथमं वाच्यस्सच्छिष्यायाधिकारिणे॥११॥
प्रत्यग्रूपोऽयमात्मा हि साक्षाद्ब्रह्मैव नापरः ।
इत्यैक्यं गुरुणा शुद्ध्यै पारोक्ष्येणोपदिश्यते॥१२॥
सामवेदगतं यत्तु वाक्यं तत्त्वमसीत्यथ ।
तस्यार्थः पदशो वाच्यस्सम्बन्धायोत्तमाय च॥१३॥
अखण्डं निर्गुणं ब्रह्म तत्पदेन तु लक्ष्यते ।
प्रत्यगात्मा त्वं पदेन त्वसीत्यैक्यार्थमिष्यते ॥१४॥
अहं ब्रह्मास्मि वाक्यन्तु यजुर्वेदगतं महत् ।

मैंने यह वाक्यों का उपदेशक्रम कहा है, अब अर्थों का उपदेशक्रम कहता हूँ, सुनो ॥१०॥ "अयमात्मा ब्रह्म" (यह आत्मा ब्रह्म है) यह जो चतुर्थ वेद में स्थित वाक्य है उसका अर्थ अधिकारी श्रेष्ठ शिष्य को पहले कहना चाहिये ॥११॥ यह जीवरूप आत्मा ही साक्षात् ब्रह्म ही है दूसरा कुछ नहीं है इस प्रकार ब्रह्म और आत्मा की एकता का शुद्धि के अर्थ गुरु परोक्षरूप से उपदेश करते हैं ॥ १२ ॥ अनन्तर सामवेद के अन्तर्गत 'तत्त्वमसि' यह जो वाक्य है उसका अर्थ उत्तम सम्बन्ध के निमित्त पदशः कहना चाहिये ॥ १३ ॥ तत्पद से अखण्ड और निर्गुण ब्रह्म का बोध होता है, त्वंपदसे जीवात्मा का और असि इस पदसे ब्रह्म और आत्मा की एकता का बोध होता है ॥ १४ ॥ तत्पश्चात् "अहं ब्रह्मास्मि" यह यजुर्वेदगत श्रेष्ठ वाक्य

तस्यार्थोऽनन्तरं वाच्यो ह्यभ्यासविषयार्थिने ॥१५॥
देहादिसाक्षिभूतोऽहं कूटस्थो निर्गुणं परम् ।
पूर्णं ब्रह्मास्मि शब्दोऽयमैक्याभ्यासार्थ इष्यते॥१६॥
प्रज्ञानंब्रम्ह वाक्यं यदृग्वेदगतमुत्तमम् ।
तस्यार्थो वर्णनीयोऽथ स्वानुभूतिप्रयोजनः ॥१७॥
येन जीवो विजानाति सर्वं प्रज्ञानमेव तत् ।
सर्वगं सच्चिदानन्दलक्षणं ब्रम्ह कथ्यते ॥१८॥
एवं श्रुत्वा रहस्यज्ञो हनूमान्मारुतात्मजः ।
प्रश्रयावनतोभूत्वा मृदु पप्रच्छ राघवम् ॥१९॥

हनूमानुवाच

प्रातिलोम्ये वाक्यार्थो वर्णितो योऽयमच्युत ।

है उसका अर्थ अभ्यासार्थी शिष्य को बताना चाहिये ॥ १५ ॥ अहं शब्द देहादि के साक्षिस्वरूप कूटस्थ का बोधक है, ब्रह्मशब्द श्रेष्ठ निर्गुण और पूर्णता का परिचायक है तथा अस्मि यह शब्द एकता के अभ्यास के लिये कहा है ॥ १६ ॥ पश्चात् ऋग्वेद के अन्तर्गत "प्रज्ञानं ब्रह्म" यह जो उत्तम वाक्य है उसका अर्थ आत्मानुभव के लिये वर्णन करना चाहिये ॥ १७ ॥ जिससे जीव सब समझता है वही प्रज्ञान है और सर्वव्यापक सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म कहा जाता है ॥ १८ ॥ रहस्यज्ञ वायुपुत्र श्रीहनुमान्जी ने इस प्रकार श्रवण कर और नम्रता के साथ झुककर श्रीरामचन्द्रजी से कोमल स्वर से पूछा ॥ १९ ॥ हनूमान्जी बोलेः—हे अच्युत ! आपने इन बाक्यों के अर्थका प्रतिलोमरूप से जो वर्णन किया सो

रहस्योपनिषद्वाक्य-विरोधीति विभाति मे ॥२०॥
येनेक्षते शृणोतीदं जिघ्रति व्याकरोति च ।
स्वाद्वस्वादु विजानाति तत्प्रज्ञानमुदीरितम् ॥२१॥
चतुर्मुखेन्द्रदेवेषु मनुष्याश्वगवादिषु ।
चैतन्यमेकं ब्रह्मातः प्रज्ञानं ब्रह्ममय्यपि ॥२२॥
परिपूर्णः परात्माऽस्मिन्देहे विद्याधिकारिणि ।
बुद्धेस्साक्षितया स्थित्वा स्फुरन्नहमितीर्य्यते ॥२३॥
स्वतः पूर्णः परात्मात्र ब्रह्मशब्देन वर्णितः ।
अस्मीत्यैक्य परामर्शात्तेन ब्रह्म भवाम्यहम् ॥२४॥
एकमेवाद्वितीयं सन्नामरूपविवर्जितम् ।
सृष्टेः पुराधुनाप्यस्य तादृक्त्वं तदितीर्य्यते ॥२५॥

मुझे रहस्योपनिषत् के वाक्यों से विरुद्ध ज्ञात होता है ॥ २० ॥ जिसके द्वारा यह जगत् देखता है सुनता है सूँघता है बोलता है तथा स्वादु अस्वादु को समझता है वह प्रज्ञान कहा गया है ॥२१॥ ब्रह्मा इन्द्र तथा निखिल देवताओं में और मनुष्य अश्व गो प्रभृति में एक चैतन्यस्वरूप ब्रह्म है अतः वह प्रज्ञान ब्रह्म मुझ में भी है ॥ २२ ॥ परिपूर्ण परमात्मा इस विद्याधिकारी देह में बुद्धि की साक्षिता से रह प्रकाशित होता हुआ अहं शब्द से वर्णित होता है ॥ २३ ॥ इस देह में स्वयं परिपूर्ण परमात्मा उक्त ब्रह्म शब्द से कहे गये हैं और अस्मि इस ब्रह्मात्मैक्य विचार से मैं ब्रह्म हूँ ॥ २४ ॥ नाम रूप से रहित एकमात्र नित्य अद्वितीय ब्रम्ह सृष्टि के प्रथम था और इस समय भी वह वैसा ही है इस लिये तत् शब्द कहा है ॥ २५ ॥

श्रोतुर्देहेन्द्रियातीतं वस्त्वत्र त्वं पदेरितम् ।
एकता गृह्यतेऽसीति तदैक्यमनुभूयताम् ॥२६॥
स्वप्रकाशापरोक्षत्वमयमित्युक्तितो मतम् ।
अहङ्कारादिदेहान्तात्प्रत्यगात्मेति गीयते ॥२७॥
दृश्यमानस्य सर्वस्य जगतस्तत्त्वमीर्यते ।
ब्रह्मशब्देन तद्ब्रह्म स्वप्रकाशात्मरूपकम् ॥२८॥
इत्येवं हि शिवेनोक्तं शुकब्रह्मर्षयेष्टकम् ।
अत्रानुलोम्यमेवास्ति वाक्यार्थस्य रघूत्तम ॥२९॥
रामः श्रुत्वैवमाक्षेपं सप्रमाणं हनूमतः ।
किञ्चिद्विस्मयमापन्नः प्रत्युवाच महामतिः ॥३०॥

सुननेवाले के देह और इन्द्रियों से अतीत जो वस्तु है वह यहां 'त्वं' पद से कही गई है 'असि' पद से एकता गृहीत होती है। अतः उन दोनों की (तत् और त्वं पद की) एकता का अनुभव करो ॥ २६ ॥ "अयं" इस शब्द के कहनेसे स्वप्रकाश और अपरोक्षत्व अभिमत है, अहङ्कार से लेकर देह पर्य्यन्त प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) कहा जाता है ॥ २७ ॥ देख पड़नेवाले समस्त जगत् के तत्त्व और स्वप्रकाशात्मरूप वह ब्रम्ह ब्रम्हशब्द से कहा गया है ॥ २८ ॥ हे रघुश्रेष्ठ! इस प्रकार श्रीशिवजी ने ब्रम्हर्षि श्रीशुकदेव से यही अष्टक (आठश्लोक) कहा है, इसमें वाक्यार्थ का आनुलोम्य ही (क्रमशः कथन) है ॥ २९ ॥ महामति श्रीरामचन्द्रजी श्रीहनुमान् के इस प्रकार सप्रमाण आक्षेपों को सुन कर कुछ विस्मित हो बोले ॥ ३० ॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहाः—हे

श्रीराम उवाच ।

हनूमन् ! साधुरेवायमाक्षेपः श्रुतिपूर्वकः ।
तथाप्यवेहि सिद्धान्तं मदुक्तक्रममादरात् ॥३१॥
आचार्य्येणैव कर्त्तव्यो यतस्तत्त्वमसीत्ययम् ।
उपदेशस्ततः पूर्वमिदं वाक्यमिति स्फुटम् ॥३२॥
शिष्येणैव च कर्त्तव्योऽहं ब्रह्मास्मीत्ययं यतः ।
अभ्यासस्तत एतत्तु वाक्यं पश्चादिति स्फुटम्॥३३॥
अनयोर्वाक्ययोः स्पष्टपौर्वापर्य्येण चामुना ।
आदावथर्वणं वाक्यं विध्यन्तर्ग्वेदगं महत् ॥३४॥

हनुमान् ! यह वेदोक्त आक्षेप यथार्थ ही है, तथापि सिद्धान्तरूप मेरा कहा हुआ क्रम आदर के साथ जानो ॥ ३१ ॥ क्योंकि "तत्त्वमसि" यह उपदेश आचार्य को ही करना चाहिये इस कारण यह वाक्य प्रथम है यह स्पष्ट है ॥ ३२ ॥ क्योंकि "अहं ब्रह्मास्मि" यह अभ्यास शिष्यको ही करना चाहिये इस कारण यह वाक्य तो उसके अनन्तर है यह स्पष्ट है ॥३३॥ इस प्रकार इन दोनों वाक्यों से स्पष्ट पौर्वापर्य्य (आगे पीछे) होने के कारण पहिले अथर्वणवेद का वाक्य और अन्त में श्रेष्ठ ऋग्वेदगत वाक्य को जानो * ॥ ३४ ॥

* ऋग्वेद आदि और ज्ञानकाण्डप्रधान है । ज्ञान ही मुक्ति का साक्षात् कारण है इस कारण ऋग्वेदके महावाक्य को अन्तिम सिद्ध करनेमें किसी का भी मतभेद नहीं हो सकता; परन्तु अन्य तीन वेदोंके महावाक्य के क्रम के विषयमें मतभेद आचार्य्यों के सिद्धान्तों में पाया जाता है। अधिकारभेद ही इसका कारण है। जैसे राजयोगको अन्तिम साधनप्रणाली माननेके विषय में किसीकाभी मतभेद हो नहीं सकता परन्तु मन्त्रयोग हठयोग और लययोग इन तीनों की साधनप्रणाली के क्रम में गुरुदेव शिष्य के अधिकारभेद के अनुसार परिवर्तन कर सकते हैं उसी प्रकार इन महावाक्यों के विषय में क्रमपरिवर्तन का कारण समझना उचित है।

प्रातिलोम्याभ्युपगमेऽप्यनुबन्धचतुष्टयम् ।
क्रमेण सिध्यति प्राज्ञैस्तन्न वाच्योऽन्यथा ध्रुवम्॥३५॥
रहस्योक्तोपदेशस्तु न मृषा पारमेश्वरः ।
तथा वाक्योपदेशो हि सामान्यार्थश्च मारुते ! ॥३६॥
वाक्यानुग्राहकन्यायपरिशीलनलक्षणम् ।
मननं यदि तत्रासीद्विशेषार्थस्तव स्फुरेत् ॥३७॥
अनुबन्धाविरोधेन मीमांसायामिहेदृशि ।
मदुक्तप्रातिलोम्यं हि समीचीनं भवत्यलम् ॥३८॥
त्वमेव सम्यक् पश्येदं गुरुशिष्यक्रमोदितम् ।
यजुस्सामगतं वाक्यद्वयं पवननन्दन ! ॥३९॥

इन महावाक्यों की प्रातिलोम्य से अर्थात् उलटे क्रम से प्राप्ति होने पर भी क्रमशः अनुबन्ध-चतुष्टय की सिद्धि अवश्य होती है इस कारण बुद्धिमानों को अन्यथा (अनुलोम क्रम) नहीं कहना चाहिये ॥ ३३ ॥ हे हनुमान् ! यह परमेश्वर का रहस्योपनिषद् में कथित उपदेश भी मिथ्या नहीं है क्योंकि उस प्रकार का वाक्योपदेश सामान्यार्थक अर्थात् साधारण है ॥ ३६ ॥ यदि "वाक्यानुग्राहक" न्याय के अनुसार परिशीलन करके मनन हो तो तुम्हें विशेषार्थ ज्ञात होजायगा ॥ ३७ ॥ इस प्रसङ्ग में अनुबन्ध-चतुष्टय के अविरोध से इस प्रकार की मीमांसा करने पर मेरी कथित प्रतिलोम विधि ही अत्यन्त उत्तम है ॥ ३८ ॥ हे पवनपुत्र ! गुरु और शिष्यक्रम से कथित सामवेद तथा यजुर्वेदगत इन दोनों वाक्यों को तुम ही अच्छी तरह अवलोकन करो ॥ ३९ ॥

उपदेशं विना को वा ब्रह्मात्मैक्यं समभ्यसेत् ।
अस्यां महत्यां युक्तौ ते संशयो मास्तु कश्चन॥४०॥
सद्गुरूक्तस्य चार्थस्य मन्तव्यत्वं परीक्षाया ।
श्रुत्यैव प्रोच्यते तस्मात् साधुरेषा विचारणा ॥४१॥
महावाक्यात्मको मन्त्रो गुह्याद्गुह्यतरोऽप्ययम् ।
तुभ्यं मयादरेणाद्य व्यक्त एवोपदिश्यते ॥४२॥
वाक्यावधारणेऽप्यत्र कृतकृत्यो भवेन्नरः ।
विविच्य किमु वक्तव्यमेवमर्थावधारणे ॥४३॥
सर्वमन्त्रोपदेष्टृभ्यो महावाक्योपदेशिकः ।
उत्तमः सर्वदाराध्यस्ततोऽप्यर्थोपदेशिकः ॥४४॥
महावाक्यार्थदातारं प्राणेभ्योप्यधिकं बुधाः ।

उपदेश के विना ब्रह्म और आत्मा की एकता का कौन अभ्यास कर सकता है इस प्रबल युक्ति में तुम कुछ संशय मत करो ॥ ४० ॥ और सद्गुरु के मुख से कथित अर्थ की परीक्षा करके मन्तव्य स्थिर करना ऐसा श्रुति ही कहती है । अतः यह विचार करना उत्तम है ।: ४१ ॥ यह महावाक्यात्मक मन्त्र अत्यन्त गोपनीय होने पर भी मैंने आज आदर के साथ तुमसे स्पष्ट रूपसे ही कह दिया है ॥ २४ ॥ इन महावाक्यों के ग्रहणमात्र से मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है, विचारपूर्वक उनके अर्थ ग्रहण करने पर तो कहना ही क्या है ? ॥४३॥ सब प्रकार के मन्त्रोपदेशकों की अपेक्षा महावाक्योपदेशक श्रेष्ठ हैं और महावाक्यों के अर्थ का उपदेश करने वाला उससे भी बढ़कर निरन्तर आराधना करने योग्य है ॥ ४४ ॥ विद्वानों ने महावाक्यों के अर्थ के

आहुः प्राणाधिकात्मैक्यनिष्ठा प्राप्ता यतोऽमुना॥४५॥
यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रवर्धन्ते सुविस्तराः ॥४६॥
महावाक्योदितानर्थानेताञ्छ्रुत्वा ममाननात्।
मत्वा मया स्वयं ध्यात्वा मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥४७॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व्वसंशयाः ॥
क्षीयन्ते तव कर्म्माणि मयि दृष्टे परावरे ॥४८॥
एवं सति मदुक्तार्थे तवान्यः संशयो भवेत्।
दशोपनिषदश्श्रैष्ठ्यमष्टोत्तरशतादपि ॥४९॥
अथवा साम्यमेवास्तां समान्यादुभयोरपि।

बताने वाले को प्राणों से भी बढ़कर कहा है क्योंकि प्राणों से भी बढ़कर ब्रह्मात्मैक्यनिष्ठा इस महावाक्यार्थदाता से ही प्राप्त होती है ॥ ४५ ॥ जिस पुरुष की देवता में परम भक्ति है और जैसी देवता में भक्ति है वैसी गुरु में है उसी के लिये ये उक्त अर्थ विस्तार के साथ बढ़ते हैं ॥ ४६ ॥ मेरे द्वारा महावाक्यों के कथित इन अर्थों को मेरे मुख से श्रवण कर तथा मनन कर और उनका स्वयं निदिध्यासन करके तुम अवश्य ही मुझको प्राप्त करोगे ॥ ४७ ॥ मुझ परम श्रेष्ठतम के देखने पर तुम्हारे हृदय की ग्रन्थि (चिज्जडग्रन्थि) छूट जायगी, सम्पूर्ण संशय छिन्न हो जायँगे और सब कर्म्म क्षीण हो जायँगे ॥ ४८ ॥ ऐसा होने पर भी मेरे कहे हुए अर्थ में तुमको कोई अन्य सन्देह हो तो कहा जाता है कि १०८ उपनिषदों से भी दस उपनिषत् श्रेष्ठ हैं ॥ ४९ ॥ अथवा दोनों की समानता ही है

महावाक्योपदेशस्य नाधिक्यमिति मारुते ॥५०॥
नैष युक्तस्समाधीनामष्टोत्तरशते यतः ।
स्वानुभूत्येकहेतूनां प्रपञ्चो नेतरत्र तु ॥५१॥
यथात्र कृतयज्ञस्य फलं स्वर्गेऽनुभूयते।
तथा दशोक्तवाक्यानां फलमष्टोत्तरे शते ॥५२॥
अहमेव यतोऽस्म्यर्थो वाक्यानां महतामपि।
ततो मदेकशरणो मद्याजी मांनमस्कुरु ॥५३॥
मद्दर्शनं मच्छ्रवणं मदेकमननं सदा।
मन्निदिध्यासनं नित्यं समाधिश्चास्तु ते मयि॥५४॥
एवं यद्यावयोर्भेदो गुरुः शिष्य इतीरितः।

क्योंकि हे मारुते! दोनों में महावाक्यों के उपदेश की समानता रहने से अधिकता नहीं है॥ ५० ॥ क्योंकि, आत्मानुभव के एक मात्र कारण स्वरूप समाधियों का प्रपञ्च (वर्णन) १०८ उपनिषदों में है, अन्यत्र नहीं है यह कहना युक्तियुक्त नहीं है॥ ५१ ॥ जैसे यहां (भूलोक में) किये हुए यज्ञ का फल स्वर्ग में अनुभव किया जाता है वैसे ही दशोक्त (दशोपनिषदों में कथित) वाक्यों का फल अष्टोत्तरशत उपनिषदों में पाया जाता है ॥ ५२ ॥ जब कि महावाक्यों का भी अर्थस्वरूप मैं ही हूँ तो एकमात्र मेरे ही शरण में रहकर मेरा यजन करो और मुझे नमस्कार करो ॥ ५३ ॥ मेरा दर्शन, मेरा श्रवण, एकमात्र मेरा ही सदा मनन और मेरा निदिध्यासन तथा मुझ में निरन्तर तुम्हारी समाधि बनी रहे॥ ५४ ॥ इस प्रकार जो हम दोनों में गुरु शिष्य-

चैतन्यैकस्वरूपत्वादात्मनो गलितो भवेत् ॥५५॥
वस्तुतो हि त्वमेवाहमहमेह त्वमद्य वा ।
आवयोर्भेदवार्ता तु व्यवहारैकगोचरा ॥५६॥
त्वामहं वेद्मि सर्वज्ञो मां त्वं वेत्सि न सर्वथा ।
अतोऽत्र भेदस्सिद्धोऽस्ति व्यवहारेऽञ्जनासुत!॥५७॥
कालत्रयेऽप्यनन्यत्वमन्यत्वं वा न युज्यते ।
आद्यन्तयोरनन्यत्वान्मध्येऽन्यत्वाच्च कार्य्यतः॥५८॥
नापि मध्यगतान्यत्वमविनाशि कथञ्चन ।
मृण्मध्यस्थघटत्वस्य विनाशित्वप्रदर्शनात् ॥५९॥
त्वं शिष्यलक्षणोपेतो मदन्यस्सततं यदि ।

रूप भेद कहा गया है सो आत्मा के एकमात्र चैतन्यस्वरूप होने से नष्ट हो जाता है ॥ ५५ ॥ वास्तव में तुम ही मै हूँ और मैं ही तुम हो किन्तु इस समय हम दोनों के बीच में जो भेद की बात है वह केवल व्यवहारसम्बन्धिनी है ॥ ५६ ॥ हे अञ्जनी-पुत्र ! मैं सर्वज्ञ हूँ अतः तुमको जानता हूँ परन्तु तुम मुझे सर्वथा नहीं मानते इससे यहां व्यवहार में भेद बनाहुआ है ॥ ५७ ॥ आदि और अन्त में अनन्यत्व और कार्य्यसम्बन्ध से मध्य में अन्यत्व होने से हम दोनों का तीनों काल में (आदि अन्त और मध्य काल में) अन्यत्व या अनन्यत्व नहीं हो सकता ॥ ५८ ॥ मध्यगत अन्यत्व भी किसी प्रकार अविनाशी नहीं है क्योंकि मृत्तिकास्थित घटत्व का विनाश देख पड़ता है ॥ ५९ ॥ शिष्य के लक्षणों से युक्त तुम यदि निरन्तर मुझ से पृथक् होगे तो, मुझे

प्रकुप्येयुः श्रुतेः शब्दा मम पूर्णत्ववादिनः ॥६०॥
अतस्त्वं श्रुतियुक्तिभ्यां त्वद्भिदां व्यावहारिकीम्।
निश्चित्य मे लभस्वारादभिदां पारमार्थिकीम्॥६१॥
इत्युक्तः कपिशार्दूलः परमानन्दपूरितः।
प्रणम्य शिरसा राममिदं वचनमब्रवीत् ॥६२॥

हनूमानुवाच।

कृतार्थोऽहं कृतार्थोऽहं कृतार्थोऽहं पुनः पुनः।
अद्य मे सफलं जन्माप्यद्य मे सफलं तपः ॥६३॥
अद्य मे सफलं दानमद्य मे सफलं कुलम्।
अद्य मे सफलं कृत्यमद्य मे सफलं कलम्॥६४॥
अहो ज्ञानमहो ज्ञानमहो सुखमहो सुखम्।

पूर्ण कहनेवाले वेदवाक्य कुपित होंगे अर्थात् वेदसिद्धान्तविरुद्ध हो जायगा॥ ६०॥ इस कारण वेदवाक्य और युक्तियों से तुम अपने भेद को व्यवहारिक जानकर ही शीघ्र ही मेरे पारमार्थिक अभेद को लाभ करो॥ ६१॥ इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी के कहने पर कपियों में श्रेष्ठ श्रीहनुमान्जी परमानन्द से परिपूर्ण हो अवनतशिर से श्रीरामचन्द्रजी को प्रणाम करके यह वचन बोले॥ ६२॥ हनुमान्जी बोलेः–मैं कृतार्थ हुआ, कृतार्थ हुआ और पुनः पुनः कृतार्थ हुआ। आज मेरा जन्म सफल हुआ और आज मेरा तप सफल हुआ॥ ६३॥ आज मेरा दान सफल हुआ और आज मेरा कुल सफल हुआ। आज मेरी करनी सफल हुई और आज मेरा बल सफल हुआ॥६४॥ अहा, क्या ही ज्ञान है, कैसा ज्ञान है! अहा, क्याही सुख है, कैसा सुख

अहो शास्त्रमहो शास्त्रमहो गुरुरहो गुरुः ॥६५॥
रामचन्द्र ! दयासिन्धो ! सर्ववेदान्तसागर ! ।
तुभ्यं देयं न पश्यामि किञ्चिदत्र न मामपि ॥६६॥
त्वमेव देहश्च मम त्वमेव,
सर्वेन्द्रियाणि त्वमिदं मनश्च ।
प्राणास्त्वमेव त्वमहञ्च सर्व्वं,
त्वमेव मे मोचक देशिकेश ॥६७॥
अपारसंसारसमुद्रमग्नं,
मां श्वापदं ह्युद्धृतवाँस्त्वमेव ।
अतस्त्वदन्यो मम कोऽत्र नाथ-
स्त्रातास्त्वयोध्येश नमो नमस्ते ॥६८॥

है ! अहा, क्या ही शास्त्र है, कैसा शास्त्र है ! अहा, क्या ही गुरु हैं, कैसे गुरु हैं ! ॥ ६५ ॥ हे समस्त वेदान्त के सागर, दयासिन्धु रामचन्द्रजी ! आपको देने योग्य वस्तु मैं यहां कुछ भी नहीं देखता हूँ और अपने को भी नहीं देखता हूँ ॥ ६६ ॥ हे मेरे भव-बन्धनों को मोचन करनेवाले सद्गुरो ! आपही मेरे देह हैं, आप ही मेरी सब इन्द्रियाँ हैं, यह मन भी आपही हैं, आपही प्राण हैं, आप और मैं सब कुछ आपही हैं ॥ ६७ ॥ अपार संसारसागर में डूबे हुए मुझ पशुका उद्धार आपने ही किया है अतः हे अयोध्येश ! आपके सिवाय मेरा इस संसार में रक्षक प्रभु दूसरा कौन है ? आपको प्रणाम है, प्रणाम है ॥ ६८ ॥ जिनके चरणकमलों का

यदङ्घ्रिपङ्केरुहदर्शनार्थं,
ब्रह्मेन्द्रपूर्वास्सकलामराश्च ।
तीव्रं तपश्चेरुरयं प्रसन्न-
स्त्वं मे रघुश्रेष्ठ ! नमो नमस्ते ॥६९॥

इति तत्त्वसारायण उपासनाकाण्डस्य द्वितीयपादे सर्ववेद-
रहस्यार्थासु श्रीरामगीतासूपनिषत्सु महावाक्यार्थ-
विवरणं नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥

दर्शन पाने के लिये ब्रह्मा, इन्द्र आदि समस्त देवगण ने भी तीव्र तप किया था, हे रघुश्रेष्ठ ! वे आप मुझ पर प्रसन्न हैं । आपको प्रणाम है, प्रणाम है ॥ ६९ ॥

इस प्रकार तत्त्वसारायणके अन्तर्गत उपासनाकाण्ड के द्वितीय
पादमें कथित समस्त वेदों के अर्थों को प्रकाश
करनेवाली श्रीरामगीता उपनिषद् का
महावाक्यार्थविवरण नामक चतुर्दशवाँ
अध्याय समाप्त हुआ ॥

नवचक्रविवेकयोगनिरूपणम्

हनूमानुवाच ।

रघुनाथ! दयासिन्धो! श्रोतव्यं निखिलं श्रुतम् ।
तथापि नवचक्राणां विवेकं मे वद प्रभो! ॥१॥

श्रीराम उवाच ।

शृणु वक्ष्याम्यशेषेण श्रुत्युक्तेनैव वर्त्मना ।
नवचक्रविवेकं ते वायुसूनो! महामते! ॥ २ ॥
मूलाधाराभिधञ्चक्रं प्रथमं समुदीरितम् ।
तत्र ध्येयं स्वरूपन्तु पावकाकारमुच्यते ॥ ३ ॥
स्वाधिष्ठानाभिधञ्चक्रं द्वितीयञ्चोपरि स्थितम् ।
प्रवालाङ्कुरतुल्यन्तु तत्र ध्येयं निगद्यते ॥ ४ ॥

हनूमान्जी बोलेः-- हे दयासागर! श्रीरामचन्द्रजी! मैंने सुनने के योग्य सभी बातें आप से सुनी; तौभी हे प्रभो! मुझे नवचक्रों का विचार आज्ञा करिये ॥ १ ॥ श्रीरामचन्द्रजी बोले हे महामति हनूमान्! मैं वेदविहित मार्ग से हीं नवचक्रों का विचार निःशेष रूप से तुम्हें कहूँगा, सो सुनो ॥ २ ॥ पहिला मूलधार नामक चक्र कहा गया है, और उस चक्र में अग्नि की तरह आकार वाले स्वरूप का ध्यान करना कहा है ॥ ३ ॥ और स्वाधिष्ठान नामक दूसरा चक्र मूलाधार से ऊपर विद्यमान है, उस में ध्यान करने योग्य स्वरूप मूंगे के अंकुर के समान कहा गया है ॥ ४ ॥

तृतीये नाभिचक्रे तु ध्येयं रूपं तडिन्निभम् ।
तुर्य्ये हृदयचक्रे तु ज्योतिर्लिङ्गाकृतीर्यते ॥ ५ ॥
पञ्चमे कण्ठचक्रे तु सुषुम्ना श्वेतवर्णिनी ।
ध्येयं षष्ठे तालुचक्रे शून्यं चित्तलयार्थकम् ॥ ६ ॥
भ्रूचक्रे सप्तमे ध्येयं दीपाङ्गुष्ठप्रमाणकम् ।
आज्ञाचक्रेऽष्टमे ध्येयं रूपं धूम्रशिखाकृति ॥ ७ ॥
आकाशचक्रे नवमे परशुस्स्वोर्द्ध्वशक्तिकः ।
एवं क्रमेण चक्राणि ध्येयरूपाणि विद्धि च ॥ ८ ॥

तीसरा नाभिचक्र है, उसमें तो बिजली के समान रूप का ध्यान करना चाहिये, और चौथे हृदयचक्र में ज्योर्लिङ्ग स्वरूप का ध्यान कहा गया है ॥ ५ ॥ श्वेतवर्णा सुषुम्ना को पाँचवें कण्ठचक्र में ध्यान करना चाहिये और छठें तालुचक्र में चित्त के लय करने के हेतु शून्यस्वरूप का ध्यान करना योग्य है ॥ ६ ॥ सातवें भ्रूचक्र में अंगुष्ठ प्रमाण दीपशिखा का ध्यान कथित है। आठवें आज्ञाचक्र में धूम्रशिखा के आकारवाले रूप का ध्यान करना योग्य है ॥ ७ ॥ नवें आकाशचक्र में स्वोर्द्ध्व शक्तिवाले परशु का ध्यान कथित है * इस क्रमसे ध्येयस्वरूप चक्रों को जानो ॥ ८ ॥

* शास्त्रों में प्रायः सात चक्र का वर्णन है, उनमें से सातवाँ सहस्रदल कहाता है। कुलकुण्डलिनी प्रकृतशक्ति प्रथम चक्रमें सुप्त रहती है और उसका स्थान छठें चक्र तक है। सातवां चक्र परमपुरुषका स्थान कहाता है। लययोगका यह सिद्धान्त है कि सोई हुई शक्ति को योगक्रिया द्वारा जगाकर छःओं चक्रोंके बीच से क्रमशः ऊँचेकी ओर लेजाकर सातवें चक्र में पहुँचा देने से ही प्रकृति निर्गुणपुरुष में लय होजाती है, तभी समाधि का उदय करके योगी मुक्तिपद को प्राप्त कर लेता है। यह योग का साधारण सिद्धान्त है। इसको षट्चक्रभेदन योग कहते हैं। यह साधन मंत्रयोग में भी है और लययोग में भी है। मंत्रयोग में मन्त्र-उद्धारद्वारा यह साधन किया जाता हैं; उसमें कल्पनाकी सहायता रहती है और लययोगमें आध्यात्मिक ज्योतिकी सहायता से देखते हुए यह शिवशक्ति योग किया जाता है। इस साधनके द्वारा इन चक्रों का प्रत्यक्ष दर्शन होता है। इस ग्रन्थमें जो नौ चक्रोंका वर्णन है सो प्रारम्भिक साधन के विचारसे इन्हीं सातोंचक्रोंका विस्तार करके नौ की कल्पना की गई है।

अखण्डैकरसत्वेन ध्येयस्यैक्येऽप्युपाधितः ।
आकारा विविधा युक्ता नोपाधिश्चेतरस्स्वतः ॥९॥
विद्याशक्तिविलासेन पावकाद्विस्फुलिङ्गवत् ।
एकस्माद्ब्रह्मणोऽखण्डात् विविधाकृतयोऽभवन्॥१०
प्रत्यगात्माभिधानान्तदेतेषां ध्येयवस्तुनाम् ।
अचेतनत्वं स्वप्नेऽपि न शंक्यं विबुधैरपि ॥११॥
अन्ये च योगिभिर्ध्यानेष्वाकाराश्चेतनात्मकाः ।
दृश्यन्ते तांश्च वक्ष्यामि सावधानमनाश्शृणु ॥१२॥
वटस्य कणिकाकारश्श्यामाकसदृशः क्वचित् ।
श्यामाकतण्डुलाकारो बालाग्रशतभागवत् ॥१३॥

अखण्ड और एकरस होने के कारण ध्येय की एकता होने पर भी उपाधिभेद से उस के आकार अनेक प्रकार के होना युक्त ही है, और उपाधि भी उस से भिन्न नहीं हैं ॥ ९ ॥ विद्याशक्ति के विलास के कारण एक अखण्ड ब्रह्म से अनेक प्रकार की आकृतियां (स्वरूप) अग्नि से चिनगारियों की तरह उत्पन्न हुई हैं ॥१०॥ इस कारण ये प्रत्यगात्मा नामक ध्येय पदार्थ अचेतन हैं ऐसी शंका स्वप्न में भी विद्वानों को भी नहीं करनी चाहिये ॥ ११ ॥ और भी चेतनात्मक आकार योगिजनों को ध्यान में दिखाई पड़ते हैं, उन को कहूँगा, समाहितचित्त हो कर सुनो ॥ १२ ॥ वट के बीज के समान, कहीं सांवांधान के बीज के समान, सांवां-धान के चावल के समान, बाल की नोक के शतांश के समान ॥ १३ ॥

नीवारशुकवच्छुक्रज्योतिर्वत् सूर्य्यवत् क्वचित् ।
चन्द्रवच्चाणुवत्सूक्ष्मप्रादेशपरिमाणवत् ॥ १४ ॥
खद्योतवच्च स्फटिकसदृशस्तारवत् क्वचित् ।
नीलज्योतिः क्वचिद्रक्तज्योतिः शुभ्रद्युतिः क्वचित्॥१५॥
विविधज्योतिरन्यत्र ज्योतिषां ज्योतिरेव सः ।
अभिव्यक्तिकरा एवमाकारा ब्रह्मणि स्थिताः ॥१६॥
योगिनां यतचित्तानां जितश्वासेन्द्रियात्मनाम् ।
ध्यानेनामी प्रकाशन्ते चिदाकाराः पुनः पुनः ॥१७॥

नीवार की नोक के समान, शुक्रतारा की ज्योति के समान, कहीं सूर्य्य के समान, चन्द्रमा के समान, अणु के समान, सूक्ष्म प्रादेश (अंगूठे के अग्रभाग से तर्जनी के अग्रभाग तक) के आकार के समान ॥ १४ ॥ जुगनू के समान, स्फटिक के समान, कहीं शुद्ध मुक्ता के समान, कहीं नीली ज्योति कहीं लाल ज्योति कहीं शुभ्र ज्योति ॥ १५ ॥ और कहीं अनेक तरह की ज्योति दिखाई देती हैं, और वह ज्योतियों का भी ज्योतिस्वरूप है, इस प्रकार से साक्षात् करानेवाले आकार, ब्रह्म में स्थित हैं • ॥ १६ ॥ जित-प्राण जितेन्द्रिय जितात्मा संयतचेता योगियों को ध्यानद्वारा, ये सब चेतन आकार, बार बार देख पड़ते हैं ॥ १७ ॥ योगिजन को

• जैसे प्रणवरूपी अखण्ड नाद के सुनने से पहले योगीको झिन्झिनी किङ्किणी बंसी मृदङ्ग वीणा आदि खण्डनाद सुनाई देते हैं उसी प्रकार शुद्ध ब्रह्मज्योतियाँ अर्थात् शुद्ध प्रकृतिकी अखण्ड ज्योतिके दर्शन होनेसे पहले इस प्रकारकी अनेक खण्डज्योतियाँ योगी को दिखाई दिया करती हैं। यह सब मनःस्थैर्य्यके पूर्व्व शुभ लक्षण हैं।

व्यवहारदशायाञ्च योगिनः खण्डरूपकम् ।
स्तम्भकुड्यकुशूलादिष्विदं ज्योतिः प्रकाशते॥१८॥
यत्र यत्र विकारेषु दृष्टिः पतति योगिनः ।
ते सर्व्वे चिन्मया भान्ति तडिद्वत्तत्क्षणे भृशम्॥१९॥
उक्तात्मभानतः पूर्व्वं पश्चाच्च विविधाः कपे !
अभिव्यजन्त एतस्य नादास्तत्सिद्धिसूचकाः॥२०॥
मृदङ्गनादवद्घण्टानादवन्मेघनादवत् ।
वीणानिनादवच्छङ्खनादवत्तेऽप्यनेकधा ॥२१॥
नादान्ते विदितं ज्योतिर्येनैव ध्यानयोगतः ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥२२॥

व्यवहारदशा में भी यह खण्डस्वरूप ज्योति स्तम्भ, भित्ति और कुशूल (अन्न रखने की कोठी) आदि में प्रतीत होती है ॥ १८ ॥ जिन जिन विकृत पदार्थों में योगिजन की दृष्टि पड़ती है, वे सब उस समय बिजली की तरह निश्चय ही चित्स्वरूप भासमान होते हैं ॥ १९ ॥ हे हनूमान् ! उक्त आत्मज्योति के भान से पहले और पीछे उसकी सिद्धि के सूचक नाद अनेक प्रकार के योगी को सुनाई पड़ते हैं ॥ २० ॥ वे शब्द भी मृदङ्ग, घण्टा, मेघ, वीणा और शंख के शब्दों की तरह अनेक प्रकार के होते हैं ॥ २१ ॥ जिसने नाद के अन्त में ध्यानयोग से ज्योतिस्वरूप को प्राप्त किया है, उसीकी इन्द्रियां उसके ऐसी वश में आजाती हैं जैसे अच्छे घोड़े सारथी के वशीभूत होजाते हैं ॥ २२ ॥ और जिसने

येनाविदितमेतत्तु ज्योतिरब्रह्मताधिया।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥२३॥
ज्योतिरेव परं ब्रह्म ज्योतिरेव परं सुखम्।
ज्योतिरेव परा शान्तिः ज्ज्योतिरेव परं पदम्॥२४॥
ज्योतिरेव परं लक्ष्यं ज्योतिरेव परा गतिः।
ज्योतिरेव परं रूपं तस्माज्ज्योतिर्विलोकयेत्॥२५॥
ज्योतिरेव परंब्रह्म ब्रह्मैव ज्योतिरव्ययम्।
ज्योतिरेव परात्मासौ परात्मा ज्योतिरुत्तमम्॥२६॥
ज्योतिश्चाहमहं ज्योतिः ज्योतिस्त्वं त्वं च तत्खलु।
तस्मात्सर्व्वप्रयत्नेन ज्योतिरन्वेषणङ्कुरु॥ २७॥
अंशांशित्वविभागोऽयं प्रत्यगात्मपरात्मनोः।

अब्रह्मबुद्धि से इस ज्योति को नहीं जाना है, उसकी इन्द्रि उसके वश में नहीं आतीं जैसे कि दुष्ट घोड़े सारथी के वश में नहीं रहते हैं ॥ २३ ॥ ज्योतिही परब्रह्म है, ज्योतिही परमसुख है, ज्योतिही परमशान्ति है और ज्योतिही परमपद है ॥ २४ ॥ ज्योति ही परमलक्ष्य है, ज्योतिही परमगति है, ज्योतिही परमरूप है अतएव ज्योति को ही देखना चाहिये ॥ २५ ॥ ज्योतिही परब्रह्म है और ब्रह्मही अविनाशी ज्योति है, ज्योतिही परमात्मा है और यह परमात्मा उत्तम ज्योति है ॥ २६ ॥ ज्योति मैं हूँ और मैं ज्योति हूँ ; ज्योति तुम हो और तुमही ज्योति हो। अतएव सब प्रयत्नोंसे ज्योतिकी खोज करो ॥ २७ ॥ प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) और परमात्मा का यह अंशत्व और अंशित्वबिभाग

आब्रह्मात्मैक्यबोधात्स्यात्सफलो न ततः परम् ॥२८॥
नवचक्रेषु यः पश्येत् यत्र कुत्रापि योगतः ।
प्रत्यगात्मानमन्तेऽयं ब्रह्मलोके महीयते ॥ २९ ॥
विज्ञाननिश्चितार्थानां यतीनां या परागतिः ।
प्रोक्ता सैवास्य विदुषो नात्र कार्य्या विचारणा ॥३०॥
उक्तलक्षणमात्मानं कूटस्थं सद्गुरोर्मुखात् ।
श्रुत्वाऽत्रपश्येद्ध्यानेन मुद्रया भद्रयापि च ॥३१॥
एतद्दर्शनहीनस्य वाक्यार्थश्रवणादिषु ।
हनूमन्नाधिकारोऽस्ति चित्तसंशुद्ध्यसंभवात् ॥३२॥

है । ब्रह्म और आत्मा की एकता का ज्ञान होने तक सफल अर्थात् प्रयोजनीय है, इसके पश्चात् नहीं ॥ २८ ॥ योगद्वारा नवचक्रों में से जिस किसी चक्रमें भी जो प्रत्यगात्मा को देखता है, वह अन्तमें ब्रह्म लोक को प्राप्त होता है ॥ २९ ॥ विज्ञानसे जिन्होंने तत्त्वज्ञान प्राप्त किया है ऐसे संन्यासियोंकी जो उत्तम गति होती है, वही गति प्रत्य-गात्मा के देखनेवाले विद्वान् की होती है, इसमें विचार की कोई बात नहीं है ॥ ३० ॥ ऊपर कहे हुए लक्षणों से युक्त कूटस्थ ज्योतिस्वरूप आत्मा को सद्गुरु के मुख से सुनकर ध्यान से और उत्तम मुद्रायुक्त होकर उसका यहीं दर्शन करना चाहिये ॥ ३१ ॥ हे हनूमान् ! इस ज्योतिःस्वरूप आत्मदर्शन से विहीन व्यक्तिका महावाक्योंके अर्थश्रवणादि में अधिकार नहीं है, क्योंकि इस दर्शन के विना चित्तकी शुद्धिका होना सम्भव नहीं है* ॥ ३२ ॥

* योग चार प्रकार के हैं, मन्त्रयोग, हठयोग लययोग और राजयोग । ब्रह्मकी अपरोक्षानुभूति करानेवाला एकमात्र राजयोग ही है राजयोग ज्ञानप्रधान है और तीनों योग क्रियाप्रधान हैं और तीनों योगोंकी सिद्धावस्थामें राजयोग की प्राप्ति होती है ।

एतदभ्यासकाले तु प्रतिबन्धा भवन्त्यलम् ।
स्वेदकम्पभयश्रान्तिनिद्रालस्यलयादयः ॥ ३३ ॥
युक्त्या सुसूक्ष्मया धीमांस्तान्निरस्य प्रयत्नतः ।
एकान्तसवेया नित्यमभ्यसेत्तमतन्द्रितः ॥३४॥
पुत्रदारादयो लोका देवा इन्द्रादयोऽपि च ।
निष्कामस्यास्य योगस्य भवेयुर्विघ्नकारिणः ॥३५॥

किन्तु इसके अभ्यास के समय में स्वेद, कम्प, भय, श्रान्ति (श्रम) निन्द्रा, आलस्य और लय (सुषुप्ति) आदि अनेक विघ्न होते हैं ॥ ३३ ॥ बुद्धिमान् पुरुष आलस्यहीन हो अत्यन्त सूक्ष्मयुक्ति से प्रयत्नपूर्वक उन विघ्नों को हटा कर एकान्त-सेवन के द्वारा नित्य उसका अभ्यास करें ॥ ३४ ॥ पुत्र स्त्री आदि संसारी जीवन और इन्द्र आदि देवतागण भी इस निष्काम योग में विघ्न * करनेवाले होते हैं ॥ ३५ ॥ परम बुद्धिमान् पुरुष

लययोगकी उन्नत अवस्था में नाद और ज्योतिकी सहायता से सविकल्प समाधि उदय होता है । उसके अनन्तर योगी को राजयोग का अधिकार प्राप्त होता है इसी कारण ऊपर कहा गया है कि ज्योतिदर्शन के अनन्तर योगिराज को आत्मज्ञान देनेवाले महावाक्यरूपीब्र ह्ममन्त्रों का अधिकार प्राप्त हो सकता है । तात्पर्य्य यह है कि मुक्ति की इच्छा करनेवाले साधक को पहले सद्गुरु की सहायता से मन्त्रयोग हठयोग अथवा लययोग इन तीनों में से किसी की योग्यता प्राप्त करके राजयोग का अधिकार प्राप्त करने के अनन्तर ब्रह्ममन्त्र का अधिकारी अपने को मानना उचित होगा ।

* संसार में पुत्रकलत्रादि का जो सम्बन्ध है वह स्वार्थ सम्बन्ध है इस कारण यह निश्चयही है कि परमार्थमें तत्पर योगीके पुत्रकलब और आत्मीय स्वजन उसकी परमार्थसिद्धिमें सहानुभूति नहीं करेंगे क्योंकि स्वार्थी व्यक्ति परमार्थ का विरोधी होता है ठीक उसी प्रकार निम्न श्रेणीके देवलोकवासी भी परमार्थपरायण योगीका विघ्नकारी बनजाते है ठीक दैवीविभूति दो प्रकारकी होती है एक देवता और दूसरे असुर । पहली दशामें असुरगण विघ्न करके अपने तामसिक राज्यका विस्तार योगी के अन्तःकरणमें करोका प्रयत्न करतें हैं और योगीके कुछ उन्नत हो जाने पर स्वार्थी देवतागण भयभीत होते हैं कि वह देवता बनकर उनका पद न छीन लेवे इस कारण से वे विघ्न करते हैं ।

वैराग्येण सुतीव्रेण तान् विघ्नांश्च महामतिः ।
निहत्याक्षुब्धहृदयो ध्यानयोगं सदाऽभ्यसेत् ॥३६॥
क्रमेण परमात्मानं सद्गुरोः करुणाबलात् ।
दृष्ट्वा योगी स्वरूपज्ञो भवेदिह जितेन्द्रियः॥३७॥
एवमुक्तः कपिश्रेष्ठः श्रद्धया परया युतः ।
जानकीरमणं शान्तं पुनः पप्रच्छ राघवम् ॥३८॥

हनूमानुवाच ।

स्वामिन्! जितेंद्रियस्यात्र लक्षणं किं वद प्रभो!।
येन विद्वानयञ्चायमविद्वान् इति वेद्म्यहम् ॥३९॥

श्रीराम उवाच ।

कामः क्रोधस्तथा दर्पो लोभमोहादयश्च ये ।
तांस्तु दोषान् परित्यज्य परिव्राण्णिर्मलो भवेत्॥४०॥

अति तीव्र वैराग्य से उन विघ्नों का भी नाश कर शान्तचित्त हो सदा ध्यानयोग का अभ्यास करे ॥ ३६ ॥ सद्गुरु की कृपा के बल से जितेन्द्रिय योगी पुरुष क्रमशः परमात्मा का दर्शन प्राप्त कर यहीं स्वस्वरूप को जान जाता है ॥ ३७ ॥ ऐसा कहने पर कपिश्रेष्ठ हनुमान्जी ने परम श्रद्धा से युक्त होकर शान्त जानकीनाथ श्रीरामचन्द्रजी से पुनः पूछा ॥ ३८ ॥ हनुमान्जी ने कहाः—हे स्वामिन्! हे प्रभो! इस लोक में जितेन्द्रिय का क्या लक्षण है, सो कहिये जिससे मैं "यह विद्वान् है और यह अविद्वान् है" इस को जान लूंगा ॥ ३९ ॥ श्रीरामचन्द्र जी बोले - काम, क्रोध, दर्प (मद) लोभ, मोह आदि दोषों को छोड़ कर परिव्राजक (सन्न्यासी) निर्मल हो जाता है ॥ ४० ॥

रागद्वेषवियुक्तात्मा समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
प्राणिहिंसानिवृत्तश्च मुनिः स्यात् सर्व्वनिस्पृहः ॥४१॥
दम्भाहङ्कारनिर्मुक्तो हिंसापैशुन्यवर्जितः ।
आत्मज्ञानगुणोपेतो यतिर्मोक्षमवाप्नुयात् ॥४२॥
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
सन्नियम्य कृतान्येव ततः सिद्धिं निगच्छति॥४३॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
अभिवर्द्धत एवायं हविषाग्निरिवाधिकम् ॥४४॥
श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च भुक्त्वा च दृष्ट्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
न हृष्यति श्लाघति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥४५॥

जिसकी आत्मा रागद्वेष से शून्य है, जिसके लिये मिट्टी का ढेला पत्थर और सोना समान है, जो प्राणियों की हिंसा नहीं करता, वह मुनि सब प्रकार से निःस्पृह है ॥ ४१ ॥ दम्भ और अहङ्कार से रहित, हिंसा और क्रूरताशून्य तथा आत्मज्ञान के गुणों से युक्त 'यति' मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ ४२ ॥ इन्द्रियों के संसर्ग से मनुष्य निःसन्देह दोषी बनता है । संयमद्वारा जब वह उन्हें वश में कर लेता है, तब ही सिद्धि को प्राप्त करता है ॥ ४३ ॥ वासनाएँ विषयों के उपभोग से कभी भी शान्त नही होतीं, किन्तु वे बढ़ती ही हैं, । जैसे कि हवनीय द्रव्योंसे अग्नि की अधिक वृद्धि होती है ॥ ४४ ॥ जितेन्द्रिय पुरुष उसीको जानना चाहिये, जो श्रवण करने योग्य वस्तु को श्रवण कर, स्पर्श करने योग्य वस्तु को स्पर्श कर, खाने योग्य वस्तु को खाकर, देखने योग्य वस्तु को देख कर और सूँघने योग्य वस्तु को सूँघ कर न प्रसन्न होता है और न उनकी प्रशंसा करता है ॥ ४५ ॥ किसी वस्तु को खोलने पर भी यह

इदं मृष्टमिदन्नेति योऽश्नन्नपि न सज्जति ।
हितं सत्यं मितं वक्ति तमजिह्वं प्रचक्षते ॥४६॥
अद्यजातां यथा नारीं तथा षोडशवार्षिकीम् ।
शतवर्षां च यो दृष्ट्वा निर्व्विकारः स षण्डकः॥४७॥
भिक्षार्थमटनं यस्य विण्मूत्रकरणाय च ।
योजनान्न परं याति सर्व्वथा पंगुरेव सः ॥४८॥
तिष्ठतो व्रजतो वापि यस्य चक्षुर्न दूरगम् ।
चतुर्युगां भुवं मुक्त्वा परिव्राट् सोऽन्ध उच्यते॥४९॥
हिताहितं मनोरामं वचः शोकावहञ्च यत् ।
श्रुत्वापि न श्रृणोतीव बधिरः स प्रकीर्तितः ॥५०॥

अच्छा है और यह बुरा है, जो इस प्रकार आसक्त नहीं होता है और जो हितकर, सत्य तथा परिमित भाषण करता है, वह 'अजिह्व' (जिह्वाविहीन) कहा जाता है ॥ ४६ ॥ आज ही उत्पन्न हुई बालिका, सोलह वर्षों की युवती और सौ वर्षों की वृद्धा इन तीनों अवस्थाओं की स्त्रियों को समानरूप से देखकर जो निर्विकार रहे वह षण्ड अर्थात् नपुंसक कहाता है ॥ ४७ ॥ भिक्षा के अर्थ और मलमूत्र त्याग के लिये एक योजना से जो अधिक भ्रमण नहीं करता, वह सर्वथा पंगुही है ॥ ४८ ॥ बैठे हुए या चलते हुए भी जिस परिव्राजक की दृष्टि चार युग अर्थात् जुआ परिमित भूमि को छोड़कर दूर नहीं पहुंचती, वह अन्ध कहा जाता है ॥ ४९ ॥ हितकारी व अहितकारी और मनोहर व शोकप्रद वचन को सुनकर भी मानो जो नहीं सुनता, वह बधिर कहा गया है ॥५०॥

सान्निध्ये विषयाणां यः समर्थोऽविकलेन्द्रियः ।
सुप्तवद्वर्तते नित्यं स भिक्षुर्मुग्ध उच्यते ॥ ५१ ॥
इन्द्रियाणि समाहृत्य कूर्म्मोऽङ्गानीव सर्व्वशः ।
क्षीणेन्द्रियमनोवृत्तिर्निराशीर्निष्परिग्रहः ॥ ५२ ॥
निर्ममो निरहङ्कारो निरपेक्षो निराशिषः ।
विविक्तदेशसंसक्तो मुच्यते नात्र संशयः ॥५३॥
सम्मानाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्व्वदा ॥५४॥
सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते ।

अनेक विषयों के निकट होते हुए जिस समर्थ पुरुष की इन्द्रियाँ चञ्चलताहीन और सुप्त के समान निरन्तर रहती हैं, उस भिक्षु (संन्यासी) को 'मुग्ध' कहते हैं ॥ ५१ ॥ जिस प्रकार कछुआ अपने अङ्ग बटोर लेता है, उसी प्रकार है सब प्रकार से इन्द्रियों को वशमें कर लेनेसे जिसकी इन्द्रियाँ तथा मनोवृत्तियां क्षीण होगई हैं, जिसे किसी प्रकार की इच्छा नहीं है और जो किसीसे कुछ सम्बन्ध नहीं रखता है, जिसे ममता नहीं, अहङ्कार नहीं, जिसको किसकी अपेक्षा नहीं अभिलाषा नहीं और जो एकान्त स्थान में रहना पसन्द करता है वह मुक्त होता है इसमें सन्देह नहीं है ॥ ५२-५३ ॥ ब्रह्मवेत्ता सम्मान से विष के समान निरन्तर भय करता है और सर्वदा अपमान की अमृत के समान इच्छा करता है ॥ ५४ ॥ वह अपमानित व्यक्ति सुखसे ही सोता है, सुखपूर्वक जागता है और इस संसार में प्रसन्नतायुक्त हो सञ्चार करता है ।

सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ॥५५॥
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन ।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्व्वीत केनचित् ॥५६॥
क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ।
सप्तद्वारावकीर्णाञ्च न वाचमनृतां वदेत् ॥५७॥
अध्यात्मरतिरासीनः सर्व्वत्र समदर्शनः ।
आत्मनैवासहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥५८॥
इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च ।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥५९॥

ऐसे ब्रह्मवेत्ता का अपमान करनेवाला नाश को प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥ लोगों के वाद वितण्डाओं को सहन करना चाहिये, किसी का अपमान नहीं करना चाहिये और इस मानव शरीर को पाकर किसी से वैर नहीं करना चाहिये ॥ ५६ ॥ किसी के क्रुद्ध होने पर क्रोध नहीं करना चाहिये, किसी के गाली देने पर कल्याणकारी वचन बोलना चाहिये और सात द्वारोंसे निकली हुई वाणी से मिथ्या भाषण नहीं करना चाहिये ॥ ५७ ॥ अध्यात्म-ज्ञान में अनुरक्त, सर्वत्र समदर्शी और एकमात्र आत्मा के आश्रय से स्थिर होकर सुख चाहनेवाले पुरुषको इस संसारमें संचार करना चाहिये ॥ ५८ ॥ इन्द्रियों के निरोधसे, राग द्वेष के क्षयसे और प्राणिमात्र की हिंसा न करने से अमृतत्व की प्राप्ति होती है ॥ ५९ ॥ तुम यह न निश्चय करलो कि उक्त लक्षण केवल

अयमर्थो यतेरेव नान्यस्येति न निश्चिनु ।
इतराश्रमिणामेष मुमुक्षुत्वे नियम्यते ॥ ६० ॥
उक्तलक्षसम्पत्तिः समा द्विविधयोगिनः ।
आधारस्थात्मयुक्ता ये निराधात्मयोगिनः ॥६१॥
तुर्य्ये हृदयचक्रे यः कूटस्थो भाति चेतनः ।
निर्लेपो जीवसाक्षित्वाद्ब्रह्मांशत्वाच्च संस्थितः॥६२॥
छत्रिन्यायेन संसारबद्धत्वमुपचर्य्यते ।
जीवाश्रयत्वाद्धंसस्य साहचर्य्याच्च सर्व्वदा ॥६३॥
नाडीनामाश्रयः पिण्डो नाड्यः प्राणस्य चाश्रयाः ।

संन्यासी के ही हैं; अन्य के नहीं हैं, अन्य आश्रमयुक्त मनुष्य यदि मोक्ष की इच्छा करें तो उनको भी इन लक्षणों का अवलम्बन करना चाहिये ॥ ६० ॥ उक्त लक्षणरूपी सम्पत्ति दोनों प्रकार के योगियों के लिये समान है। एक प्रकार के योगी वे कि जो आधारस्थ आत्मा की उपासना करते हैं और दूसरे प्रकार के वे योगी जो निराधार आत्मा का अनुभव करते हैं ॥ ६१ ॥ तुरीय (चतुर्थ) हृदय चक्र में जो कूटस्थ चैतन्य प्रतीत होता है, वह जीव का साक्षी और ब्रह्म का अंश होनेसे निर्लेप भाव से स्थित है ॥६२॥ जीव के आश्रयी होने से और निरन्तर साहचर्य होनेसे उस कूटस्थ में सांसारिक बन्धन का छत्रिन्याय से उपचार किया गया है ॥६३॥ नाड़ियों का आश्रय पिण्ड (स्थूलदेह) है। प्राणों की आश्रय स्वरूप नाड़ियां हैं। जीव * का आश्रयस्थान प्राण हैं और हंस

* सूक्ष्मशरीरधारी जीव ।

जीवस्य निलयः प्राणो जीवो हंसस्य चाश्रयः ॥६४॥
हंसशब्दोदितो ह्येष कूटस्थः प्रत्यगाह्वयः ।
ऋतपानादिरहितः सर्व्वदा भासते स्वयम् ॥६५॥
हंसशब्दः स्वयंसाक्षात् ब्रह्मात्मत्वं ब्रवीत्ययम् ।
अकारलुप्तहङ्कारात् स्वं ब्रह्म च सकारतः ॥६६॥
तस्माद्ब्रह्मात्मतासिध्द्यै हंसमन्त्रं सदाऽभ्यसेत् ।
मन्त्राणामुत्तमं मन्त्रं हंसमन्त्रं प्रचक्षते ॥६७॥
आधाराधिष्ठितत्वेन केचित्सगुणतां विदुः ।
तन्न सङ्गतमेवास्य ज्योतिष्मत्वात्स्फुलिङ्गवत्॥६८॥

(कूटस्थ) का आश्रयभूत जीव है ॥ ६४ ॥ हंस शब्द के द्वारा कथित यह प्रत्यगात्मा कूटस्थ * ऋत पान (कर्म्मफल भोग) आदि से रहित और सदा स्वयं प्रकाशमान है ॥ ६५ ॥ यह हंस शब्द साक्षात् ब्रह्म और आत्मा की एकता को स्वयं प्रकट करता है । अकाररहित 'हं' अक्षर से 'स्व' अर्थात् आत्मा का और 'स' अक्षर से ब्रह्म का बोध होता है ॥ ६६ ॥ इस कारण ब्रह्म और आत्मा की एकता सिद्धि के लिये निरन्तर हंस मन्त्र का अभ्यास करना चाहिये, क्योंकि सब मन्त्रों में उत्तम मन्त्र 'हंस' मन्त्र कहा गया है ॥ ६७ ॥ आधार पर अधिष्ठित होने के कारण कोई उसे सगुण जानते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं ही है क्योंकि वह स्फुलिङ्ग (चिनगारी) के समान ज्योतिस्वरूप है ॥ ६८ ॥ कोई

* सर्व्वव्यापक विकाररहित सच्चिदानन्दमय ब्रह्म की पूर्ण सत्ता के जिस अंश का पिण्ड में अपरोक्षरूप से योगी को साक्षात्कार होता है वही कूटस्थ कहाता है ।

ज्योतिष्ट्वं सगुणस्यापि प्रवदन्तीह केचन ।
तत्तुमायासमेतत्वान्न मुख्यमवकल्पते ।। ६९ ।।
आधारेषु समस्तेष्वप्युक्तस्य प्रत्यगात्मनः ।
द्रष्टव्यत्वस्य नियमो नैव चित्तविशुद्धये ।। ७० ।।
यत्र कुत्रापि चाधारे दृष्ट्वा ध्यानेन तं ततः ।
शुद्धचित्तो महावाक्य श्रवणेऽधिकृतो भवेत् ।।७१।।

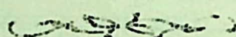
एवं विदित्वा नवचक्रसंस्थ–
मात्मानमानन्दचिदंशरूपम् ।
यः सर्वसंसारनिवृत्तिकामः
सम्पूर्णरूपं विशते क्रमेण ।।७२।।

यहां कहते हैं कि सगुण भी ज्योतिस्वरूप है, परन्तु वह ज्योति मायोपहित है अतः मुख्य नहीं मानी जाती है ।। ६९ ।। और सब प्रकार के ऊपर लिखित चक्ररूपी आधारों में चित्तविशुद्धि के लिये प्रत्यगात्मा के दर्शन का नियम नहीं है ।। ७० ।। इस कारण जिस किसी आधारमें ध्यान के द्वारा उसे देखकर * जब साधक का चित्त शुद्ध हो जाता है, तब वह महावाक्यों के श्रवण का अधिकारी होता है ।। ७१ ।। इस प्रकार जो समस्त संसार से निवृत्ति चाहता है वह, नवचक्रों में स्थित आनन्दस्वरूप और चित् के अंशरूप आत्मा को जानकर क्रमशः सम्पूर्ण स्वरूप को प्राप्त होता है ।। ७२ ।। इसके अनन्तर उक्त प्रकार के आत्मा

* यहां कूटस्थकी परोक्षानुभूति करने से तात्पर्य्य है । चक्रों के साधन की क्रिया करते हुए जहां योगी का मन स्वभाव से ठहरने लगे वहीं ध्यानयोगअभ्यास द्वारा चित्तशुद्धि करके सविकल्प समाधि की योग्यता प्राप्त करने पर योगी को राजयोग का अधिकार मिल सकता है और तभी वह ब्रह्ममन्त्र का भी अधिकारी बन सकता है । उसके पश्चात् अपरोक्षानुभूति का अधिकार क्रमशः प्राप्त होता है जो ब्रह्ममन्त्र-का फल है ।

दृष्ट्वोक्तमात्मानमथात्मविन्मुखात्
ब्रह्मात्मनोस्तत्त्वमसीति चैकताम् ।
श्रुत्वाऽथ मत्वा च तदेकनिष्ठया
प्रयाति सद्यः परमं पदं मम ॥ ७३ ॥

इति तत्त्वसारायण उपासनाकाण्डस्य द्वितीयपादे-रहस्यार्थासु श्रीरामगीतासूपनिषत्सु नवचक्रविवेक-योगनिरूपणं नाम पञ्चदशोऽध्यायः



को देखकर आत्मज्ञानी के मुख से ब्रह्म और आत्मा की एकता को 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य से सुनकर एवं एकनिष्ठा से उसका मनन करके साधक शीघ्र ही मेरे परम पदको प्राप्त होता है ॥ ७३ ॥

इस प्रकार तत्त्वसारायणके अन्तर्गत उपासनाकाण्ड के द्वितीयपादमें कथित समस्त वेदों के अर्थों को प्रकाश करनेवाली श्रीरामगीता उपनिषद् का नवचक्र-विवेकयोगनिरूपण नामक पञ्चदशवां अध्याय समाप्त हुआ ॥

अणिमादिसिद्धिदूषणम् ।

हनूमानुवाच ।

भगवन् जानकीकान्त ब्रह्मविज्ञानिनामिह ।
अणिमाद्या महासिद्धिर्लक्ष्माण्याहुश्च केचन ॥ १ ॥
ममापि तत्र विश्वासो भवत्येव यतोऽखिलाः ।
तद्वन्तः पूर्व्वका श्रीमद्वशिष्ठादिमहर्षयः ॥ २ ॥

श्रीराम उवाच ।

हनूमञ्छृणु वक्ष्यामि सावधानेन चेतसा ।
अवश्यश्राव्यमेवेदं यतः सर्व्वोऽत्र मुह्यति ॥३॥
द्रव्यादिसाध्या अष्टौ यदणिमाद्याश्च सिद्धयः ।
ब्रह्मज्ञानविरोधिन्यो मुमुक्षुस्ता न वाञ्छति ॥४॥

हनूमान्जी बोले—हे भगवन्! हे जानकीनाथ! इस संसार में अणिमादि महासिद्धियां ब्रह्मज्ञानियों के लक्षण हैं, ऐसा कुछ लोग कहते हैं ॥ १ ॥ मुझे भी उसमें विश्वास है क्योंकि पूर्वकालीन सबही श्रीवशिष्ठ आदि महर्षि अणिमादि सिद्धियों से युक्त थे ॥ २ ॥ श्रीरामचन्द्रजी बोले—हे हनूमान्! अवश्य ही सुनने योग्य इस विषय को मैं कहूँगा, सावधान चित्त होकर सुनो, क्योंकि इस विषय में सब लोग मुग्ध होते हैं ॥ ३ ॥ द्रव्यादि से साध्य जो अणिमादि आठ सिद्धियां हैं, वे ब्रह्मज्ञान की विरोधिनी हैं इस कारण मुमुक्षु पुरुष उन्हें नही चाहता ॥ ४ ॥

इच्छाधिक्येन सिद्धिः स्यादनिच्छाधिक्यतः परा।
मुक्तिरेकत्र वासो न तदन्योन्यविरुद्धयोः ॥ ५ ॥
नात्रोदाहरणीयास्ते श्रीवसिष्ठादयो यतः ।
अधिकारिकतां प्राप्ताः सर्व्वज्ञात् परमेश्वरात्॥६॥
जन्मान्तरकृतैस्तीव्रैर्ज्ञानकर्मसमुच्चयैः ।
सिद्धिज्ञाने उभे प्राप्ता अन्येषान्ते नृणां कथम्॥७॥
जगत्प्रतीतिहीनत्वाद्विदेहस्य न सिद्धिषु ।
विस्मयस्तु भवेज्जीवन्मुक्तादेरिति चेच्छृणु ॥ ८ ॥

इच्छा की प्रबलता से सिद्धि होती है और अनिच्छा की प्रबलता से परा मुक्ति होती है इसलिये परस्पर विरुद्ध होने से दोनों एकत्र नहीं रहतीं * ॥ ५ ॥ सर्वज्ञ श्रीपरमेश्वर ने वशिष्ठ आदि ऋषियों को ज्ञान के अधिकारी बनाया है इसलिये उनका यहां उदाहरण देना उचित नहीं है ॥ ६ ॥ पूर्वजन्मों में किये हुये तीव्र ज्ञान और कर्मों से उन्होंने सिद्धि और ज्ञान दोनों प्राप्त किये थे, उन दोनों को दूसरे मनुष्य कैसे पा सकते हैं ॥७॥ विदेहमुक्त को जगत् की प्रतीति न रहने के कारण सिद्धियों में आश्चर्य नहीं होता किन्तु जीवन्मुक्तादि सिद्धियों से आश्चर्यवान् होते हैं, यदि ऐसा कहो तो सुनो ॥ ८ ॥

* संयमके द्वारा सिद्धि और एकतत्त्व के द्वारा निर्विकल्प समाधिरूपी मुक्ति की प्राप्ति होती है । सयम में इच्छाशक्ति का होना जैसा आवश्यक है वैसे ही एकतत्त्व में इच्छारहित होने की परम आवश्यकता है । सुतरां सिद्धि वासना से उत्पन्न होने से समाधि की विरोधिनी है । दूसरी बात यह है कि सिद्धियां भी विषय हैं । जिस प्रकार राजा आदि विभूतियों में लौकिक सिद्धियां रहती है उसी प्रकार इच्छावान् तपस्वी या योगी में अलौकिक विषयरूपी सिद्धियां होती हैं । मुमुक्षु के लिये जैसे लौकिक विषय हेय हैं वैसे ही अलौकिक विषयरूपी सिद्धियां भी हेय हैं ।

दर्शितासु विचित्रासु सिद्धिष्वत्यद्भुतास्वपि ।
न क्वचिद्विस्मयं गच्छेज्जीवन्मुक्तो हसन्निह ॥९॥
अपि शीतरुचावर्के सुतीक्ष्णेऽपीन्दुमण्डले ।
अप्यधः प्रसरत्यग्नौ जीवन्मुक्तो न विस्मयी ॥१०॥
मायीशनिर्मितैर्भावैरत्याश्चर्य्यकरैरपि ।
अमोहितं कथं धीरं मोहयेयुः कुसिद्धयः ॥११॥
ये केचन जगद्भावास्तानविद्यामयान् विदुः ।
कथं तेषु किलात्मज्ञस्त्यक्ताऽविद्यो निमज्जति॥१२॥
सामानाधिकरण्यन्तु न कलौ स्यात्क्वचिज्जने ।

जीवन्मुक्त इस संसार में विचित्र और अत्यन्त अद्भुत सिद्धियों के देखने पर भी हँसते हुए किसी समय आश्चर्यवान् नहीं होते ॥ ९ ॥ यदि सूर्य शीतल होजायँ, चन्द्रमण्डल तापयुक्त होजाय और अग्नि की ज्वाला नीचे की ओर जावे तब भी जीवन्मुक्त आश्चर्यवान् नहीं होते ॥ १० ॥ जो माया के ईश्वर के द्वारा निर्मित अत्यन्त आश्चर्य को उत्पन्न करनेवाले भावों से मोहित नहीं होता है उस धीर पुरुष को कुसिद्धियां किसतरह मोहित कर सकती हैं ? अर्थात् ऐसे व्यक्ति नाशवान् सिद्धियों से मोहित नहीं होते ॥ ११ ॥ जितने कुछ सांसारिक भाव हैं उनको ज्ञानी लोग अज्ञानमय जानते हैं उन भावों में अविद्यारहित आत्मज्ञानसम्पन्न पुरुष कैसे आसक्त होसकते हैं ॥ १२ ॥ कलियुग में उस प्रकारके (वशिष्ठादि के समान) अधिकारी पुरुषों के न

अधिकारवतां पुंसां तादृशानामभावतः ॥१३॥
अत्र येऽद्भुतकर्म्माणो ह्यधिकारा अपीश्वराः ।
ईशांशा ऊर्जितत्वात्ते न यथा कुमुदादयः ॥१४॥
अष्टादशप्रसिद्धास्ते सिद्धिप्राधान्यवादिनः ।
अगस्त्यप्रमुखास्सिद्धास्त्वधिकाराद्गुभे गताः ॥१५॥
तस्मात्त्यक्त्वैव सिद्धीच्छाम्मुमुक्षुः पुरुषोत्तमः ।
अष्टोत्तरशताभ्यासं कुर्य्याज्ज्ञानैकवाञ्छया ॥१६॥
अष्टोत्तरशते प्रोक्ताः सिद्धयः किल मारुते ! ।

रहने से किसी एक पुरुष में एकाधाररूप से सिद्धि और मुक्ति का रहना नहीं होसकता * ॥ १३ ॥ इस संसार में जो अधिकार-हीन सामर्थ्यवान् व्यक्ति हैं वे बलशाली होने के कारण अद्भुतकर्म्मा होने पर भी कुमुदादि वानरों के समान ईश्वरांश नहीं हैं ॥ १४ ॥ सिद्धियों की प्रधानता माननेवाले अगस्त्य आदि प्रसिद्ध अठारह सिद्ध महर्षि अधिकारी होने के कारण सिद्धि और मोक्ष दोनों को प्राप्त हुए थे ॥ १५ ॥ इसलिये मोक्ष के चाहने वाले श्रेष्ठ पुरुष को चाहिये कि सिद्धियों की इच्छा को छोड़ कर ही एकमात्र ज्ञानप्राप्ति की इच्छा से एक सौ आठ (१०८) उपनिषदों का अभ्यास करे ॥ १६ ॥ हे सुचतुर हनुमान् ! १०८

* अणिमादि सिद्धियां ईश्वरकी सिद्धियां हैं। ईश्वरकी सिद्धियां किसी व्यक्ति-विशेष की इच्छा की तृप्तिके लिये प्रकट नहीं होसकतीं, समष्टि जीवोंके कल्याणार्थ प्रकट हुआ करती हैं। अतः जब तक संसार के समष्टि जीव ऐसे प्रारब्धवान् न हों कि जिनको भगवान् की सिद्धियों की सहायता मिलसके तब तक महापुरुषों में इन सिद्धियोंका प्रकट होना भी सम्भव नहीं है; क्योंकि जीवन्मुक्त महापुरुष इच्छारहित होते हैं अतः उक्त कारणों से सब समय सिद्धियों का प्रकट होना सम्भव नहीं।

मन्दबुद्ध्यनुरोधेनेत्येव विद्धि विचक्षण ॥१७॥
श्रुतिस्मृतिपुराणेषु सिद्धीनां दूषणं बहु।
श्रुतमेव ततः प्राज्ञः स्वप्नेऽप्याकाङ्क्षते न ताः॥१८॥
सकामैः सगुणोपास्त्या साध्यास्ताः सिद्धयो नृभिः।
निष्कामैर्निर्गुणोपास्त्या साध्यं ज्ञानं परात्मनः॥१९॥
एवं सति कथं नृणां द्वयोः साधनयोरिह।
फलयोर्वापि संसिद्धिः प्रकाशतमसोरिव ॥२०॥
तस्मादात्मविदामत्र लक्षणानीति सिद्धयः।

उपनिषदों में जो सिद्धियां कही गई हैं वे मन्दबुद्धियों के लिये ही हैं * ऐसा जानो ॥ १७ ॥ वेद स्मृति और पुराणों में सिद्धियों के बहुत ही दोष सुने गये हैं इस लिये विद्वान् पुरुष को स्वप्न में भी उनकी इच्छा नहीं करनी चाहिये ॥ १८ ॥ अणिमादि सिद्धियां सकाम पुरुषों के द्वारा सगुण उपासना से साध्य हैं और परमात्माका ज्ञान निष्काम पुरुषों के द्वारा निर्गुण उपासना से साध्य हैं ॥ १९ ॥ ऐसा होने पर इस संसार में मनुष्यों को प्रकाश और अन्धकार के समान दोनों साधनों और उनके दोनों फलों की सिद्धि † एक साथ कैसे होसकती है ॥२० ॥ इस कारण हे

* मन्द बुद्धि वालक को जिस प्रकार मिठाई और खिलौने का लोभ दिखाकर क ख ग घ पढ़ाना पड़ता है ठीक उसी प्रकार रजोगुण से सम्बन्ध रखने वाल मध्य अधिकार के साधकों को सिद्धियों का लोभ देकर अध्यात्मराज्यमें आगे पढ़ाना पड़ता है।

† सकामी योगी के लिये इस प्रकार की अलौकिक सिद्धियां सम्भव हैं परन्तु निष्काम तत्त्वज्ञानी राजयोगीके लिये परा सिद्धिरूपी आत्मज्ञान ही एकमात्र उपादेय है। शास्त्रों में दो प्रकारकी सिद्धियाँ कही गई हैं, यथा–अपरा सिद्धि। यद्यपि पूर्व्व कथित अपरा सिद्धियाँ योगी को उन्नत दैवी अधिकारों को भी प्राप्त करा देती हैं परन्तु वे सब ज्ञानी के निकट तुच्छ और हेय हैं और आत्मज्ञानरूपी जो परा सिद्धि है मुमुक्ष केवल उसी को प्राप्त करने में यत्नवान् रहता है ।

इमां मतिं परित्यज्य विद्ध्यन्यानि मरुत्सुत ! ॥२१॥
निर्ममत्वमहङ्कारहीनत्वं सङ्गहीनता ।
सदा शान्त्यादियुक्तत्वं संसारेऽस्मिन् विरक्तता ॥२२॥
जितेन्द्रियत्वमात्मेक्षा तत्परत्वमहर्निशम् ।
निष्परिग्रहता द्वन्द्वसमता निरपेक्षता ॥ २३ ॥
सर्वव्यापारवैमुख्यं निजानन्दैकसक्तता ।
एवमादीनि सर्वाणि ज्ञानिना लक्षणानि तु ॥२४॥
अणिमाद्यन्यसिद्धीच्छां स्वात्मसिद्धीच्छया भृशम् ।

हनुमान् ! इस संसार में "सिद्धियां ब्रह्मज्ञानियों के लक्षण हैं" इस बुद्धि को छोड़ कर * अन्य लक्षणों को जानो ॥ २१ ॥ निर्ममत्व, अहङ्कारराहित्य, निःसङ्ग होना, सदा शान्ति आदि से युक्त रहना, इस संसार से विरक्त होना ॥ २२ ॥ इन्द्रियों को वशीभूत करना, आत्मद्रष्टा होना, रात दिन आत्मज्ञान में तत्पर होना, परिग्रह (परिजन) को छोड़ना, द्वन्द्वों में समभाव रखना, किसी की अपेक्षा नहीं करना ॥ २३ ॥ सब सांसारिक व्यवहारों से विमुख होना, एकमात्र आत्मानन्दमें आसक्त रहना, इत्यादि सब ज्ञानियों के लक्षण हैं ॥ २४ ॥ जो अपने आत्मज्ञान की सिद्धि † की प्रबल इच्छा से अणिमादि अन्य सिद्धियों ‡ की इच्छा को

* कुलकामिनी किसी परपुरुष को अपना गुप्त अङ्ग नहीं दिखाती हैं; सुतरां जो स्त्री इच्छा से अपने गुप्त अङ्गों को परपुरुष को दिखावे वह कुलकामिनी नहीं है व्यभिचारिणी कहाती है ठीक उसी उदाहरण के अनुसार समझना उचित है कि योगिराट् सिद्धिका अधिकारी होने पर भी उसको प्रकाशित करने की उसमें प्रवृत्ति नहीं होगी । जो योगी सिद्धियों के प्रकाशित करने में प्रयत्न करेगा वह योगी नहीं है विषयी है ।

† परा सिद्धि ।

‡ अपरा सिद्धि ।

विहायात्मैकनिष्ठो यः स स्वसिद्धो नरोत्तमः ॥२५॥
ऐन्द्रजालिकतुल्यत्वात्सिद्धीनां नैव सत्यता ।
इति यस्य स्थिरा बुद्धिः स स्वसिद्धो नरोत्तमः ॥२६॥
दरिद्रधनिनोः पुण्यपापयोश्शत्रुमित्रयोः ।
शीतोष्णयोस्समो योस्ति स स्वसिद्धो नरोत्तमः ॥२७॥
यस्तु सिद्धीरुपेक्ष्यैव निरन्तरसमाधिना ।
नित्यानन्दमवाप्नोति स स्वसिद्धो नरोत्तमः॥२८॥
मोक्षस्य बहवः शास्त्रे प्रोच्यन्ते प्रतिबन्धकाः ।
अणिमादीच्छया तुल्यः प्रतिबन्धो न कश्चन ॥२९॥
यस्याणिमादिसिद्धीच्छा लेशमात्रापि वर्तते ।

छोड़ कर एकमात्र आत्मा में निष्ठावान् होता है वह श्रेष्ठ पुरुष स्वसिद्ध है अर्थात् आत्मसिद्धिसम्पन्न है ॥ २५ ॥ "इन्द्रजाल के खेल के समान होने से सिद्धियों की सत्यता ही नहीं है" इस प्रकार से जिसकी स्थिरबुद्धि है वह श्रेष्ठ पुरुष स्वसिद्ध है ॥ २६ ॥ जो दरिद्र धनवान्, पुण्य पाप, शत्रु मित्र और सर्दी गर्मी में समभावापन्न है वह श्रेष्ठ पुरुष स्वसिद्ध है ॥ २७ ॥ और जो सिद्धियों की उपेक्षा करके ही अविच्छिन्न (निर्विकल्प) समाधि के द्वारा नित्यानन्द को प्राप्त होता है वह श्रेष्ठ पुरुष स्वसिद्ध है ॥ २८ ॥ शास्त्र में मोक्ष के बहुत से प्रतिबन्धक कहे हैं परन्तु अणिमादि की इच्छा के तुल्य दूसरा कोई प्रतिबन्धक नहीं है ॥ २९ ॥ जिस पुरुष को अणिमादि सिद्धियों की इच्छा लेशमात्र भी रहती है उस पुरुष को आत्मज्ञान

कल्पकोट्यापि तस्यात्मज्ञानसिद्धिर्न सेत्स्यति॥३०।
विटसंसर्गवत् सिद्धसंसर्गं मोहवर्द्धकम् ।
महाभयङ्करं ज्ञात्वा सिद्धांस्त्यजति यो नरः॥३१॥
तस्य निर्विघ्नमेकान्तनिष्ठया निर्विकल्पया ।
अनायासमिहैवात्मज्ञानसिद्धिर्भवेद्ध्रुवम् ॥३२॥
यस्यात्मज्ञानगन्धस्य गन्धो वा यदि विद्यते ।
तस्य सिद्धिषु सर्वासु मोहो नोपनतास्वपि ॥३३॥
ऐन्द्रजालिककर्तापि भ्रान्तान् भ्रमयति स्वयम् ।
अभ्रान्त एव सिद्धस्तु स्वभ्रान्तो भ्रमयत्यहो॥३४॥
अज्ञानं सिद्धिरूपेण ह्यविद्याध्याससंज्ञिकम् ।

की सिद्धि करोड़ों कल्प में भी निष्पन्न नहीं होगी ॥ ३० ॥ जो पुरुष लम्पटों के संग के समान सिद्धों के संगको मोहवर्द्धक और महाभयङ्कर जानकर सिद्धों का त्याग करता है ॥ ३१ ॥ उस पुरुष को इस संसार में ही निर्विकल्प एकान्त निष्ठा से आत्मज्ञान की सिद्धि निर्विघ्न और अनायास ही प्राप्त होजाती है ॥३२॥ जिस पुरुष को आत्मज्ञान के गन्ध का भी गन्ध यदि हो तो उस पुरुष को सब सिद्धियों के प्राप्त होने पर भी मोह नहीं होता ॥ ३३ ॥ इन्द्रजाल का कर्ता भी स्वयं अभ्रान्त रहकर ही भ्रान्त लोगों को भ्रम में डालता है, किन्तु सिद्ध पुरुष स्वयं भ्रान्त होकर अहो ! लोगों को भ्रम में डालता है ॥ ३४ ॥ जो पुरुष कि शरीर को ही आत्मा मानते हैं उनमें स्वतः ही अविद्या का अध्यासरूप अज्ञान सिद्धिरूप से

देहात्मज्ञानिषु स्वैरं स्फुटमेव प्रकाशते ॥३५॥
ब्रह्मद्रोहशिवद्रोहगुरुद्रोहादिपातकम् ।
पूर्वजन्मकृतं सर्व्वं विद्धि सिद्धिफलं कपे ! ॥३६॥
पापानां महतां ज्ञानप्रतिबन्धकता यथा ।
तथाणिमादिसिद्धीनामतः सिद्धिमतिंत्यजेत् ॥३७॥
अणिमा महिमा मूर्तेर्गरिमा लघिमा तथा ।
प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वमिन्द्रियश्रुतशक्तिभिः॥३८॥
गुणासङ्गो वशित्वञ्चेत्येवमष्ट विभूतयः ।
प्रसिद्धास्ता उपेक्ष्यैव स्वस्वरूपं विचिन्तयेत् ॥३९॥
अनूर्मिमत्त्वं देहेऽस्मिन् दूरश्रवणदर्शनम् ।

स्पष्ट प्रकाशित होता है ॥ ३५ ॥ हे हनुमान् ! पूर्वजन्मकृत ब्रह्मद्रोह, शिवद्रोह, गुरुद्रोह आदि सब पापों का फल सिद्धियां हैं ऐसा जानो ॥ ३६ ॥ क्योंकि जिस तरह घोर पाप आत्मज्ञान प्राप्ति का प्रतिबन्धक है उसी तरह अणिमादि सिद्धियां भी उसकी प्रतिबन्धक हैं इसलिये सिद्धि प्राप्ति की बुद्धि को छोड़ना चाहिये ॥३७॥ अणिमा, महिमा, देहकी गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, ईशित्व और इन्द्रियों की प्रसिद्ध शक्तियों के द्वारा गुणों में अनासक्तिरूप प्राकाम्य, वशित्व, इस प्रकारकी इन प्रसिद्ध अष्ट सिद्धियों की उपेक्षा करके ही स्वस्वरूप आत्मा का ध्यान करना चाहिये ॥ ३८-३९ ॥ प्राणसम्बन्धी भूख प्यास, मन सम्बन्धी शोक मोह और शरीर-सम्बन्धी जरा मृत्यु, इन छः प्रकार की ऊर्मियों का इस शरीर में

मनोजवः कामरूपं परकायप्रवेशनम् ॥ ४० ॥
स्वच्छन्दमृत्युर्देवानां सहक्रीडानुदर्शनम् ।
संकल्पितार्थसंसिद्धिराज्ञाप्रतिहता गतिः ॥४१॥
त्रिकालज्ञत्वमद्वन्द्वं परचित्ताद्यभिज्ञता ।
अग्न्यर्काम्बुविषादीनां प्रतिष्टम्भोऽपराजयः ॥४२॥
एताश्चोद्देशतः प्रोक्ता योगधारणसिद्धयः ।
सगुणेशप्रसादेन सर्व्वाः प्राप्नोति मानवः ॥४३॥
निर्गुणेमय्यखण्डात्मन्यात्मानं धारयन् मुनिः ।
निष्कामपरमानन्दं मामेवाप्नोत्यसंशयम् ॥४४॥

न होना, दूरस्थ वस्तुओं का सुनना और देखना, मनके समान वेगवान् होना, इच्छानुसार शरीरों का धारण करना, दूसरे के मृत शरीर में प्रवेश करना ॥ ४० ॥ इच्छानुसार मृत्यु, देवताओं के साथ क्रीड़ा करना और उनका समीप से दर्शन करना, संकल्पित वस्तुओं की सिद्धि, आज्ञाकी अनर्गलगति ॥ ४१ ॥ तीनों काल का ज्ञान होना, सुख दुःखादि द्वन्द्वों से रहित होना, दूसरों के चित्तादिगत भावों को जान लेना, अग्नि, सूर्य, जल, विष आदिका प्रतिबन्ध करना, पराजित नहीं होना ॥४२॥ ये योगधारण की सिद्धियां संक्षेप से कही गई हैं, सगुण ब्रह्म कीं कृपासे मनुष्य इन सब सिद्धियों को प्राप्त करता है ॥ ४३ ॥ आत्मा को अर्थात् बुद्धि को मुझ निर्गुण अखण्डरूप ब्रह्म में समाहित करता हुआ मुनि निष्काम और परमानन्द

हनूमानुवाच ।

ईशप्रसादलब्धानां सिद्धीनां पापतुल्यता ।
कथं त्वयोक्ता श्रीराम वद मे करुणानिधे ॥४५॥

श्रीराम उवाच ।

विज्ञानप्रतिबन्धत्वसामान्यात्सिद्धयोऽखिलाः ।
ईशप्रसादलब्धा अप्यत्र हेया मुमुक्षुणा ॥४६॥
पापानीव च पुण्यानि विधूयन्ते बुधैः खलु ।
सकामपुण्यकार्य्यत्वं सिद्धीनामपि विश्रुतम् ॥४७॥
ब्रह्मलोकतृणीकारलक्षणं जायते यदि ।
वैराग्यं तस्य सिद्धीच्छा नैव जायेत काचन ॥४८॥

स्वरूप मुझको निश्चय ही पाता है ॥ ४४ ॥ हनुमान् जी बोले— हे करुणासागर, श्रीरामचन्द्रजी ! ईश्वर की कृपा से प्राप्त हुई सिद्धियां पाप के समान हैं ऐसा आपने क्यों कहा सो आज्ञा करिये ॥ ४५ ॥ श्रीरामचन्द्रजी बोले-समानरूप से ज्ञान की प्रतिबन्धक होने के कारण ईश्वर की कृपासे मिली हुई भी सब सिद्धियां इस संसार में मुमुक्षु पुरुष के लिये हेय अर्थात् त्याज्य हैं ॥ ४६ ॥ पण्डितगण पापों की तरह पुण्यों को भी निश्चय ही छोड़ देते हैं और सिद्धियां सकाम पुण्य कार्य्य हैं यह शास्त्रों में प्रसिद्ध है ॥४७॥ जिसमें ब्रह्मलोक भी तृण के समान है, यदि ऐसा वैराग्य साधक को हो तो उसको किसी प्रकार की सिद्धियों की इच्छा नहीं ही होती है ॥ ४८ ॥ जो पुरुष अपनी देह के अपवित्र गन्धसे विरक्त

स्वदेहाशुचिगन्धेन न विरज्येत यः पुमान् ।
वैराग्यकारणं तस्य किमन्यदुपदिश्यते ॥४९॥
रसवद्वायुवच्चास्य मनश्चञ्चलत्वतः ।
वाञ्छा विविधभोगेषु जायते सिद्धिरूपिषु ॥५०॥
साधनानि बहून्याहुश्चित्तैकाग्र्याय केचन ।
तैलधारामिवाच्छिन्नं मन्नाम्नां कीर्तनं परे ॥५१॥
षडक्षरादिमन्त्राणां जपेनोपांशुनेत्यथ ।
अन्ये तु हठयोगेन प्राणसंरोधनात्मना ॥५२॥
सत्कथाश्रवणेनान्ये सत्तर्केणेति चापरे ।
प्रतीकोपासनेनान्ये पूजास्तोत्रादिरूपिणा ॥५३॥

नहीं होता है उसे दूसरा वैराग्य का कारण क्या बतलाया जा सकता है । ४९ ॥ उस पुरुष का मन पारा और वायु के समान चञ्चल होने से सिद्धिरूप अनेक भोगों में उसकी इच्छा होती है ॥ ५० ॥ चित्त के एकाग्र होने के लिये अनेक साधन शास्त्रों में कहे हैं उनमें से कोई तैलधारा के समान अविच्छिन्न मेरे नामों के कीर्तन को कहते हैं और कोई षडक्षरादि मन्त्रों के उपांशु जप से चित्त की एकाग्रता होती है ऐसा कहते हैं और अन्य कोई तो प्राणावरोधरूप हठयोग के द्वारा चित्त की एकाग्रता होती है ऐसा कहते हैं ॥ ५१-५२ ॥ और कोई कहते हैं कि उत्तम कथाओं के श्रवण करने से और कोई कहते हैं कि उत्तम विचार करने से और कोई कहते हैं कि पूजा स्तोत्रादि रूप साकार उपासना से चित्त की एकाग्रता होती है ॥ ५३ ॥

एवमन्येपि यागाद्यैः चित्तैकाग्रयं भवेदिति ।
कर्मिणः प्राहुरेतेषां गौणसाधनता यतः ॥५४॥
अतश्चित्तस्य चाञ्चल्यनिवृत्त्यैमारुतात्मज ! ।
मुख्यसाधनता स्वात्मध्यानस्यैवोपपद्यते ॥५५॥
स्वस्तिकासनमास्थाय समाहितमनास्तथा ।
अपानमूर्द्ध्वमुत्थाप्य प्रणवेन शनैः शनैः ॥५६॥
हस्ताभ्यां धारयेत्सम्यक्कर्णादिकरणानि च ।
अंगुष्ठाभ्यामपि श्रोत्रे तर्जनीभ्यान्तु चक्षुषी॥५७॥
नासापुटावथान्याभ्यां प्रच्छाद्य करणानि वै ।
आनन्दाविर्भवो यावज्ज्योतिःस्फूर्तिश्च मारुते ! ॥५८॥

और इसी प्रकार अन्य कर्म्मठ लोग भी यज्ञादिक से चित्तकी एकाग्रता होती है ऐसा कहते हैं परन्तु ये गौणसाधन हैं ॥ ५४ ॥ इस कारण हे हनुमान् ! चित्तकी चञ्चलता दूर करने के लिये स्वस्वरूप का ध्यान ही मुख्य साधन है ॥ ५५ ॥ स्वस्तिक आसन से बैठ कर और समाहित मन होकर प्रणव के द्वारा धीरे २ अपानवायु को ऊपर चढ़ा कर, हाथों से कर्णादि इन्द्रियों को भली भांति धारण करना चाहिये । अंगूठों से कानों को, तर्जनियों से नेत्रों को और मध्यमाओं से नासिका के रन्ध्रों को, इस प्रकार इन्द्रियों को आच्छादन करके हे हनुमान् ! जब तक आनन्द का आविर्भाव और ज्योतिः का स्फुरण होता रहे ॥५६-५८॥

तावत्प्राणं ब्रह्मरन्ध्रस्थाने शिरसि धारयेत् ।
षण्मुखीकरणञ्चैतदतिगोप्यतरं त्वया ॥५८॥
इति तत्त्वसारायणे उपासनाकाण्डस्य द्वितीयपादे
सर्व्ववेदरहस्यार्थासु श्रीरामगीतासूपनिषत्स्वणि-
मादिसिद्धिदूषणंनाम षोडशोऽध्यायः ॥



तब तक प्राण को शिर के ब्रह्मरन्ध्र स्थान में धारण करना चाहिये । इस षण्मुखीकरण * को तू अत्यन्त ही गुप्त रखना ॥ ५९ ॥

इस प्रकार तत्त्वसारायण के अन्तर्गत उपासनाकाण्ड के द्वितीय पाद में कथित समस्त वेदों के अर्थों को प्रकाश करनेवाली श्रीरामगीता उपनिषद् का अणिमादि-सिद्धिदूषण नामक सोलहवां अध्याय समाप्त हुआ ।



* इस योगक्रिया का नाम नाना योगग्रन्थों में नाना प्रकार से पाया जाता है। यथा – योनिमुद्रा आदि ।

विद्यासन्ततिगुरुतत्त्वनिरूपणम् ।

हनूमानुवाच ।

भगवन् वेदतत्त्वज्ञ त्वन्मुखाम्बुजनिःसृतम् ।
अष्टोत्तरशतार्थैकमधुपीतं मयाधिकम् ॥ १ ॥
एतेन कृतकृत्यत्वं मम सिद्धं न संशयः ।
तथापि किञ्चिच्छ्रोतव्यमस्ति वैदुष्यसिद्धये ॥२॥
दशोपनिषदि श्रीमन्बहुविद्याः प्रपञ्चिताः ।
अवश्यवेदितव्यास्ता इत्याहुर्विबुधोत्तमाः ॥३॥
विद्यासन्ततिविज्ञानाऽभावे किञ्चिज्ज्ञता मम ।
भवेदिति च मन्येऽहं तस्मात्तास्त्वं निबोध मे ॥४॥

हनूमान्जी बोलेः—हे वेदों के तत्त्वों के जनानेवाले भगवान् ! आपके मुखकमल से निर्गत अष्टोत्तर शत उपनिषदों का अर्थ रूपी अद्वितीय अमृत मैंने पर्याप्तरूप से पान किया है ॥ १ ॥ इस से मैं कृतकृत्य हुआ, इसमें कोई सन्देह नहीं, तौ भी विद्वत्ता की सिद्धि के लिये मुझे कुछ सुनाना है ॥ २ ॥ हे लक्ष्मी-पते ! दशोपनिषदों में अनेक विद्याएँ कही गई हैं, उन सबका ज्ञान अवश्य होना चाहिये, ऐसा श्रेष्ठ विद्वान्गण कहते हैं ॥ ३ ॥ विद्यासन्तति के भली भांति विना जाने मेरी समझ में मैं किञ्चि-ज्ज्ञही रहजाऊँगा (पूर्ण ज्ञानी न हो सकूँगा), अतः उन विद्याओं का आप मुझे उपदेश करें ॥ ४ ॥ श्रीरामचन्द्रजी ने कहाः—हे

श्रीराम उवाच।

हनूमञ्छृणु वक्ष्यामि विद्यासन्ततिमद्भुताम्।
दशोपनिषदि प्रोक्तां विद्वद्भिः परमादृताम् ॥५॥
छान्दोग्ये बृहदारण्येऽप्येता विद्याः प्रपञ्चिताः।
तास्वेका सत्यविद्याख्या यस्यां स्वांशः प्रसीदति ॥६॥
दक्षिणेऽक्षिणि सूर्य्ये च य उपास्यः स्वयंप्रभः
स एवाऽखण्डरूपोऽस्मीत्येवं ध्यायेदहर्निशम् ॥७॥
एवं यदि निराधारा सा सद्योमुक्तिकारिणी।
भवेत्साधारतायान्तु क्रममुक्त्यै न संशयः ॥८॥
अक्ष्यादित्यगतं वस्तु प्रकृतं सगुणं न तु।
ज्योतिष्ट्वाद्विदुषस्सत्यादनावृत्तेश्च निर्गुणम् ॥९॥

हनूमान्! जिसका विद्वानों ने अत्यन्त आदर किया है दशोपनिषद् में कही हुई उस अद्भुत विद्यासन्तति को अब मैं कहूँगा, उसे तुम सुनो ॥ ५ ॥ छान्दोग्य और बृहदारण्य उपनिषद् में ये विद्याएँ कही गई हैं। उनमें से 'सत्यविद्या' नामक एक है, जिसमें अपना अंश (आत्मा) प्रसन्न होता है ॥ ६ ॥ दक्षिण नेत्र अथवा सूर्य में उपासन करने योग्य स्वयं प्रकाशमान जो अखण्ड रूप है, वही मैं हूँ, इस प्रकार का ध्यान दिन रात करना चाहिये ॥७॥ इसी प्रकार वह विद्या यदि निराधार (दक्षिण नेत्र अथवा सूर्य के आधार के विना) हो सके, तो वह सद्योमुक्ति करनेवाली होती है और यदि साधारण (दक्षिण नेत्र अथवा सूर्य का आधार लेकर) की जाय, तो उससे क्रममुक्ति होती है इसमें कोई सन्देह नहीं ॥ ८ ॥ प्रकृत अर्थात् जिसका विचार हो रहा है, वह नेत्र अथवा आदित्य गत वस्तु सगुण नहीं है, किन्तु वह प्रकाशमान, सत्य और आवृत्ति-

अन्यादहरविद्याख्या यस्यां ब्रह्मांश ईरितः ।
हृत्पुण्डरीकमध्यस्थस्सर्वेषां प्राणिनामपि ॥ १० ॥
अन्वेष्टव्यं तदेकान्ते विजिज्ञास्यं चिदम्बरम् ।
बाह्याम्बरवदापूर्णं भावयेत्सत्यचिद्घनम् ॥११॥
साधारदर्शने सा चेदुपास्तिः सुसमापिता ।
पूर्व्ववत्क्रममुक्त्यै सा भवेत्खण्डात्मदर्शनात् ॥१२॥

रहित अर्थात् एकरस होने से ज्ञानियों के लिये निर्गुण है * ॥ ९ ॥ दूसरी का नाम 'दहरविद्या' है, जिसमें ब्रह्मको अंश कहा गया है। यह ब्रह्मांश सब प्राणियों के हृदयकमल के मध्य में भी होता है ॥ १० ॥ एकान्त में उस चिदम्बर का पता लगाकर विशेष रूप से उसे जान लेना चाहिये और बाह्य अम्बर के समान परिपूर्ण उस सत्य चिद्घन स्वरूप की भावना करनी चाहिये ॥ ११ ॥ इस प्रकार की उपासना यदि साधार दर्शन होने पर समाप्त की जाय, तो पूर्ववत् उससे क्रममुक्ति होती है, जिसमें खण्डरूप से आत्मा का इस उपासना से उपासक को दर्शन होता है † ॥ १२ ॥ अन्य एक 'वैश्वानरविद्या' है जिसमें

* इसमें पहली क्रिया ध्यान की है और दूसरी समाधि-अंग की है। पहली क्रिया लययोग के अन्तर्गत है और दूसरी क्रिया राजयोग के अन्तर्गत है। यह चारों योग-मार्ग के जाननेवाले गुरुदेव से सीखने योग्य है।

† यह राजयोग का साधन है। हृत्कमल में कूटस्थ की धारणा द्वारा इस साधन का प्रारम्भ किया जाता है। इसमें धारणाभूमि से समाधिभूमिमें पहुँचना होता है। लययोग और राजयोग दोनों के जाननेवाले गुरुदेव इसका उपदेश दे सकते हैं।

वैश्वानरस्य विद्याऽन्या यस्यां प्रादेशमात्रकम् ।
ब्रह्मांशं प्रत्यगात्मानं दृष्ट्वा पूर्णं च भावयेत् ॥१३॥
प्राणाग्निहोत्रिणः सर्वेऽप्येनं नित्यमुपासते ।
तथापि तद्यथार्थत्वं न विजानन्ति मारुते ! ॥१४॥
अत्राधारापवादश्चेन्न कृतोऽपि मुमुक्षुणा ।
क्रममुक्तिर्न संदेहः पूर्णत्वाऽननुचिन्तनात् ॥१५॥
पञ्चाग्निविद्याप्यन्यासीद्यस्यां पञ्चाग्नयः श्रुताः ।
द्युपर्जन्यक्षितिमयाः पुरुषस्त्रीमयावपि ॥ १६ ॥
तानग्नीन् क्रमशो ध्यात्वा पश्चाद्ब्रह्मैव चिन्तयन् ।

प्रादेशमात्र (अंगूठा के अग्रभाग से तर्जनी के अग्रभाग तक के समान आकारवाले) ब्रह्म के अंशस्वरूप प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) को देखकर उसी में पूर्ण रूप की भावना करना चाहिये ॥ १३ ॥ हे मारुते ! समस्त प्राणाग्निहोत्री (प्राणाग्निहोत्र करनेवाले) भी इसकी निन्तर उपासना करते हैं, तोभी इसकी यथार्थता को वे नहीं जानते ॥ १४ ॥ यदि इस उपासना में कोई मुमुक्षु आधार का अवलम्ब करे, तो भी पूर्णत्व का चिन्तन न करने से उसे क्रममुक्ति अवश्य प्राप्त होती है* ॥ १५ ॥ दूसरी एक 'पञ्चाग्निविद्या' भी है जिसमें आकाशमय, पर्जन्यमय, भूमिमय तथा पुरुषमय और स्त्रीमय पञ्च अग्नि प्रसिद्ध हैं ॥ १६ ॥ उन अग्नियों का क्रमशः ध्यानकर पश्चात् ब्रह्म का ही चिन्तन करने से मुक्ति प्राप्त

* ज्योतिर्ध्यान की विधि की सहायता से इस साधन का प्रारम्भ होता है और क्रमशः सविकल्प समाधि की चारों अवस्था तक यह साधन पहुँचाता है। हठ लय और राज इन तीनों योगों के रहस्य को समझनेवाले गुरुदेव ही इसका उपदेश दे सकते हैं।

मुक्तिं विन्देत नोचेत्स विरक्तिफलवान् भवेत्॥१७॥
अन्या च षोडशकलविद्या प्रश्नश्रुतीरिता।
यया च साक्षाद्ब्रह्मात्मा प्रसीदति विवेकिनाम् ॥१८॥
प्राणादयः कला यत्र कल्पिताः षोडशेरिताः।
अप्राणमक्षरं प्राप्य कलास्ता उत्सृजेद्बुधः ॥१९॥
प्राणाद्याधारमद्वैतं पूर्णं चेद्ब्रह्म भावयेत्।
सद्योमुक्तिर्बुधस्यात्र नान्यथा कपिनायक! ॥२०॥
अन्या चोद्गीथविद्या स्यादुद्गीथं प्रणवात्मकम्।

होती है। मुक्ति न भी हो तो विरक्ति का फल प्राप्त होता है* ॥१७॥ अन्य एक 'षोडशकलविद्या' है, जो प्रश्नोपनिषद् में कथित है जिससे साक्षात् ब्रह्मस्वरूप विवेकवान् पुरुषों का आत्मा प्रसन्न होता है॥ १८ ॥ कल्पित प्राणादि सोलह कलाएँ जिस विद्या में कही गई हैं, प्राण सम्बन्धरहित, अक्षर (ब्रह्म) को प्राप्त करके विद्वान् पुरुष इन कलाओं का त्याग कर देवे॥ हे कपिश्रेष्ठ! यदि प्राण आदि के आधारस्वरूप अद्वैत, पूर्ण ब्रह्मका भावना करे तो विद्वान् पुरुष की सद्योमुक्ति यहां होजाती है, अन्यथा नहीं होती है† ॥२०॥ अन्य एक 'उद्गीथविद्या' है। इस विद्या में तीन मात्रा युक्त प्रणवात्मक उद्गीथ को ध्यान करके शुद्ध होता है और क्रमशः

* यह लययोग की बहुत उन्नत क्रिया है। यह क्रिया योगी को शीघ्रता से राजयोग का अधिकारी बनाती है। दर्शनशास्त्र-अभिज्ञ साधक ही इस साधन का अधिकारी हो सकता है; क्योंकि यह लययोग का साधन होने पर भी विचारप्रधान साधन है। राजयोगी गुरुही इसका उपदेश दे सकते हैं।

† यह साधन राजयोग के अधिकार का कहा गया है। यह साधन विचारप्रधान है। तत्त्ववेत्ता और लययोग और राजयोग के पूर्ण अभिज्ञ गुरुदेव ही इस साधन का उपदेश दे शकते हैं।

ध्यात्वा त्रिमात्रं शुद्धस्याद्यस्यां मुक्तिः क्रमाद्भवेत् ॥२१॥
सद्योमुक्तिनिमित्तत्वं प्रोक्तं षोडशमात्रया ।
विभक्तप्रणवोपास्तेर्यतः पूर्वं मरुत्सुत ॥ २२ ॥
अन्या शाण्डिल्यविद्या स्याद्यस्यामात्मा मनोमयः ।
प्राणदेहश्च भारूप उपास्य इति कथ्यते ॥२३॥
अत्र च प्रत्यगात्मत्वादुपास्यस्य दृढव्रत ! ।
क्रममुक्तिर्गुणापाये सद्योमुक्तिर्भवत्यपि ॥२४॥
अन्या पुरुषविद्या स्यात्पुरुषो यत्र कल्पितः ।

मुक्ति प्राप्त होती है ॥ २१ ॥ क्योंकि हे वायुपुत्र ! षोडश मात्राओं से विभक्त प्रणव की उपासना सद्योमुक्ति की कारण है ऐसा पहले कहा गया है* ॥ २२ ॥ अन्य 'शाण्डिल्य-विद्या' है, जिसमें आत्मा मनोमय कहा गया है, जिसका देह प्राणस्वरूप और रूप प्रकाशस्वरूप है । इस विद्या में यही आत्मा उपासना करने योग्य है ॥ २३ ॥ इसमें हे दृढ़-व्रत ! उपास्य के प्रत्यगात्मा होने से क्रममुक्ति होती है । और गुणों का त्याग होजाय, तो सद्योमुक्ति होती है† ॥ २४ ॥ एक 'पुरुषविद्या' है, जिसमें आयुकी वृद्धि के लिये यज्ञरूप से पुरुष

* यह लययोगप्रधान साधन है । नादब्रह्मकी सहायता से स्वस्वरूप में पहुँचना ही इस साधन का क्रम है । स्थूल स्वर, तदनन्तर वर्णात्मक प्रणव को सहायता से साधक को समाधिभूमि में पहुँचना होता है और उसके वाद मनोनाश का अधिकार प्राप्त होता है । चारों योगोंके ज्ञाता गुरुदेव ही इस साधन का उपदेश दे सकते हैं ।

† यह साधन लययोग और राजयोग दोनों की सहायता से करने योग्य है । प्राण को मनमें लय करके समाधिभूमि में पहुँचने का इसमें क्रम है । उभय योग के ज्ञाता गुरुदेव ही इसका उपदेश दे सकते हैं ।

यज्ञत्वेनायुषो वृद्ध्यै सा विद्या काम्यरूपिणी ॥२५॥
द्युनिवेशनपूर्व्वाणां विभूतीनामिवात्र च ।
गुणानां हेयता युक्ता पुरुषो न तु हीयते ॥२६॥
अन्या पर्य्यङ्कविद्या स्यात् पर्य्यङ्कस्थं विधिम्प्रति ।
प्रस्थितस्याऽध्वनि त्यागःपठ्यते पुण्यपापयोः॥२७॥
त्रिलिङ्गकत्वात्प्राप्यस्य ब्रह्मलोके मुमुक्षुभिः ।
हेयोपादेयता तत्वशून्यता च क्रमाद्भवेत् ॥२८॥
अन्या त्वक्षरविद्या स्याद्यत्राऽस्थौल्यादिलक्षणम् ।

की कल्पना की गई है। यह काम्यरूपिणी (सकाम) विद्या है ॥ २५ ॥ इस विद्या में आकाशगमन आदि बिभूतियों (सिद्धियों के समान गुणों की हेयता (त्याग) उचित है; किन्तु पुरुष का इस में त्याग नहीं होता * ॥ २६ ॥ एक 'पर्यङ्कविद्या' है इसमें पर्यङ्कबन्ध की विधिके अनुसार साधनमार्ग में चलनेवाले व्यक्ति के लिये पाप पुण्य का त्याग कहा गया है ॥ २७ ॥ मुमुक्षुओं द्वारा ब्रह्मलोक प्राप्त करने योग्य वस्तु तीनों लिङ्गों अर्थात् तीन अवस्थाविशेषों से युक्त होने के कारण उन अवस्थाओं में हेयता, (त्याग) उपादेयता (ग्रहण) और तत्त्वशून्यता (तत्त्वातीत होना) क्रमशः हुआ करती है † ॥ २८ ॥ एक 'अक्षर-विद्या, है जिसमें श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ताओं ने सूक्ष्म आदि लक्षणों से

* यह धारणाप्रधान साधन है। मन्त्रयोग की सहायता से इस साधन का क्रम है मन्त्रयोग के ज्ञाता तत्त्वज्ञानी गुरुदेव ही इसका उपदेश दे सकते हैं।

† यह राजयोगके अन्तर्गत साधन है। प्रथम धारणाभूमिसे इसका साधन प्रारम्भ होता है और अन्त में विचार की सहायता से यह साधन समाधिभूमि में पहुँचाया है। राजयोगी गुरुदेव ही साधन का उपदेश दे सकते हैं।

अक्षरं निर्गुणं ब्रह्म प्रोच्यते ब्राह्मणोत्तमैः ॥२९॥
अविनाश्येककूटस्थचैतन्यविषया यतः ।
इयं ततः क्रमात्सद्यो वा भवेन्मुक्तये परा ॥३०॥
अन्या संवर्गविद्या स्यादस्यां संवर्गसंज्ञितः ।
वायुः प्राणात् पृथक्सिद्धो ह्यध्यात्म्यञ्चाधिदैवतम् ॥३१॥
वायुसायुज्यसालोक्यवचनात्सगुणैव सा ।
कैवल्यमुक्त्यै निष्कामैर्विदिता चेत्क्रमाद्भवेत् ॥३२॥

युक्त अविनाशी निर्गुण ब्रह्मका विचार कहा है ॥ २९ ॥ यह पराविद्या एकमात्र अविनाशी कूटस्थ चैतन्य के सम्बन्ध की होनेके कारण इससे क्रममुक्ति अथवा सद्योमुक्ति प्राप्त होती है* ॥ ३० ॥ एक 'संवर्गविद्या' है। इसमें 'संवर्ग' नामक वायु, अध्यात्म और अधिदैव है एवं प्राण से पृथक् माना गया है ॥ ३१ ॥ यह सगुणा विद्या ही है, क्योंकि इस में वायुदेव का सायुज्य या सालोक्य मुक्ति पाने का कथन है। यदि निष्कामभावयुक्त व्यक्ति के द्वारा यह जानी जाय, तो इससे क्रमशः कैवल्यमुक्ति प्राप्त हो सकती है † ॥ ३२ ॥ एक 'मधुविद्या' है इसमें मधुरूप से पृथ्वी

* यह राजयोगप्रधान साधन है। लययोग की सहायतासे यदि साधक का अन्तःकरण ठीक प्रकारसे वशीभूत होगया हो तो इस विचारप्रधान साधनके द्वारा कूटस्थ की अपरोक्षानुभूति हो सकती है अन्यथा परोक्षानुभूति तो अवश्य होजाती है। लययोग और राजयोग दोनों के ज्ञाता गुरुदेव ही इसका उपदेश दे सकते हैं।

† यह हठयोगप्रधान साधन है। वायुसे प्राण, प्राणसे मनकी सहायतासे समाधिभूमिमे पहुँचाने का क्रम इसमें रक्खा गया है। हठ लय और राज इन तीन प्रकारके योगों में निष्णात गुरुदेव ही इसका उपदेश दे सकते हैं।

अन्या च मधुविद्या स्याद्यस्यां पृथ्व्यादिकं जगत् ।
उपास्यते मधुत्वेन सान्त्यलिङ्गात्तु निर्गुणा ॥३३॥
अन्या च प्राणविद्या स्यात्प्राणो ज्यायान् समस्ततः ।
इति संप्रोच्यते सा हि सगुणा विकृतित्वतः ॥३४॥
उपकोशलविद्यान्या यात्राचार्य्याग्नयस्त्रयः ।
शिष्यस्योपादिशन्नात्मविद्यां निर्गुणरूपिणीम्॥३५॥
सद्योमुक्तिकरी विद्या सा ज्ञेया विबुधैश्श्रुतम् ।
यत्पापाश्लेषवचनं पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥३६॥

आदि जगत की उपासना की जाती है, किन्तु वह अन्त्यलिङ्ग होने के कारण निर्गुणा है * ॥ ३३ ॥ एक 'प्राणविद्या' है इसमें सबसे श्रेष्ठ प्राण है ऐसा कहा गया है परन्तु वही विकारवती होने के कारण सगुणा कही गई है* ॥ ३४ ॥ एक 'उपकोशलविद्या' है जिसमें तीन आचार्य्याग्नियों ने निर्गुणरूपिणी आत्मविद्या का उपदेश शिष्य को दिया है ॥३५॥ यह सद्योमुक्ति देनेवाली विद्या विद्वानों के द्वारा जानने योग्य है, क्योंकि पद्मपत्र पर जिस प्रकार जल स्पर्श नहीं करता, उसी प्रकार इस विद्या के जाननेवालों को पातक स्पर्श नहीं करते ऐसा सुना गया है ‡ ॥ ३६ ॥ एक 'सद्विद्या' है ।

* यह लययोगसे सम्बन्धयुक्त साधन है। पञ्चतत्त्वोंमें विष और अमृत दोनों ही का सम्बन्ध रहनेसे अमृत भाग के अवलम्बनसे अमृतके उत्पत्तिस्थानमें पहुँचाने का क्रम इसमें बांधा गया है। लययोग और राजयोग के पारदर्शी गुरुदेव ही इसका उपदेश दे सकते हैं।

* यह हठ और लय से सम्बन्धयुक्त साधन है । प्राण, प्राणके सङ्कोच, तत्पश्चात् प्राण के विलय द्वारा यह साधन किया जाता है। उभययोग में निष्णात गुरुदेवही इसका उपदेश देसकते हैं।

‡ यह साधन लययोगसे सम्बन्धयुक्त है । प्राणके संयम करनेके कौशलको समझ कर तीनों अधिकारकी वृत्तियों को अपने लयस्थानमें पहुँचा देनेसे यह साधन होता है। चारो योग के जाननेवाले गुरुदेव ही इसका उपदेश दे सकते हैं।

सद्विद्याऽन्या तु सद्ब्रह्मपरोक्षज्ञानरूपिणी ।
छान्दोग्ये परमोदारा प्रवृत्ता श्वेतकेतवे ॥३७॥
उपदिष्टे परात्म्यैक्ये तत्र तत्त्वमसीत्यपि ।
गुरूक्तेस्साधनानुक्तेः क्रममुक्त्यै च सा ध्रुवम्॥३८॥
अन्यातु भूमविद्या स्याद्यद्वाऽनन्यन्न पश्यति ।
सैवापरोक्षविज्ञानरूपा विद्येश्वरी मता ॥३९॥
अनुक्तसाधनत्वेऽपि गुरुप्राधान्यहानितः ।
शिष्यानुभूतिरूपत्वात्सद्योमुक्त्यै च सा भवेत्॥४०॥

सद्ब्रह्मका परोक्ष ज्ञान देनेवाली यह अत्यन्त उदार विद्या छान्दोग्योपनिषद् में श्वेतकेतु को कही गई है ॥ ३७ ॥ इस विद्या में गुरु की उक्ति से 'तत्त्वमसि' इस वाक्यके द्वारा ब्रह्म और आत्मा की एकता का उपदेश होनेपर भी साधनों के न कहने के कारण इससे क्रममुक्ति ही निश्चय होती है * ॥३८॥ एक 'भूमिविद्या' है क्योंकि इसमें अनन्य (अद्वैत) भी नहीं देख पड़ता । यही अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञानस्वरूपा और सब विद्याओं में श्रेष्ठ है ॥ ३९ ॥ इसमें साधनों के न कहने पर भी और गुरुकी प्रधानता न रहने के कारण यह शिष्य के लिये स्वयं अनुभवस्वरूप होने से इसके द्वारा सद्यो मुक्ति होती है* ॥ ४० ॥ इसी प्रकार की कितनी ही विद्याएँ

* यह राजयोगप्रधान है । यह साधन विचारप्रधान होने के कारण साधक के अन्तःकरण विशुद्धताके तारतम्य पर इस साधन के फलका उदय निर्भर करता है । साधक में अहङ्कार, स्वर्थपरता और देहध्यास का यदि बीज भ्रष्टबीज के सदृश हो-गया हो तो इस साधन के द्वारा अपरोक्षानुभूति होना सम्भव है नहीं तो क्रममुक्ति अवश्यम्भावी है । राजयोगमें निष्णात गुरुदेव ही इसका उपदेश दे सकते हैं ।

* यह राजयोगप्रधान साधन ही नहीं है किन्तु राजयोग की सिद्धावस्था में इस अधिकार की प्राप्ति होती है । मन्त्रयोग हठयोग और लययोग के जो तीन श्रेणी के ध्यान हैं सो तीनों श्रीगुरुदेव के उपदेशसे साक्षात् सम्बन्ध रखने वाले हैं, परन्तु

एवमन्याश्च काश्चित्स्युर्विद्या वेदान्तबोधिताः ।
एतास्तूद्देशतः प्रोक्ता वेदितव्या मनीषिभिः॥४१॥
विद्यासन्ततिविज्ञानं शिष्यचित्तपरीक्षणम् ।
अवश्यंभावि सर्व्वेषामाचार्य्याणां विशेषतः ॥४२॥
अपरीक्षितशिष्याय स्वयञ्चानधिकारिणे ।
उपदिष्टा यथाविद्या गुरुणा विफला भवेत् ॥४३॥
तथोपदिष्टा विद्यापि शिष्यायाप्यधिकारिणे ।
विद्यासन्ततिविज्ञानहीनेन गुरुणा कपे ॥४४॥
यथा विद्या प्रदातव्या शिष्यपात्रं सुनिर्मलम् ।
सर्व्वलक्षणसम्पन्नं ज्ञात्वैवेति नियम्यते॥ ४५ ॥

वेदान्त में कही गई हैं। ये संक्षेप से कहा गई हैं ये विद्वानों के जानने योग्य हैं ॥ ४१ ॥ सब लोगों को और विशेषतया आचार्यों को विद्यासन्तति के विज्ञान को अवश्य जानना चाहिये और शिष्य के चित्तकी भी परीक्षा अवश्य कर लेनी चाहिये ॥ ४२ ॥ परीक्षा न किये हुए अनधिकारी शिष्यको गुरु के द्वारा उपदेश की हुई विद्या जिस प्रकार आपही विफल हो जाती है उसी प्रकार हे हनुमान्! विद्यासन्तति के ज्ञान से हीन गुरुके द्वारा अधिकारी शिष्य को दी हुई विद्या भी विफल होजाती है ॥ ४३-४४ ॥ जिसप्रकार निर्मल और सर्वलक्षणों से युक्त, सुपात्र शिष्य को जानकर ही विद्या देनी चाहिये यह नियम है ॥ ४५ ॥

राजयोगका ब्रह्मध्यान श्रीगुरुदेवके उपदेशसे परम्परा सम्बन्ध रखने योग्य है क्योंकि जो पद मन, वाणी और बुद्धि से अतीत है उस पदका उपदेश वाणी द्वारा नहीं हो-सकता। वह केवल गुरुकृपा सापेक्ष है। ब्रह्मज्ञस्वरूपस्थित गुरुदेवका कृपाप्राप्त साधक उनके उपदेशके अवलम्बनद्वारा सविकल्प समाधि से निर्विकल्प समाधिमें अग्रसर होता हुआ अपने आपही शुभ मुहूर्त्त में इस साधन के फलको प्राप्त करलेता है यही जीवन कृतकृत्यता है।

तथा विद्या ग्रहीतव्या गुरुनाथं सुनिर्मलम् ।
सर्व्वलक्षणसम्पन्नं ज्ञात्वैवेति विनिश्चिनु ॥४६॥

उसी प्रकार गुरुदेव को निर्मल और सर्व लक्षणसम्पन्न * जान करही उनसे विद्या ग्रहण करनी चाहिये, यह पूर्णरीत्या निश्चय करलो ॥ ४६ ॥ उत्तम आचार्य द्वारा उपदिष्ट शास्त्ररहस्य

* श्रीगुरुगीता में गुरु और आचार्य्य एवं शिष्यके लक्षण निम्न लिखित प्रकार के कहे गये हैं:—

सब शास्त्रों में पारङ्गत, चतुर, सम्पूर्ण शास्त्रों के तत्त्ववेत्ता और मधुर वाक्य भाषण करने वाले, सब अङ्गोंसे पूर्ण और सुन्दर कुलीन अर्थात् सत्कुलोद्भव और दर्शन करनेमें मङ्गलमूर्ति हों, इन्द्रियां जिनकी सब अपने वशीभूत हों, सर्वदा सत्य भाषण करने वाले हों, ब्राह्मण वर्ण हों, शान्त मानस अर्थात् जिनका मन कभी चञ्चल नहीं होता हो, माता पिताके समान हित करने वाले हों, सम्पूर्ण कर्म्मोंमें अनुष्ठानशील हों, और गृहस्थ, वानप्रस्थ, ब्रह्मचारी और सन्यासी इन आश्रमों में से किसी आश्रम के हों एवं भारतवर्ष निवासी हों इस प्रकार के सर्वगुणसम्पन्न महात्मा गुरु करने योग्य हैं। आचार्य्य और गुरु ये दोनों कहीं कहीं पर्य्यावाचक शब्द हैं तथा कार्य्यके वैलक्षण्यसे कभी कभी आचार्य्य और गुरु इनमें भेद भी है। उपनयन कराकर जो शिष्य को वेदका उपदेश करते हैं वे आचार्य्य हैं और आध्यात्मिक उन्नति के लिये जो शिष्य को दीक्षा देते हैं वे गुरु हैं। सम्पूर्ण वेद और शास्त्र आदिमें सुपण्डित हों और उनका औपपत्तिक ज्ञान शिष्य को करावें वे आचार्य्य कहाते हैं। जो सर्वदर्शी साधु मुमुक्षुओं के हितार्थ वेद शास्त्रोक्त क्रिया सिद्धांश और परमेश्वर की उपासना के भेदों को यथाधिकार शिष्यों को बतलायें उनको गुरु कहते हैं। दर्शन शास्त्रों की सातभूमि के अनुसार जो वेद और शास्त्र के सकल भेदों को जानते हों अध्यात्म अधिदैव एवं अधिभूत नामक भावत्रयको भली भांति समझते हों और तन्त्र और पुराणों की समाधिभाषा, लौकिक भाषा और परकीय भाषा इनसे भली भांति परिचित रहकर लोकशिक्षा में निपुण हों वे ही श्रेष्ठ आचार्य्य कहे जाते हैं। पञ्चतत्त्व के अनुसार जो महापुरुष विष्णूपासना, सूर्य्योपासना, शक्त्युपासना, गणेशोपासना और शिवोपासनारूप पञ्च सगुणउपासना के पूर्ण रहस्यों को समझते हों और जो योगिराज मन्त्रयोग, हठयोग, राजयोग इन चारों के अनुसार चतुर्विध उपासना को जानते हों ऐसे ज्ञानी, निर्म्मलमानस, सर्वकार्य्य में निपुण, त्रितापरहित, जीवों का कल्याण करने वाले जीवन्मुक्त महात्मा श्रेष्ठ गुरु कहलाते हैं। शिष्य कुलीन, शुद्धात्मा और पुरुषार्थपरायण होना चाहिये। वह अधीतवेद हो, कुशल (चतुर) हो, कामी न हो, प्राणियों का हितेच्छु हो, आस्तिक हो प्रवञ्चक न हो, स्वधर्म्मनिरत हो, भक्तिपूर्वक माता पिताके हितमें स्थित हो, मन, वचन और शरीर तथा कर्म्मोंसे गुरुसेवापरायण हो, गुणसम्पन्न हो, गुरुभक्त हो, धर्म्मादि सम्पन्न हो, गुरुदत्त मन्त्रके जपादि में प्रवृत्त हो, गुरुदत मंत्रमें श्रद्धालु हो, देवपूजापरायण हो, गुरूपदिष्ट मार्गमें सत्यबुद्धि हो, उदार हो, लोभी न हो, शरीर जिसका चञ्चल न हो, गुरुका आज्ञाकारी हो, जितेन्द्रिय हो, इस प्रकार का शिष्य होना चाहिये।

सदाचार्य्योपदिष्टार्थश्शुक्लपक्षेन्दुवत्क्रमात् ।
शिष्यस्य वर्द्धते नित्यं पूर्णश्च विमलो भवेत् ॥४७॥
असद्गुरूपदिष्टार्थः कृष्णपक्षेन्दुवत्क्रमात् ।
शिष्यस्य ह्रसते नित्यं नष्टश्च समलो भवेत् ॥४८॥
कालान्तरसमुद्भूतं शिष्यदौष्ट्यं महत्तरम् ।
ज्ञात्वाचार्य्यो यथा रोषाद्दूरतः परिवर्जयेत् ॥४९॥
कालान्तरसमुद्भूतं गुरुदौष्ट्यं महत्तरम् ।
ज्ञात्वा शिष्यस्तथा रोषाद्दूरतः परिवर्जयेत् ॥५०॥

शिष्य के लिये प्रतिदिन शुक्लपक्ष के चन्द्रमा के समान क्रमशः बढ़ता है और विशुद्ध होकर पूर्ण हो जाता है ॥ ४७ ॥ असत् गुरुद्वारा उपदिष्ट शास्त्ररहस्य शिष्यके लिये प्रतिदिन कृष्णपक्ष के चन्द्रमा के समान क्रमशः घटता है और मलिन होकर नष्ट हो जाता है ॥ ४८ ॥ जिस प्रकार कालान्तर में उत्पन्न हुई शिष्य की अत्यन्त महती दुष्टता को जानकर आचार्य को क्रोधपूर्वक उसे दूरसे परित्याग कर देना चाहिये उसी प्रकार कालान्तर में उत्पन्न हुई गुरुके अत्यन्त महान् दोष को जानकर शिष्य को क्रोधपूर्वक उसे दूरसे परित्याग कर देना चाहिये * ॥ ४९--५० ॥

* तात्पर्य यह है कि गुरु शिष्य का सम्बन्ध और गुरुदीक्षा, आध्यात्मिक उन्नति और भगवच्चरण प्राप्तिके लिये हैं यदि शिष्य योग्य हो और गुरुदेव यह समझे कि वैसे व्यक्तिकी आध्यात्मिक उन्नति होना इस जीवन में असम्भव है तो ऐसे शिष्यका त्याग करदेना स्वधर्मरक्षाके लिये गुरुका कर्त्तव्य है । उसी प्रकार मुमुक्षु शिष्य यदि दीक्षा लेनेके अनन्तर यह समझने लगे कि जिस व्यक्तिको उसने अपनी आध्यात्मिक उन्नतिके विचार से गुरु करके माना है वह व्यक्ति उसको विषयरूपी अन्धकूप में ही डुबा रहा है और वह गुरुपदाभिषिक्त व्यक्ति स्वयं विषयमुग्ध होकर शिष्य को आध्यात्मिक उन्नतिका पथ दिखाने में असमर्थ है तो ज्ञानी शिष्य का कर्त्तव्य है कि ऐसे गुरुका त्याग करके अन्य योग्य गुरुकी शरण लेवे ।

स्वामिभृत्यौ जगत्यस्मिन् पतिभार्य्यें च मारुते ।
पितृपुत्रौ च सम्बद्धावन्योन्यं शास्त्रवर्त्मना ॥५१॥
तयोरेकस्य पातित्ये यथान्ये नास्ति हेयता ।
एवं सम्बद्धयोः पूर्व्वमपि स्याद् गुरुशिष्ययोः॥५२॥
अधर्म्मं प्रतिपन्नस्य गुरोरप्यविवेकिनः ।
स्ववर्णाश्रमहीनस्य शासनं हि विधीयते ॥५३॥
जात्यशिष्टोऽपि विबुधो गुरुर्भवितुमर्हति ।
कर्म्माशिष्टस्तु कुत्रापि न गुरुत्वमवाप्नुयात् ॥५४॥
धर्म्मोद्देशेन लोकेऽस्मिन् गुरून् गृह्णन्ति केचन ।
अर्थोद्देशेन केचिच्च कामोद्देशेन केचन ॥५५॥

हे हनूमान् ! इस संसार में स्वामी और सेवक, पति और पत्नी, पिता और पुत्र, ये शास्त्रीय मर्यादा से अन्योन्य सम्बन्ध से युक्त हैं ॥ ५१ ॥ उन दोनों में से किसी एक के पतित होने पर जैसे दूसरे के द्वारा वह त्यागने योग्य होता है, इसी तरह पहिले से सम्बन्ध युक्त गुरुशिष्यों में से भी किसी एक के पतित होने पर वह दूसरे के द्वारा त्यागने योग्य होता है ॥ ५२ ॥ क्योंकि अपने वर्ण और आश्रम धर्म से हीन, अधर्म में प्रवृत्त अविवेकी गुरुके लिये भी शासन की विधि है ॥ ५३ ॥ जाति से अशिष्ट अर्थात् नीच पुरुष भी यदि विद्वान् हो तो, गुरु हो सकता है; परन्तु जो कर्मों से अशिष्ट अर्थात् नीचकर्मी हो, वह कहीं भी गुरुत्व को प्राप्त नहीं कर सकता ॥ ५४ ॥ इस संसार में कोई धर्म के उद्देश्य से, कोई अर्थ के उद्देश्य से और कोई काम के उद्देश्य से गुरुका ग्रहण करते हैं ॥ ५५ ॥ उक्त उद्देश्यों में से जिस उद्देश्य की

तेषां तत्तत्फलासिद्धौ गुरुशुश्रूषणादिकम्।
यथा वृथा तथा मोक्षोद्देशेनाराधनं गुरो ॥ ५६ ॥
तस्माद्विधर्मानाचार्य्यान् पूर्व्वकांस्त्वं परित्यज।
गौणाचार्य्यानपि श्वश्रूस्तत्याज जनको मम ॥५७॥
वैधर्म्यं मय्यभूत्किञ्चिद्विद्यते वाञ्जनासुत।
भविष्यति यदि प्राज्ञ तदारभ्य तु मां त्यज ॥५८॥
ज्ञानं सिध्यतु ते नो वा शुभाचारान्न तु त्यज।
श्रेयोहानिः क्वचिन्नैव कस्यचिच्छुभकारिणः ॥५९॥
श्रुत्युक्ताऽखिलविद्यानां निपुणोऽपि निरूपणे।

सिद्धि के लिये गुरु किया हो, वह उद्देश्य यदि उस गुरुके द्वारा सिद्ध न हो तो जिसप्रकार की हुई गुरुसेवा आदि वृथा है, उसी प्रकार मोक्ष के उद्देश्य से किये हुए गुरु के द्वारा यदि मोक्ष सिद्धि न हो तो, की हुई गुरुसेवा व्यर्थ है ॥ ५६ ॥ इस लिये पहिले के विधर्मी (धर्महीन) आचार्यों को तुम छोड़ दो। मेरी सास और जनक (श्वशुर) ने गौण आचार्यों का त्याग किया था ॥ ५७ ॥ हे बुद्धिमान् अञ्जनीपुत्र! मुझमें यदि कोई धर्म-हीनता हुई हो, कुछ भी हो या होगी तो उसी समय से तुम मुझे छोड़ दो ॥ ५८ ॥ चाहे तुम्हें ज्ञानप्राप्ति हो या न हो किन्तु तुम अपने शुभ आचारों का त्याग न करो किसी शुभ कर्मों के करने वाले पुरुष की कभी श्रेयोहानि (अकल्याण) नहीं ही होती है ॥ ५९ ॥ वेदों में कथित समस्त विद्याओं का निरूपण करने में समर्थ होने पर भी, हे मारुते! जो अपने आचारों से

स्वाचाररहितो मूर्खं इति निश्चिनु मारुते ॥६०॥
स्वधर्म्मैराप्यते विद्या साक्षाद्वेदान्तवाक्यजा ।
प्रणम्य वाऽतस्त्वं नित्यं स्वधर्म्मनिरतो भव ॥६१॥
श्रुतिस्मृतिसमीरितानतिरहस्यधर्मान् स्फुटं
तव श्रुतवतोऽधुना किमपि नैव वेद्यान्तरम् ।
तथापि मयि ते गुरौ श्रुतिशतेऽपि चाष्टोत्तरे
स्वधर्म्मचरणे तथा भवतु भक्तिरव्याजतः ॥६२॥
समस्तजनमोहिनी सकललोकहेतुः परा
महाभवभयङ्करी विरतिबोधधिक्कारिणी ।
सुरेन्द्रविधिदुस्तरा यमभटाऽतिघोराऽखिल-
स्वधर्म्महतिकारिणी जयति सा हि माया मम ॥६३॥

विमुख है वह मूर्ख है, ऐसा तुम निश्चय जानो ॥ ६० ॥ साक्षात् वेदान्त वाक्यों की विद्या [ज्ञान] स्वधर्माचरण से प्राप्त होती है । इस कारण नम्र होकर तुम स्वधर्म के पालन में लगजाओ ॥ ६१ ॥ श्रुतिस्मृति कथित अत्यन्त गुप्त धर्मों को स्पष्टतया तुमने सुन लिया है । अब तुम्हारे लिये अन्य कुछ जानने योग्य नहीं रहा है । तथापि गुरु मुझ में, अष्टोत्तरशत उपनिषदों में और स्वधर्माचरण में तुम्हारी निष्कपट भक्ति रहे ॥ ६२ ॥ समस्त संसार को मोहित करने वाली, समस्त लोकों (भुवनों) की प्रधान कारणस्वरूपा, विशाल सृष्टि को भयभीत करने वाली, वैराग्यसम्बन्धी ज्ञान का तिरस्कार करने वाली, ब्रह्मा, इन्द्र आदि जिसका पार नहीं पा सकते, यमदूतों से अत्यन्त भयानक, सम्पूर्ण स्वधर्मों में बाधा करने वाली जो मेरी माया है, वही प्रबला है ॥ ६३ ॥ अतः उस माया से पार होने का

अतः प्रतिपदञ्च तत् तरणहेतुभूता मम
स्मृतिर्भवतु मारुते सकलभीतिविध्वंसिनी ।
ययैव सुरसत्तमा अपि भवाब्धिपारं गताः
स्वबोधसुखनिर्भराः परमगुश्च तन्मे पदम् ॥६४॥
श्रोतव्यं निखिलं श्रुतं मम मुखाद्भक्त्या त्वया मारुते
तत्सर्व्वं सफलं कुरुष्व मननाद्ध्यानाच्च तीव्रात्स्वयम् ।
एषा मे गुरुदक्षिणा प्रियतमा तत्त्वार्थसंवर्द्धिनी
नो चेदूषरबीजवापिन इव क्लेशाय मे मद्वचः ॥६५॥
स्नेहातिरेकादमलात्मबोधे
मयैवमाशङ्कितमन्यथा त्वम् ॥

कारण स्वरूप मेरा स्मरण पद पद पर करना चाहिये । हे मारुते ! यह मेरा स्मरण सब प्रकार के भयों का नाश कर देता है । इसी स्मरण से ही श्रेष्ठ देवगण भी भवसागर को पार कर, आत्म-ज्ञान के सुख से परिपूर्ण हो, मेरे उस सर्वोच्च पदको प्राप्त हुए हैं ॥ ६४ ॥ हे मारुते ! जो कुछ सुनने योग्य था, सो सब तुमने मेरे मुखसे भक्तिपूर्वक सुन लिया है । अब इस सब को तुम स्वयं मनन और तीव्र ध्यान (निदिध्यासन) के द्वारा सफल करो । यही तत्त्वार्थों के संवर्द्धन करने वाली मेरी अत्यन्त प्यारी गुरु-दक्षिणा है । ऐसा न होने से ऊषर भूमि में बीजारोपण करने वाले के समान मेरे वचन मेरे क्लेश के कारण होंगे ॥ ६५ ॥ स्नेह की अधिकता से तुम्हारे निर्मल आत्मज्ञानी होने के सम्बन्ध में मैंने

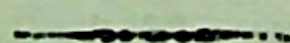
सर्व्वार्थविद्वानधुना तु धीमन्
मरुत्सुतासीति हि साधु मन्ये ॥ ६६ ॥

इति तत्त्वसारायण उपासनाकाण्डस्य द्वितीयपादे सर्ववेदरहस्यार्थासु श्रीरामगीतासूपनिषत्सु विद्यासन्ततिगुरुतत्त्वनिरूपणं नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥



ही इस प्रकार अन्यथा शङ्का की थी, परन्तु हे बुद्धिमान् वायुपुत्र ! अब मैं भली भांति समझता हूँ कि तुम सभी अर्थों (रहस्यों) के ज्ञाता हो ॥ ६६ ॥

इस प्रकार तत्त्वसारायण के अन्तर्गत उपासनाकाण्ड के द्वितीय पाद में कथित समस्त वेदों के अर्थों को प्रकाश करनेवाली श्रीरामगीता उपनिषद् का विद्यासन्तति गुरुतत्त्वनिरूपण नामक सत्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥



सर्वाध्यायसङ्गतिनिरूपणम् ।

हनूमानुवाच

भगवंस्त्वन्मुखाम्भोजाच्छ्रोतव्यमखिलं श्रुतम् ।
तथापि मे त्वदुक्तार्थशुश्रूषा जायते पुनः ॥१॥
तस्मात्त्वमुक्तपूर्व्वार्थसंगतीस्संग्रहेण मे ।
सकृत्स्मारय मन्नाथ धारणार्थं यथाक्रमम् ॥२॥

श्रीराम उवाच ।

वेदान्तेषु समस्तेषु तथा भागत्रयेऽपि च ।
अष्टोत्तरशतस्यादौ प्रामाण्यं मुख्यमीरितम् ॥३॥
अथ सच्चित्सुखानन्तब्रह्मज्ञानोदयात् परम् ।

हनुमान्जी बोले-हे भगवन् ! आपके मुखकमल से मैंने सुनने योग्य समस्त विषयों को सुन लिया है। तथापि आपके कहे हुए अर्थों को सुनने की मुझे पुनः इच्छा हुई है ॥ १ ॥ इस कारण हे मेरे नाथ ! पहिले कहे हुए शास्त्रीय रहस्यों की सङ्गति (क्रम-सम्बन्ध) का संक्षेप से एकबार मुझे स्मरण दिलाइये, जिससे उन्हें यथाक्रम मैं धारण कर सकूं अर्थात् चित्तमें रखसकूं ॥ २ ॥ श्रीरामचन्द्र जी ने कहाः—समस्त वेदान्तो में और (वेद के) तीनों भागों में सबसे पहिले अष्टोत्तरशत उपनिषदों का प्रधान-रूप से प्रामाण्य कहा गया है ॥ ३ ॥ फिर सच्चिदानन्दमय अनन्त ब्रह्म के ज्ञान का उदय होने के पश्चात् तादात्म्य (जीव और ब्रह्मकी एकता) अभ्यासरूपी योग साधन करना चाहिये ऐसा

तादात्म्याभ्यासयोगश्च कर्तव्य इति निश्चितम् ॥४॥
ततः प्रारब्धवज्जीवन्मुक्तलक्षणमीरितम् ।
पश्चाद्विदेहमुक्तस्य निष्प्रारब्धस्य लक्षणम् ॥५॥
वासनाक्षयविज्ञानमनोनाशादिकं ततः ।
सप्तभूमिविचारश्च प्रकृतस्तदनन्तरम् ॥ ६ ॥
अथ दृश्यानुविद्धादिषट्समाधिनिरूपणम् ।
अथ वर्णाश्रमाचारव्यवस्थापनमद्भुतम् ॥ ७ ॥
ततः सञ्चितपूर्वाणां विभागः कर्मणामथ ।
कर्मिभक्तज्ञानियोगिगुणत्रयनिरूपणम् ॥ ८ ॥
त्वदधैर्य्यनिमित्तात्मविश्वरूपप्रबोधनम् ।
तारकप्रणवस्याथ मात्राभेदनिरूपणम् ॥ ९ ॥

मेरा निश्चय है ॥ ४ ॥ अनन्तर प्रारब्धयुक्त जीवन्मुक्त का और तत्पश्चात् प्रारब्धरहित विदेहमुक्त का लक्षण कहा गया है ॥ ५ ॥ फिर वासनाक्षय और मनोनाश आदि और अनन्तर सप्तभूमियों का प्रकृत (यथार्थ) विचार कहा गया है ॥ ६ ॥ फिर दृश्यानु-विद्ध आदि छः प्रकार की समाधियों का निरूपण किया है पश्चात् वर्णाश्रम के आचारों के सम्बन्ध में अद्भुत व्यवस्था की गई है ॥ ७ ॥ फिर सञ्चित आदि कर्म्मों का विभाग तथा कर्मी, भक्त, ज्ञानी और योगी पुरुषों के गुणत्रयानुसार विभागों का निरूपण किया गया है ॥ ८ ॥ तुम्हारे अधैर्य का कारणस्वरूप अपने विश्वरूप का मैंने तुम्हें ज्ञान कराया, फिर तारक प्रणव की मात्राओं के भेदों का निरूपण किया ॥ ९ ॥ फिर चारों वेदों के

चतुर्वेदरहस्यार्थमहावाक्यार्थबोधनम् ।
ततश्च मूलाधारादिनवचक्रविवेचनम् ॥ १० ॥
अणिमाद्यष्टसिद्धीनां दूषणञ्च ततः परम् ।
विद्यासन्ततिविज्ञानगुरुतत्त्वावबोधनम् ॥ ११ ॥
एवं गीतामहाशास्त्रं मम ते कपिनायक ।
प्रोक्तं समस्तवेदान्तरहस्यार्थैकगर्भितम् ॥ १२ ॥
तीर्थक्षेत्रोत्सवभ्रान्तिर्नृणां स्यादधमाधमा ।
मन्त्राणां विविधानाञ्च चिन्ता स्यादधमा कपे ॥१३॥
द्वात्रिंशद्दशवेदान्तचिन्तनं मध्यमं भवेत् ।
अष्टोत्तरशतप्रोक्ततत्वचिन्तनमुत्तमम् ॥ १४ ॥

रहस्यार्थप्रकाशक महावाक्यों के अर्थों को समझाया, अनन्तर मूलाधार आदि नवचक्रों का विवेचन किया ॥ १० ॥ फिर अणिमादि आठ सिद्धियों के दोष (हेयता) और विद्यासन्तति का विज्ञान बताया गया तथा गुरुसम्बन्धी तत्त्वों को समझा दिया ॥ ११ ॥ हे कपिनायक ! इस प्रकार गीतारूपी महाशास्त्र मैंने तुम्हें सुनाया है। इसमें एकमात्र समस्त वेदान्त के रहस्यों का अर्थ गर्भित (भरा हुआ) है ॥ १२ ॥ तीर्थक्षेत्रों में या उत्सवों में भ्रमण करना, हे कपे ! मनुष्यों के लिये अधम से अधम है और विविध मन्त्रों का स्मरण (जप) करना अधम है ॥ १३ ॥ बत्तीस या दश वेदान्तों (उपनिषदों) का चिन्तन (मनन) मध्यम है और अष्टोत्तरशत (१८) उपनिषदों में कथित तत्त्वों का चिन्तन (मनन) करना उत्तम है ॥ १४ ॥ समस्त वेदान्त के

सर्ववेदान्तगूढार्थविशदीकरणक्षमे ।
अस्मिन्गीतामहाशास्त्रे चिन्तनं तूत्तमोत्तम् ॥१५॥
इयं गीता त्वया लब्धा गोपनीया प्रयत्नतः ।
अस्यां भक्तिविहीनस्य न किञ्चिद्वक्तुमर्हसि ॥१६॥
एवं श्रीरामवचनसुधाधारां भृशं पिबन् ।
हनूमान् वाष्पपूर्णाक्षः सगद्गदमुवाच ह ॥१७॥

हनूमानुवाच ।

श्रीराम मत्संसृतिजार्तिहारिन् ।
श्रीजानकीनाथ सरोजनेत्र ।

गूढ़ अर्थों का स्पष्टीकरण करने में समर्थ इस गीता महाशास्त्र का चिन्तन मनन करना तो उत्तमोत्तम है * ॥ १५ ॥ यह गीता तुमने प्राप्त करली है, उससे यत्न पूर्वक तुम गुप्त रक्खो । इसमें जिसकी भक्ति नहीं है, उससे इसके सम्बन्ध में कुछ न कहो ॥ १६ ॥ इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी के वचनरूपी सुधा की धारा का पूर्णरूपसे पान कर, श्रीहनूमान् जी आँखों में आँसू भर कर गद्गद होकर बोले ॥ १७ ॥ हनुमान् जी ने कहाः—संसार

* अधिकार भेद के कारण ऐसा कहा गया है । इससे अन्य शास्त्र और अन्य गीताओं की निन्दा नहीं समझना चाहिये । अधिकार भेद से एक शास्त्र मुख्य और अन्य शास्त्र गौण हो जाते हैं । जिस प्रकार विष्णूपासक के लिये विष्णुगीता प्रधान और अन्य गीताएँ अप्रधान हो जायँगी, जिस प्रकार शक्त उपासकके लिये शक्तिगीता प्रधान और अन्य गीताएँ अप्रधान हो जायँगी, जिस प्रकार शिवोपासक के लिये शम्भुगीता प्रधान और अन्य गीताएँ अप्रधान हो जायँगी, और जिस प्रकार गणपति उपासकके लिये धीशगीता प्रधान और अन्य गीताएँ अप्रधान हो जायँगी उसीप्रकार श्रीरामोपासक की भक्ति वृद्धिके लिये यह गीता प्रधान होने से ऐसा कहा गया है ।

श्रीमद्वसिष्ठादिमहर्षिसेव्य
श्रीनाथ मन्नाथ किमद्य वच्ये ॥१८॥
गीतामृतास्वादनमत्तचित्ते
वक्तव्यमद्य प्रतिभाति नो मे।
तथापि तेऽत्यद्भुततत्त्वनिष्ठा-
श्चिन्ताः प्रवृत्तौ त्वरयन्ति वाचम् ॥१९॥
गीताः श्रुता बह्वय इतः पुरस्ता-
च्छ्रीराम तत्त्वप्रतिपादयित्र्यः।
अस्यास्तु सर्व्वा अपि कोटिकोटि-
भागेन तुल्या इह नेति मन्ये ॥२०॥
श्रीरामगीतामृतपानतृप्तः

से उत्पन्न हुए मेरे दुःखों के हरने वाले हे श्रीरामजी! हे श्रीजानकी के प्राणेश्वर! हे कमलनेत्र! हे मेरे श्रीमद्वसिष्ठ आदि महर्षियों द्वारा सेवा करने योग्य! हे लक्ष्मीपते! हे मेरे स्वामी! आज मैं क्या कहूँ? ॥ १८ ॥ इस गीतारूपी अमृत के आस्वादन से आनन्दमग्न मेरे चित्त में अब कहने योग्य कुछ भी नहीं देख पड़ता। तो भी आपके अद्भुत तत्त्वों की चिन्ताएँ (विचार) कुछ कहने के लिये वाणी को प्रेरणा करती हैं ॥ १९ ॥ हे श्रीरामचन्द्रजी! तत्त्वों का प्रतिपादन करनेवाली अनेक गीताएँ मैंने इससे पहिले सुनी हैं, परन्तु वे सब इस संसार में इस गीता के करोड़ के भी करोड़वें अंश के समान नहीं हैं ऐसा मैं समझता हूँ ॥ ४० ॥ श्रीरामगीतारूपी अमृत के पान से तृप्त

तृणीकृतेन्द्रो विजरो विमृत्युः ।
अहं विशोको विजिघत्स एष
स्वस्थोऽपिपासोऽस्मि किमन्यदाप्यम् ॥२१॥
यद्भवं गन्धमात्रं वा न वासयसि मथ्यतः ।
भगवन्निति सम्बोधं मन्ये सार्थमहं प्रभो ॥२२॥
जन्मान्तरसहस्त्रेषु निष्कामसुकृतानि मे ।
यानि तेषामिमां गीतां राम मन्ये महत्फलम् ॥२३॥
तथा भवत्पदाम्भोजरेणुं धृत्वात्ममस्तके ।
दुस्तराम्भोनिधिस्तीर्णस्तथा च भववारिधिः ॥२४॥
पित्रा मर्कटजात्या च चपलत्वं सदा मम ।

होकर मैं इन्द्र को तृण के समान समझता हुआ जराहीन (अजर) मृत्युहीन (अमर) शोकहीन, जिघांसाहीन (अहिंसक) स्वस्थ और ज्ञानतृषा हीन होगया हूँ। अब मुझे और क्या पाना है ? अर्थात् सब पा लिया है ॥ २१ ॥ जब कि ज्ञान से उत्पन्न गन्ध भी मुझसे आप नहीं हटाते हैं, तब हे प्रभो ! मैं 'भगवन्' यह सम्बोधन सार्थक समझता हूँ ॥ २२ ॥ सहस्रों जन्मों मे निष्कामभाव से मैंने जो पुण्य किये हैं, हे रामजी ! उनका महत्फल स्वरूप मैं इस रामगीता को समझता हूँ ॥ २३ ॥ जिस प्रकार आपके चरणककमलों की रेणुको अपने शिर पर चढ़ाकर मैं दुस्तर महासागर को लांघ गया था, उसी प्रकार अब मैं संसारसागर को भी पार करचुका हूँ ॥ २४ ॥ मेरे पिता वायुदेव होनेसे और मर्कट जाति में मेरा जन्म होनेसे, मैं निरन्तर चञ्चल रहा करता

तत्सर्व्वञ्च व्यपोह्याशु नैश्चल्यमकरोरहो ॥२५॥
किमत्र वहुनोक्तेन धन्य एवास्मि राघव।
तथापि न भवेद्येन कृतज्ञत्वच्युतिर्मम ॥२६॥
सद्गुरो प्रार्थयाम्यद्य तदवाजस्रचिन्तनम्।
चतुर्मुखसुरेन्द्रादिनतयोस्त्वत्पदाब्जयोः ॥२७॥
एवं हनूमता प्रोक्तः श्रीरामः करुणानिधिः।
प्रोवाच सस्मितं वाक्यं स्निग्धं सूक्ष्मार्थगर्भितम्॥२८॥

श्रीराम उवाच।

मे भक्ता अभवँस्तथैव बहवः शिष्याश्च पूर्वं कपे
तेष्वेकोऽपि मया न दृष्ट इह यल्लोके क्वचित्त्वादृशः।
तद्वेदान्तरहस्यगर्भितमहागीतोपदेशार्हताम्

था। अहो! आपने मेरी वह सब चञ्चलता शीघ्र दूर कर मुझे निश्चल (शान्त) बना दिया ॥ २५ ॥ हे रामचन्द्रजी! यहां अधिक क्या कहा जाय, मैं धन्य हूँ। तो भी जिससे मेरी कृतज्ञता बुद्धि की हानि न हो, हे सद्गुरो! ब्रह्मा, इन्द्र आदि आप के जिन चरणकमलों का वन्दन करते हैं, ऐसे उन चरणों का मैं निरन्तर चिन्तन करता रहूँ, यही अब मेरी प्रार्थना है ॥२६ ॥२७॥ इस प्रकार हनूमान् जी के कहने पर करुणानिधि श्रीरामचन्द्र जी ने किंचित् हँस कर सूक्ष्मार्थगर्भित (युक्त) निम्न लिखित प्रकार का मृदु वचन कहाः-- ॥ २८ ॥ श्रीरामचन्द्र जी बोलेः-- हे हनूमान्! मेरे अनेक भक्त और शिष्य पहिले हो चुके हैं किन्तु इस लोक में उनमें तुम जैसा मैंने एक भी नहीं देखा। इसलिये

मत्वा केवलमेव ते निगदिता गोप्या त्वया यत्नतः॥२९॥
आत्मानंस्वरणिंविधाय सकलानीशादिमुक्त्यन्तिमान्
वेदान्तानपि चोत्तरारणिमयं जातस्तु गीतानलः।
सत्तर्कोन्मथनात्त्वदार्तिसमिधं दग्ध्वा ज्वलंस्ते हृदि
त्वद्वाग्भूय समस्तसज्जनभवारण्यं दहत्वाश्रितम् ॥३०॥
शिष्टाशिष्टसुरासुरैर्मथनतो वेदान्तदुग्धोदधौ
चिन्तावासुकिबुद्धिमन्दरगिरेः दुश्शास्त्रहालाहलम्।

वेदान्त के रहस्यों से भरे हुए इस महान् गीतारूपी उपदेश के योग्य केवल तुम्हीं को जान कर यह मैंने तुमसे कही है, इसे यत्नपूर्वक तुम गुप्त रक्खो ॥ २९ ॥ आत्मा को श्रेष्ठ अरणि बनाकर और 'ईशोपनिषद्' से लेकर 'मुक्तिकोपनिषद्' पर्यन्त सब उपनिषदों को भी उत्तर अरणि * रूप बनाकर उत्तम कर्करूपी मथन के द्वारा जो गीतारूपी अग्नि उत्पन्न हुआ है वह तुम्हारे दुःखरूपी समिधाओं को जलाकर तुम्हारे हृदय में जाज्वल्यमान होता हुआ तुम्हारी वाणीरूप हो कर समस्त सज्जनों के भव (संसार) रूपी अरण्य का—जिसका कि उन्होंने आश्रय किया है—दाह करे ॥ ३० ॥ शिष्ट और अशिष्ट रूपी देवता और असुरों * के द्वारा चिन्तारूपी वासुकि और बुद्धि-

* यज्ञमें पवित्र अग्नि लकड़ी से निकलाने के लिये जो दो प्रकारकी लकड़ी होती है उन्हीं के ये नाम हैं।

* प्रत्येक ब्रह्माण्डमें चौदह भुवन होते हैं। उनमेंसे ऊपरके सात भुवनोंमें देवता बसते हैं और नीचेके सात भुवनोंमें असुर बसते हैं। ऊपर के सात लोक सात्त्विक होनेसे देवता लोग शिष्ट और नीचे के सात लोक तामसिक होने से असुर लोग अशिष्ट कहाते हैं। हमारा यह मृत्यु लोक उनमें से एक भूलोक का एक चौथाई हिस्सा है।

पीत्वा जातमहं त्रिनेत्र उमया युक्तोऽचिरात्सीतया
मद्गीतामृतमेतदस्मि भवते दत्त्वा सुरेभ्यः सुखी ॥३१॥
मद्गीतामृतमागलं पिबति यः तस्यान्यशास्त्रैः फलम्
किं वा देशिकदेवतान्तरनतिस्तोत्रादिभिः पूजनैः।
किं दुग्धोदधिजामृतेन सुतरां पीतेन वा मारुते
देवानामुपचर्य्यते ह्यमरता नो पीतगीतस्य तु ॥३२॥
पीतगीतामृतस्त्वन्तु चिरजीवित्वमेष्यसि।
न चासुरकृता पीडा भविष्यति तवानघ ॥ ३३ ॥
हनूमन्नावयोरेतं सुसंवादसुधारसम्।

रूपी मन्दराचल के सहारेसे वेदान्तरूपी क्षीरसागर में मंथन करने पर जो दुःशास्त्ररूपी हालाहल (घोरतरविष) निकला उसे पीकर उमारूपी सीता के साथ होने से मैं तत्काल त्रिनेत्र अर्थात् शङ्कर होगया हूँ और मेरे इस गीतारूपी अमृत को देवतारूप तुमको देकर मैं सुखी हुआ हूँ ॥ ३१ ॥ जिसने मेरे गीतारूपी अमृत का आकण्ठ पान किया है उसे अन्य शास्त्रों के पढ़ने से क्या फल है ? अथवा गुरु और अन्य देवताओं का मनन, स्तोत्र पाठादि और पूजन से ही क्या लाभ है ? वा क्षीर समुद्र से उत्पन्न हुए अमृत के बहुत पान करलेने से ही क्या फल है ? हे मारुते ! देवताओं की अमरता उपचारमात्र ही है अर्थात् वास्तविकी नहीं है किन्तु गीतामृत पान करनेवाले की अमरता उपचारमात्र नहीं है वास्तविकी है ॥ ३२ ॥ हे निष्पाप ! तुमने तो गीतामृत का पान किया है अतः तुम चिरजीवित्व को प्राप्त होगे (अमर रहोगे) और असुरों द्वारा की हुई पीड़ा तुम्हें कभी न होगी ॥ ३३ ॥ हे हनूमान् ! हम दोनों के इस श्रेष्ठ संवादरूपी सुधा के रसका जो

कर्णाभ्यामादरेणैव ये पिवन्ति नरोत्तमाः ॥३४॥
येऽत्रत्याध्यायमेकं वा श्लोकं श्लोकार्द्धमेव वा ।
पठन्ति नित्यं नियमादहं तन्मोत्तलग्नकः ॥३५॥
सर्व्वलत्तणयुक्तेन त्वया प्रीतो हि मद्गुरुः ।
एवं कदा त्वच्छिष्येण भविष्याम्यञ्जनासुत ॥३६॥
इत्युक्त्वा भगवान् रामः शिष्यं तं पवनात्मजम् ।
आलिलिङ्गे स्वयं वेगादश्रुपूर्णाचिपङ्कजः ॥३७॥

इति तत्त्वसारायण उपासनाकाण्डस्य द्वितीयपादे सर्ववेद-रहस्यर्थासु श्रीरामगीतासूपनिषत्सु सर्वाध्यायसङ्गति-निरूपणंनाम अष्टादशोऽध्यायः ॥

समाप्तेयं श्रीरामगीता ॥

श्रेष्ठ पुरुष श्रवणों के द्वारा आदर के साथ ही पान करेंगे और जो इसका एक अध्याय, एक श्लोक या आधा ही श्लोक प्रति दिन, नियमपूर्वक पढ़ेंगे उनके मोक्ष का मैं जिम्मा लेता हूँ ॥ ३४-३५ ॥ सर्व लक्षणों से युक्त तुमसे मेरे गुरु प्रसन्न हुए हैं। इसी प्रकार हे अञ्जनीपुत्र! तुम्हारे शिष्य से मैं कब प्रसन्न होऊँगा? ॥ ३६ ॥ यह कहकर भगवान् श्रीरामचन्द्र ने उस शिष्य पवननन्दन को नेत्रकमलों में आँसू भरकर स्वयं सहसा आलिङ्गन किया ॥ ३७ ॥

इस प्रकार तत्त्वसारायण के अन्तर्गत उपासनाकण्ड के द्वितीय पाद में कथित समस्त वेदों के अर्थों को प्रकाश करनेवाली श्रीरामगीता उपनिषद् का सर्वाध्यायसङ्गतिनिरूपण नामक अठारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

यह श्रीरामगीता समाप्त हुई ॥ श्रीरस्तु ॥